भारतवर्ष का इतिहास

प्राचीन भारत

(हिन्दू काल)

मूल लेखक

सी० एस० श्रीनिवासाचारी एम० ए०

तथा

एम० एस० रामस्वामी अयंगर एम० ए०

सम्पादक

गोरखनाथ चौबे एम० ए०

रजिस्ट्रार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

—:०:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण]　　१९४८　　[मूल्य ५)

प्रस्तावना

'प्राचीन भारत' यद्यपि एफ० ए० के विद्यार्थी के लिये लिखा गया है परन्तु इसकी उपयोगिता भारतीय इतिहास के सभी प्रेमियों को एक सी है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से पुस्तक अपने क्षेत्र में बेजोड़ है। इतिहास की व्यापक धाराओं का समतुलन जिस वैज्ञानिक और विद्वत्ता-पूर्ण ढंग से किया गया है वह लेखकों के अथक परिश्रम का ही परिणाम है। हिन्दी के प्रस्तुत अनुवाद से भारतीय विद्यार्थियों में इसकी उपयोगिता और भी अधिक होगी।

जिस रूप में संसार के अन्य देशों के इतिहास आज उपलब्ध हैं, वह रूप भारतीय इतिहास में सम्भव नहीं है। प्राचीन भारत के इतिहास में तो वह सर्वथा असम्भव है। हमारे देश में इतिहास लिखने की परम्परा कभी नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थों में विद्वता का जो अभास मिलता है वह ऐतिहासिक क्षेत्र में शून्य है। इसका कारण विद्वानों की कमी नहीं है, बल्कि इसकी परम्परा का अभाव है। जहाँ विद्वानों के काव्य-ग्रन्थों में प्रकृति-वर्णन को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया है वहाँ इतिहास के क्षेत्र में एक वाक्य भी नहीं देते। जान पड़ता है कि इतिहास लिखना विद्वत्ता का अपमान करना था। इसीलिये कोई विद्वान् इस दिशा में कलम तक नहीं उठाता। श्रुति और स्मृति ग्रन्थों में जो सामग्री पाई जाती है वह आधुनिक इतिहासकारों के लिये अमूल्य है। इनमें सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है, जो इतिहास का मूल तत्व है। तिथि और नामावली का क्रम इतिहास की उपयोगिता को अधिक नहीं बढ़ाता। मूल्य उन घटनाओं का है जिनसे सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते हैं। यही कारण है कि वर्तमान इतिहासज्ञ इतिहास को एक नवीन रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

प्राचीन भारत के इतिहास में एक और भी कठिनाई है। उत्तरी और दक्षिणी-भारत की राजनीतिक एकता का कोई क्रम नहीं मिलता। स्वयं उत्तरी-भारत में छोटे-छोटे अनेक राज्य समय-समय पर स्थापित किये गये हैं, जिनकी अलग-अलग सत्ता और विशेषता रही है। इन सबका एकीकरण करना आधुनिक इतिहास-कारों के लिये एक कठिन समस्या है। तिथियों का कार्यक्रम, अन्धकार युगों

का वर्णन तथा प्राचीन विद्वानों का दृष्टिकोण इस मार्ग में और भी कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। पुरातत्ववेत्ताओं को अन्वेषण कार्य में इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी लिये प्राचीन भारत का इतिहास अभी तक अपूर्ण है।

इन त्रुटियों के होते हुये भी प्राचीन भारत का इतिहास अन्य देशों के इतिहास से ऊँचा है। इसका कारण इस देश की प्राचीन संस्कृति है जिसकी विशेषता किसी से छिपी नहीं है। समाज की वास्तविक स्थिति का वर्णन इतिहास का प्रमुख ध्येय है। जो समाज जितना ही सभ्य और सुसंस्कृत है उसका इतिहास भी उतना ही ऊँचा होगा अर्थात् इतिहास का मूल्य घटनाओं और तिथियों से बढ़कर समाज के नैतिक और आध्यात्मिक वर्णन पर निर्भर है। इसमें विद्वानों की कुशलता उतनी नहीं कार्य करती जितनी की समाज की वास्तविक ऊँची स्थिति करती है। एक सुयोग्य इतिहासकार किसी पतित जाति के जीवन का ऊँचा वर्णन नहीं कर सकता परन्तु एक साधारण इतिहासकार किसी ऊँचे समाज के थोड़े वर्णन को देश-देशान्तरों में फैला सकता है। प्राचीन भारत का इतिहास इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिये। उससे मानव जीवन की वह ज्योति दिखाई पड़ती है जिसके प्रकाश में आज भी संसार अपना उचित मार्ग ग्रहण कर सकता है। सामग्रियों के अभाव से भी हमारा प्राचीन इतिहास संस्कृति का ज्योति-स्तम्भ है।

विद्यार्थी तथा अन्य पाठक गण प्राचीन भारत के इतिहास को मानव विकास के ध्येय से अध्ययन करें। इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन किया गया है। हम अपनी वर्तमान स्थिति पर पश्चाताप करने के बजाय अपने भविष्य निर्माण का ही चिन्तन करें। परन्तु यह कार्य संसार के अन्य देशों की नकल से न हो। हमारे पास उन्नति की सम्पूर्ण सामग्री सदियों से संचित है। जब हम प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन करेंगे तो हमारा आत्म विश्वास और भी दृढ़ होगा। हमारी मानसिक शक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करेंगी, और हमारा समाज-निर्माण न केवल अपने लिये बल्कि अन्य देश वासियों को भी उन्नति का पथ प्रदर्शक होगा।

प्रयाग
२०—७—४८

गोरखनाथ चौबे

विषय-सूची

परिच्छेद	विषय	पृष्ठ

परिच्छेद	विषय	पृष्ठ
	(२) प्रारम्भिक चालुक्य और राष्ट्रकूट	३०६
	(३) कल्याणी के परवर्ती चालुक्य	३१६
१४—दक्षिण भारत का इतिहास (१)		३३५—३६२
	(१) प्रारम्भिक तामिल नरेश, तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था	३३५
	(२) पल्लव और उनका काल	३४५
१५—दक्षिण भारत का इतिहास (२)		३६३—४०८
	(१) प्रारंभिक चोल और पांड्य	३६३
	(२) तंजोर का विजयालय वंश	३७१
	(३) चेरा और मध्यकालीन पांड्य	३९१
	(४) होयसाल-पूर्वी चालुक्य और काकातीय	३९९
१६—दक्षिणी भारत-द्रविड़ों की संस्कृति और संस्थाएँ		४०९—४३३
	(१) सामाजिक और आर्थिक स्थिति	४०९
	(२) साहित्य	४२०
	(३) धार्मिक विकास	४२६
परिशिष्ट		४३५—४४८

प्राचीन भारत

पहला परिच्छेद

भारत की प्राकृतिक स्थिति और देश के इतिहास पर इसका प्रभाव

उत्तर में हमारा देश हिमालय पर्वत की शक्तिशाली भुजाओं से सुरक्षित है। दक्षिण में इसके चरण सागर की लहरें पखारती हैं। हमारा यह विस्तृत देश बहुत बड़े भू-भाग में फैला हुआ है। इसका आकार तिकोना से अधिक सम-चतुर्भुज के समान है। लेकिन इस चतुर्भुज के कोण विषम हैं और इसका दक्षिणी भाग, नोकीला होकर, भारतीय सागर तक चला गया है। इसकी उत्तर-पूर्वी सीमा बंगाल की खाड़ी के शिरोभाग से शुरू होकर काश्मीर के उत्तर-पश्चिमी छोर तक चली गई है। उत्तर-पश्चिमी सीमा काश्मीर से इन्दस (सिंध) के दहाने तक चली गई है। इसके दक्षिण-पश्चिम में, कराची से कुमारी अंतरीप तक, अरब सागर की तट-रेखा है। दक्षिण-पूर्व में, कुमारी अन्तरीप से गंगा और ब्रह्मपुत्र के दहाने तक, समुद्र-तट फैला हुआ है।

प्रायद्वीपीय भारत

देश के प्रायद्वीपीय भाग के पश्चिम में अरब सागर लहरें मारता है और इसके पूर्व में बंगाल की खाड़ी है। कुमारी अन्तरीप में

इन दोनों का—अरब सागर और बंगाल की खाड़ी का—संगम है। कुमारी अन्तरीप भूमध्य-रेखा से आठ डिग्री के अन्तर पर स्थित है और देश के दक्षिणी छोर को सूचित करती है। समूचा प्रायद्वीपीय भाग उष्ण कटिबंध में स्थित है। इसका भीतरी भाग, अधिकांशतः, निम्नस्तर का पठार है जो दक्षिणी पठार कहलाता है। यह पश्चिम में ऊँचे पश्चिमी घाटों और पूर्व में निम्न पूर्वी घाटों से घिरा हुआ है। ये दोनों घाट नीलगिरि की पहाड़ियों में जाकर विलीन हो जाते हैं। नीलगिरि की पहाड़ियों में सब से ऊँची चोटी दोदबेत्ता है, जो ८६४० फुट ऊँची है। इन पहाड़ियों के उत्तर में मैसूर के पठार का सब से ऊँचा भाग स्थित है। कुर्ग से निकल कर कावेरी नदी मैसूर के इसी ऊँचे पठार से होकर बहती है। नीलगिरि की इन पहाड़ियों के दक्षिण में सुप्रसिद्ध पालघाट का दर्रा है। इस दर्रे से होकर रेल चलती है जो पूर्वी और पश्चिमी तट से सम्बन्ध जोड़ती है।

पश्चिमी तट-प्रदेश

कैम्बे की खाड़ी से, पश्चिमी तट-रेखा के साथ-साथ, अरब सागर और घाटों के बीच, भूमि की एक तंग पट्टी चली गई है। इस तटवर्ती भू-भाग में मानसूनी हवाएँ पूरी शक्ति के साथ बहती हैं और पश्चिमी घाटों से टकराकर भरपूर वर्षा करती हैं। इससे यह भूमि साधारणतया नम रहती है। इस उपजाऊ भूमि में चावल अधिक होता है। प्राचीन काल में इस तट से मिश्र, बेबीलोनिया, अरब और मध्य सागर में स्थित प्रदेशों के बीच खूब व्यापार होता था। तट पर अनेक अच्छे बन्दरगाह और नगर स्थित हैं। इसके उत्तर में कोंकण और दक्षिण में मालाबार के प्रसिद्ध तट हैं। सूरत, कोचीन और कालीकट के बन्दरगाह, प्राचीन काल में विशेष प्रसिद्ध थे। तट पर स्थित प्रमुख नगर, सहज ही, बन्दरगाह का स्थान ग्रहण कर लेते थे। लेकिन आज उनका वह महत्व नहीं रहा जो प्राचीन काल में उन्हें प्राप्त था। इनमें बम्बई और कोचीन का बड़ा और प्राकृतिक बन्दरगाह भी सम्मिलित है जिसे फिर से निर्माण कर एक महान् बन्दरगाह के रूप में परिवर्तित किया गया है।

पहला परिच्छेद

पूर्वी तटवर्ती प्रदेश

पश्चिम की तरह पूर्व में भी एक तटवर्ती भू-प्रदेश चला गया है, जो गंगा के डेल्टा से शुरू होकर कुमारी अन्तरीप और पूर्वी घाटों के भीतरी टूटे हुए भू-भाग तक फैला हुआ है। यह तटवर्ती भू-भाग, पश्चिमी भाग की अपेक्षा, कहीं अधिक चौड़ा है और इसमें कई बड़ी नदियाँ—महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी—बहती हैं। इनके अलावा कई छोटी नदियाँ भी इसमें हैं, जो दक्षिणी पठार के पानी को अपने साथ बहा कर लाती हैं। महानदी के डेल्टा में वे सब गुण विद्यमान हैं, जो गंगा के डेल्टा में पाए जाते हैं। गोदावरी इन सबसे महत्वपूर्ण है और दक्षिण के समूचे पठार के पानी को अपने साथ बहाकर लाती है।

गोदावरी का वैभव वास्तव में उसके डेल्टा से आरम्भ होता है। भारत में आबपाशी की अब तक जितनी भी प्रणालियाँ चालू की गई हैं, उनमें गोदावरी के डेल्टा की योजना सबसे विकसित और उच्च कोटि की है और सब से अधिक सफल हुई है। कृष्णा नदी उत्तर से भीम नदी और दक्षिण पश्चिम से तुङ्गभद्रा का पानी बहाकर लाती है। इसकी तलहटी इतनी उथली है कि इससे सिंचाई का काम नहीं लिया जा सकता। पानी का भी इसमें बाहुल्य नहीं होता। कावेरी नदी मैसूर पठार के दक्षिण-पश्चिमी भाग और कर्नाटक की भूमि पर से बहकर आती है। इसके पानी का अधिकांश इसके डेल्टा को उपजाऊ बनाने में ही खर्च हो जाता है। इसका डेल्टा त्रिचनापली के पूर्व में समुद्र तक फैला हुआ है और इस क्षेत्र में इतनी हरियाली रहती है कि इसे 'दक्षिणी भारत का उपवन' कहा जाता है। यह नाम इसके लिए सर्वथा उपयुक्त है। इसका दक्षिणी भाग प्राचीन काल में कारो-मण्डल कहलाता था।

कर्नाटक

मद्रास के दक्षिण का प्रदेश कर्नाटक के नाम से प्रसिद्ध है। यह साधारणतया खुश्क रहता है, लेकिन उत्तर-पूर्वी मानसून के कारण वर्ष के कुछ महीनों में यहाँ काफी वर्षा हो जाती है। सिंचाई के लिए कृत्रिम साधनों—नहर, तालाब आदि—का सहारा लिया

जाता है और यहाँ की घनी आबादी के लिए पर्याप्त अन्न—विशेष-कर चावल—उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन काल में इस तट पर अनेक अच्छे बन्दरगाह थे। आज उनमें से कई, मसुलिपट्टम की तरह, बालू और मिट्टी के बाहुल्य के कारण काम-योग्य नहीं रह गए। इस तट के निकट का पानी उथला है और समुद्री फेन से आन्दोलित रहता है। इसलिए तट से कई मील दूर जहाज़ लंगर डालते हैं। एक कृत्रिम बन्दरगाह आज मद्रास में बना हुआ है और एक दूसरा विजगापट्टम में तैयार किया गया है।

दक्षिण का पठार

दक्षिण का विस्तृत पठार आकार में त्रिकोण है। इसका शिरो-भाग दक्षिणोन्मुखी है। खेती की दृष्टि से यह अधिक उपजाऊ नहीं है। ऊँचे पश्चिमी घाटों से निकल कर पूर्व की ओर बहने वाली नदियाँ इस पर से बहती हैं और पूर्वी घाटों में दर्रे काटती हुई आगे बढ़ जाती हैं। इन नदियों की घाटियाँ काफी उपजाऊ हैं और उनकी काली मिट्टी कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ के निवासी कपास की खेती करते हैं, कपास से ही कपड़े बिनते हैं और उन्हीं को पहनते हैं। इस प्रकार चिरकाल से वे कपासमय जीवन बिताते चले आ रहे हैं। दक्षिण में खाद्य पदार्थों की उपज कम होती है, इसलिए गाँव और नगरों की संख्या कम है और उनकी आबादी घनी नहीं है।

विंध्य की पर्वतमाला

दक्षिणी पठार के उत्तर में अनेक पर्वतमालाओं की एक पंक्ति है जो, मोटे रूप में, दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर, बंगाल की राजमहल पर्वतमाला से गंगा की घाटी तक, फैली हुई है। पवित्र नर्मदा नदी के दोनों ओर, जो ताप्ती के साथ-साथ बढ़ कर अरब सागर में मिल जाती है, विंध्य और सतपुड़ा की पर्वतमालाएँ चली गई हैं। इन पर्वतमालाओं की ऊँचाई, जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं, कम होती जाती है और अन्त में उड़ीसा तथा छोटा नागपुर की ऊँची भूमि में घुल-मिल जाती है।

ताप्ती और नर्मदा अपने मुहाने पर, कम्बोद की छिछली खाड़ी में, विस्तृत कछार की रचना करती हैं। दक्षिण के पठार का प्रारम्भ, वास्तव में, ताप्ती के दक्षिणी छोर से होता है। नर्मदा का प्रदेश हिन्दुस्तान को दक्षिण से अलग करता है। यह नदी बहुत पवित्र मानी जाती है और अमरकण्टक, जहाँ से यह नदी निकलती है, भारत के पवित्रतम स्थानों में गिना जाता है।

मध्य भारत का दक्षिणी पहाड़ी प्रदेश जिसकी परिणति विंध्य पर्वतमाला में होती है और मध्य प्रान्त के उत्तर का पहाड़ी प्रदेश जो सतपुड़ा की पर्वतमालाओं में परिणत हो जाता है—ये दोनों नर्मदा प्रदेश के दो अर्द्ध भाग हैं। आदि निवासियों की जंगली जातियाँ इन प्रदेशों में रहती हैं। इन जंगली जातियों पर, अभी तक, हिन्दू धर्म या सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। प्राचीन काल में इन दुर्गम पहाड़ों और जंगलों से घिरे इस प्रदेश को पार करना कठिन था। इसलिए उत्तरी और दक्षिणी भारतवर्ष में दो मार्ग दोनों तटवर्ती प्रदेशों से होकर जाते थे और तीसरा समुद्र द्वारा। मार्ग की इस दुर्गमता को ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि इस कठिनाई के कारण ही उत्तरी भारत और दक्षिणी प्रायद्वीप के राज्यों और इतिहास का विकास एक-दूसरे से अलग स्वतंत्र रूप में हुआ था।

गंगा का प्रदेश

हिन्दुस्तान की विस्तृत समभूमि, जो प्राचीन काल में आर्यावर्त कहलाती थी, दो महान् नदियाँ गंगा और सिंध की गोद में फैली हुई है। अनेक दृष्टियों से यह समभूमि भारत के लिए विशेष महत्व रखती है। उन्नतिशील राज्य, सभ्यता और व्यवसाय के केन्द्र तथा वैभवशाली नगर इसी प्रदेश में स्थापित हुए हैं। विस्तृत समभूमि का यह प्रदेश, केवल अरावली की कम ऊँची पहाड़ियों को छोड़ कर जो राजपूताना को दो विषम भागों में विभाजित करती हैं, गंगा के डेल्टा से लेकर सिंधु तक फैला हुआ है। गंगा और उसकी महान् सहायक नदियाँ—यमुना, गण्डक और गोगरा (घाघरा), हिमालय के दक्षिणी ढाल से होकर शिमला के पूर्वी प्रदेश को पार कर, वैभव और उर्वरता का दान देती हुई,

युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल की समभूमि पर बहती हैं। अपने केन्द्र से निकल कर गंगा जहाँ कहीं बहती है, सब जगह पवित्र मानी जाती है। हरिद्वार, जहाँ से गंगा की समतल भूमि की यात्रा शुरू होती है; तीर्थ स्थान बन गया है। हिमालय को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और इसका प्रमुख कारण गंगा का उद्गम स्थान है। इलाहाबाद में जहाँ सहायक नदी यमुना का, जो प्रायः गंगा के समान ही पवित्र मानी जाती है, गंगा से संगम होता है। इसी लिए यह स्थान प्रयाग, हिन्दू तीर्थों में अग्रणी, (तीर्थराज) कहा जाता है।

प्रमुख नगर

दिल्ली, जो चिरकाल तक भारत की राजधानी रही है और आगरा जो मुगल सम्राटों का प्रिय नगर रहा है, यमुना के तट पर स्थित हैं। घना बसा हुआ लखनऊ, जिसे अवध की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त है, गंगा की एक सहायक नदी गोमती के तट पर स्थित है। कानपुर, जो हिन्दुस्तान का प्रमुख व्यावसायिक नगर है, बनारस जिसे हिन्दुस्तान का पवित्र नगर होने का गौरव प्राप्त है, सारनाथ जो बौद्धों का तीर्थ स्थान है और बनारस के उत्तर में तीन मील की दूरी पर ही स्थित है, पटना जो कभी पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात था और प्राचीन काल में जो शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्यों की राजधानी था,—ये सब गंगा के तट पर स्थित हैं। पटना के दक्षिण में, साठ मील की दूरी पर, छोटा नागपुर की पहाड़ियों को छूता हुआ गया नामक नगर है जो हिन्दू और बौद्ध दोनों का तीर्थ स्थान है। इस प्रकार गंगा ने समतल और उपजाऊ भूमि की ही रचना नहीं की है, बल्कि वह बंगाल की खाड़ी से लेकर उत्तर-पश्चिमी सीमा तक भारतीय राष्ट्र के लिए राजमार्ग के निर्माण का भी साधन बनी है।

गंगा का डेल्टा और दक्षिणी बंगाल

यमुना की एक शाखा चम्बल नदी के रूप में फूटकर निकली है, जो मध्य भारत की ढालुवाँ भूमि को सींचती है। गंगा बंगाल

पहुँच कर कितनी ही शाखाओं में बँट जाती है और फिर इन शाखाओं से अनेक उपशाखाएँ फूटती हैं। इन्हीं में एक प्रमुख शाखा हुगली कहलाती है। इसके पूर्वी तट पर कलकत्ता स्थित है, जो १९१२ तक भारत की राजधानी था और आज भी इस देश के नगरों में सब से बड़ा है।

दक्षिणी बंगाल गंगा और डेल्टा के प्रदेशों से मिल कर बना है। ब्रह्मपुत्र नदी हिमालय के उत्तरी भाग, मानसरोवर नाम की पवित्र झील के पास से निकल कर, पूर्वी तिब्बत में से बहती हुई, हिमालय के पूर्वी पक्ष की ओर से घूम कर आसाम की भूमि को पार कर अन्त में खसिया पहाड़ियों के पश्चिमी पक्ष की राह पकड़ती है। कुछ दूर तक दक्षिण दिशा की ओर बहकर यह सूरमा नदी से और अन्त में गंगा से जा मिलती है। ये तीनों नदियाँ मिल कर बृहत् रूप धारण कर लेती हैं और मिलने के बाद मेघना नाम से सम्बोधित होती हैं, जो समुद्र में गिरती है।

सुन्दर वन

आसाम आज कल चाय की पैदावार के लिए प्रसिद्ध है। दक्षिणी बंगाल चावल के खेतों का विस्तृत समूह है और इसकी बस्तियाँ बाँस और नारियल के वृक्षों के बीच बसी हुई हैं। समुद्र के निकट का डेल्टा प्रदेश सुन्दर वन कहलाता है और दलदल तथा जंगलों से घिरा हुआ है। नदियों द्वारा लाया गया बालू जमा होकर यहाँ की भूमि के स्तर में नित्य परिवर्तन और समुद्र में टीलों की रचना करता रहता है।

मानसून की हवाएँ बंगाल की खाड़ी पर से होती हुई, हिन्दुस्तान की भूमि को तेजी के साथ पार करतीं, हिमालय से टकरा कर पश्चिम की ओर चल देती हैं। इस सुदीर्घ यात्रा में उनकी तेजी उत्तरोत्तर कम होती जाती है। हिन्दुस्तान की भूमि का सपाट रूप नदियों की गति को धीमा कर देता है, फलतः सिंचाई के लिए उनके पानी का उपयोग आसानी के साथ किया जा सकता है। नौका और स्टीमरों के द्वारा यात्रा करने में ये नदियाँ बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। समतल भूमि का जो पूर्वी अर्द्ध भाग है उसमें पश्चिमी भाग की अपेक्षा वर्षा अधिक होती है। पश्चिमी भाग का

अधिकांश थार और सिंध के रेगिस्तानों में समाप्त हो जाता है। थार अरावली की पहाड़ियों के पश्चिम में स्थित है और पश्चिम की ओर कच्छ के रण तक चला गया है। इस रेगिस्तानी प्रदेश का देश के इतिहास में बहुत बड़ा भाग रहा है। आज के राजपूत, जो कुछ भी वे हैं, इसी रेगिस्तान की देन हैं।

सिंधु का प्रदेश

इस रेगिस्तानी प्रदेश के पश्चिम में सिंधु नदी का प्रदेश है। हिमालय से निकल कर यह नदी उत्तर-पश्चिमी दिशा में पहाड़ों और फिर दक्षिण की ओर संसार के सब से बड़े दर्रे में से बह कर, मैदान में उतर आती है। पंजाब और सिंध के सूखे और गर्म प्रदेश में से, जहाँ वर्षा का कभी कोई भरोसा नहीं होता, बहकर समुद्र में मिल जाती है। यही कारण है कि सिंधु और गंगा के प्रदेश में इतनी भिन्नता है। सिंधु के पूर्व में पंजाब की जितनी नदियाँ हैं, पहाड़ की गोद छोड़ने के बाद, कछार की भूमि में बहती हैं। यह नदी अटक से चट्टानी भूमि में बहती है और फिर कछार की विस्तृत भूमि में फैल जाती है। इसकी प्रमुख धारा आज जिस क्षेत्र में बहती है, उसके पूर्व का डेल्टा प्रदेश प्राचीन काल के नदी मार्गों के चिह्नों से आक्रान्त है। इन नदी मार्गों में एक तो ऐसा है जो प्रागैतिहासिक काल में किसी स्वतंत्र नदी का भाग था। हिन्दिया नाम भी इसी सिंधु नदी से लिया गया है क्योंकि इसका प्रदेश, प्राचीन काल में, फारस के साम्राज्य का एक अंग होने के कारण प्राचीन ग्रीस के निवासियों में अच्छी तरह परिचित था। सिंधु को वे इन्दस कहते थे और इसी के आधार पर उन्होंने समूचे देश का नाम इन्डिया रख दिया था।

शिमला, जो गर्मियों में वायसराय और गवर्नर जेनरल की राजधानी बनता रहा है, गंगा और सिंधु के ऊपरी डेल्टा की गोद में, हिमालय की पहाड़ियों में, बसा हुआ है। शिमला के ठीक उत्तर में, हिमालय और शिवालक पहाड़ में से निकल कर सतलज नदी दक्षिण-पूर्वी दिशा में बहती हुई सिंधु से मिल जाती है। कराची का प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण बंदरगाह जो इन्दस के डेल्टा के पश्चिमी

ओर पर स्थित है, इंगलैंड के सब से निकट है। अंग्रेजों द्वारा निकाली गई सिन्धु नदी की सिंचाई की योजना विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि पंजाब और सिन्ध के गेहूँ तथा रूई की उत्पत्ति का सम्पूर्ण श्रेय इसी को है।

हिमालय का प्रदेश

हिमालय का पहाड़ी प्रदेश, जो तिब्बत की ऊँची चौरस भूमि से भारत को अलग करता है, १५०० मील की लम्बाई में फैला हुआ है और इसकी चौड़ाई १५० से २५० मील तक है। इसमें तीन बड़ी पर्वत-शृङ्खलाएँ सम्मिलित हैं—सब से नीची और बाहर की ओर दक्षिण में एक पर्वतमाला स्थित है जो पश्चिम में शिवालक पर्वतमाला को अलग कर पूर्व में नेपाल तथा भूटान की दक्षिणी सीमा स्थित करती है। इसके बाद दो बहुत ऊँची और प्रमुख पर्वतमालाएँ आती हैं जो एक दूसरे के पीछे स्थित हैं और बर्फ से ढकी रहती हैं। ब्रिटिश राज्य की सीमा पश्चिम की ओर पहाड़ों में दूर तक चली गई है और यमुना तथा गंगा के जो भीतरी स्रोत हैं वे युक्तप्रान्त की सीमा में आते हैं। काश्मीर की रियासत पंजाब के पीछे इन दो प्रमुख पर्वत मालाओं पर से होकर कराकोरम तक फैली हुई है और क्यूनल्यून तथा हिन्दूकुश पहाड़ों को छूती है। काश्मीर वास्तव में बर्फ से ढके हुए पर्वतों का एक बहुत बड़ा समूह है जिसके बीच में अनेक तंग घाटियाँ हैं जिनमें काश्मीर की घाटी, जिसमें झेलुम नदी बहती है, सब से बड़ी है।*

* काश्मीर के उत्तर-पश्चिम की ओर निकला हुआ पामीर नामक पठार है जिसके बारे में कहा जाता है कि वह दुनिया की छत है। तिब्बती पठार के उत्तर में जो नीचे को बैठा हुआ भाग है, उसके पार्श्व में पामीर स्थित है और तिब्बत के उत्तर में जो क्यूनल्यून नामक पर्वत-शृङ्खला है, उसके भौगोलिक केन्द्र को यह इंगित करता है। हिमालय तिब्बत को भारत से अलग करता है। थिआन शान नामक पर्वतमाला जो एशिया की पर्वत-शृङ्खला की दक्षिण-पश्चिमी कड़ी है और उत्तर में बेहरिंग स्ट्रेट और हिंदूकुश तक ४६०० मील लम्बी चली गई है (अपनी अन्य उपशृङ्खलाओं के साथ) भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा का निर्माण करती है (टी० एच० होल्डिच लिखित "रिजन्स आफ दि वर्ल्ड, पृष्ठ ५)

हिमालय के दर्रे

हिमालय में अधिक दर्रे नहीं हैं और जो हैं वे व्यवसाय के द्वार का काम देते हैं। इनमें एक मार्ग पूर्वी हिमालय में दार्जीलिंग से ल्हासा तक जाता है जो तिब्बत की राजधानी है। दूसरा मार्ग शिमला से आरम्भ होकर सतलज की घाटी से होता हुआ तिब्बत तक जाता है। तीसरा काश्मीर के ऊपरी हिस्से लेह से शुरू होकर कराकोरा दर्रे से होता हुआ चीनी तुर्किस्तान में यारकन्द तक जाता है। ये मार्ग अत्यन्त दुर्गम हैं। कितनी ही जगह बहुत गहरे हो जाते हैं और महीनों बर्फ से ढके रहते हैं।

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा जिन पर्वतों से सुरक्षित है वे ऊँचे नहीं हैं और उन्हें आसानी से पार किया जा सकता है। इसके सिवा इन दर्रों तक पहुँचने के मार्गों की संख्या भी काफी है। यही कारण है जो उत्तर-पश्चिमी सीमा ने भौगोलिक दृष्टि से इतना महत्व प्राप्त कर लिया है। हिन्दूकुश-शृङ्खला हिमालय और पामीर की तरह दुर्गम नहीं है। जो भी लोग बाहर से आए हैं या भारत पर जो आक्रमण हुए हैं, वे इसी ओर से हुए हैं। पर्वत-मालाओं का एक क्रम, जो हिमालय की पश्चिमी उपमाला कहा जा सकता है, कराची के निकट समुद्र से आरम्भ होकर हिन्दूकुश तक चला गया है। तीन प्रकार की पर्वतमालाएं इनमें सम्मिलित हैं—एक सफेद कोह, दूसरी सुलेमान और तीसरी वह जो नीचे की ओर किरथर पर्वतमाला के समानान्तर चली गई है। सब से प्रमुख दर्रा वह है जो काबुल नदी की घाटी से बना है। यह नदी काबुल के पूर्व से बहकर सिंधु नदी से जा मिलती है। खैबर दर्रा जो कुछ दूर तक इस घाटी का अनुसरण करता है, दुनिया के दर्रों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस दर्रे पर से एक रेल भी बनाई गई है जो पेशावर से शुरू होती है। पेशावर भारत का प्रवेश द्वार है।*

---

* खैबर पहले एक अपेक्षाकृत मामूली दर्रे का नाम था। लेकिन आज इस नाम का प्रयोग उस समूचे मार्ग के लिए होता है जो काबुल से भारत का सम्बन्ध जोड़ता है। बीते युग में जो व्यापार या आक्रमण हुए हैं, उनका मार्ग यह नहीं था। पास ही दूसरे रास्ते थे जिन्हें उन दिनों

पहला परिच्छेद

अन्य दर्रे और उनका महत्व

इसके सिवा अन्य दर्रे भी हैं जो उतार पर आते हैं—जैसे कुर्रम, तोची, गोमल और बोलन। इनमें बोलन दर्रा महत्वपूर्ण है और इसके भीतर से क्वेटा और उससे भी आगे अफगानिस्तान की सीमा तक रेल जाती है। कंधार की घाटी भी यहीं सामने दिखाई देती है। ये दर्रे दक्षिणी बलूचिस्तान से सिंध के डेल्टा तक जाते हैं। इनके द्वारा कंधार से सिंध के तंग रास्तों तक या गज़नी के रास्ते सिंधु की घाटी तक या काबुल नदी के रास्ते उत्तरी पंजाब तक जा सकते हैं। मध्य एशिया के स्टेपीज़ से लोगों का आगमन इन्हीं दर्रों के द्वारा होता रहा है। पेशावर और क्वेटा के द्वारा अंग्रेज़ क्रमशः खैबर के दर्रे का, जो कि भारत की कुंजी है और बोलन के दर्रे का जो बाहर की कुंजी है, अंग्रेज नियंत्रण करते रहे हैं।* बलूची सीमा प्रदेश को क्वेटा से सहज ही अपने नियंत्रण में रखा जा सकता है। लेकिन पठानी सीमा प्रदेश, सुदूर उत्तर में जो कि खैबर दर्रा के उत्तरी प्रदेश तक फैला हुआ है, किसी एक केन्द्र से नियंत्रित नहीं किया जा सकता। इसलिए उसकी रक्षा करने के लिए पूरे दर्रे की देखभाल करनी होती है।

काम में लाया जाता था। खैबर ही एक ऐसा तंग दर्रा है जिससे भारत तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए यह सदा से महत्वपूर्ण रहा है और आगे भी रहेगा, क्योंकि इसी के द्वारा भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा तक आया जा सकता है। युगों से इतिहास के पन्नों में इसका, सोने के देश के प्रवेश-मार्ग के रूप में, उल्लेख होता आया है। इसके द्वारा अतीत के वे आक्रमण ही नहीं हुए जिन्होंने भारत के भाग्य और राज-परम्परा को बदल दिया, बल्कि इस रास्ते से, युगान्तर के साथ-साथ, मानवता का वह सन्देश भी आया है जो तातार या मंगोलिया के निर्जन-स्थानों से उठकर दक्षिण की ओर बढ़ा और सूर्य देवता के देश में आकर जिसने स्थान ग्रहण किया। भारत पर सैनिक आक्रमण अन्य रास्तों से भी हुए हैं। दक्षिणी और उत्तरी सीमा प्रदेश इन आक्रमणों के साक्षी रह चुके हैं, लेकिन इस देश के भाग्य को प्रभावित करने में वे सफल न हो सके। (होलडिच लिखित इन्डिया, पृष्ठ ७५-७६)।

* नक्शे में विस्तृत ईरानी पठार को देखो जो इन पर्वतमालाओं के पश्चिम की ओर फैला हुआ है, साथ ही कराकोरम और हिन्दूकुश पर्वत-

उत्तर-पूर्वी सीमा में, जहाँ हिमालय की शृङ्खलाएँ उत्तर और दक्षिण तक चली गई हैं और जिनके बीच में लम्बी-लम्बी घाटियाँ हैं, बरमा स्थित है। इन पर्वत शृङ्खलाओं का पश्चिमीतम भाग उत्तर में बरमा को आसाम से अलग करता है और फिर, पश्चिम की ओर, आसाम में फैल जाता है। इसके बाद, उतार पर, यह पर्वत शृङ्खला अराकान में पहुँच कर पृष्ठ भूमि (हिन्टरलैन्ड) का स्थान ग्रहण कर लेती है। यह हिन्टरलैन्ड वहाँ लुशाई पर्वतमाला और अराकान योमा कहलाती है।

बरमा समानान्तर पर्वतमालाओं, और उनके बीच बहनेवाली बड़ी-बड़ी नदियों से मिलकर बना है। इरावदी और शालवीन नदी इनमें प्रमुख हैं। ये नदियाँ चारों ओर दुर्गम पहाड़ों से घिरी हैं। आवागमन का केवल एक रास्ता है जो उत्तरी बरमा में भामो से शुरू होकर पहाड़ों पर से होता दक्षिणी चीन तक गया है। बरमा और भारत के बीच न कोई रेल है और न कोई खुश्की का रास्ता अब तक प्रतिष्ठित हो सका है। केवल समुद्र के रास्ते भारत से बरमा

शृङ्खलाओं की स्थिति पर भी ध्यान दो। हिन्दूकुश को बहुत से लोग असली वैज्ञानिक उत्तर-पश्चिमी सीमा मानते हैं। इसका अधिकांश भाग आज कल अफगान प्रदेश में स्थित है। पुराने युग में मौर्य जैसे कुछ भारतीय सम्राटों ने हिन्दूकुश तक विस्तृत पूरे प्रदेश पर राज्य किया था। फ़ारस, अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान मिलकर इस बड़े ईरानी पठार की रचना करते हैं। उत्तर-पश्चिम में यह ऊँचे कोहकश पहाड़ों से और उत्तर-पूर्व में उच्चतर पामीरों से घिरा है। "ईरान के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर, फ़ारस की खाड़ी और लम्बी निम्नभूमि है जिस पर युफ्रेट और तिगरिश नदी बहती हैं। कास्पियन सागर के पूर्व में उत्तर की ओर तुर्किस्तान या तूरन की चौड़ी निम्नभूमि है जिस पर से आक्सस और जक्षरटस नदी बहकर युराल सागर में गिरती हैं। पूर्व की ओर सिंधु नदी का प्रदेश है। अतः आक्रमणों से भारत की रक्षा सब से पहले उस बात पर निर्भर करती है कि फ़ारस की खाड़ी और भारतीय सागर में अंग्रेजों की समुद्री शक्ति बनी रहे, और दूसरे इस बात पर कि हम किसी दूसरी शक्ति को ईरानी पठार पर अपने अड्डे न बनाने दें—विशेष कर उन भागों पर जो दक्षिण और पूर्व में पड़ते हैं।" (सर० एच० जे० मैकिन्डर, दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, भाग पहला पृष्ठ २०-२८)

दक्षिणी बलूचिस्तान में मुक्रान के समुद्र-तटीय प्रदेश का भारत पर

तक पहुँचा जा सकता है। यही कारण है जो इसकी मिश्रित जातीयता आर्यों के प्रभाव से सुरक्षित रह सकी है।

भारत की रक्षा-स्थिति

इस प्रकार भारत, जहाँ तक उसके भू-दिशाओं का सम्बन्ध है, दुर्गम पर्वतमालाओं से बहुत अच्छी तरह सुरक्षित है। उत्तर-पश्चिमी सीमा को छोड़ कर, जहाँ के दर्रों ने आक्रमणकारियों को सहज मार्ग प्रदान किया है और जहाँ के पहाड़ी प्रदेशों में लूट-पाट के लिए सदा तैयार रहने वाले लोग बसते हैं, भारत का शेष भू-भाग अच्छी तरह सुरक्षित है। देश का समुद्र-तट जो कराची से अराकान तक फैला हुआ है बहुत लम्बा है और समुद्री आक्रमणों से उसकी रक्षा करना कठिन है। लेकिन एक तो समुद्री आक्रमणों की सम्भावना बहुत कम रही है दूसरे, अंग्रेजों के शक्तिशाली समुद्री बेड़े का भारत को काफी भरोसा रहा है।

लंका, जो भारत का ही लटकन मालूम होता है, और जिस पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव काफी पड़ा है, अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। न तो आज और न पहले ही वह भारत के लटकन मात्र की स्थिति में रहा है। इसी तरह बरमा भी भारतीय महाद्वीप से अलग अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

—:o:—

होने वाले प्रारम्भिक विदेशी आक्रमणों में काफी हाथ रहा है। इसी रास्ते से होकर अलेक्जेन्द्र भारत से अपनी फौजों को लेकर फ़ारस लौटा था। अरब विजेता मोहम्मद बिनकासिम को भी इस रास्ते को पार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। इस रास्ते से आकर उसने ७१२ ए० डी० में सिंध पर अधिकार कर लिया था। फ़ारस से पूर्व की ओर बढ़ने वाले पारसियों के भी चिह्न इस प्रदेश में पाए जाते हैं। उनसे पहले, प्रागैतिहासिक काल में विभिन्न जातियाँ इस प्रदेश को पार कर चुकी हैं। अतः अवरान प्रदेश की गिनती उन महान् और महत्वपूर्ण दर्रों में करनी चाहिए जिन्होंने भारत के मानव-वंश-विज्ञान के रूप को निर्धारित करने में भाग लिया है।'

दूसरा परिच्छेद

भारत के आदि-निवासी और अनार्य जातियाँ

अपने विस्तृत देश की प्राकृतिक स्थिति और उसकी विशेषताओं का अध्ययन हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं। यहाँ इतनी जातियाँ बसती हैं कि इसे हम वास्तव में जातियों का अजायबघर कह सकते हैं। यहाँ ४३ जातियाँ, जो एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न हैं, बसती हैं और १४७ भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से कुछ का, विशेषकर उनका जो भारत में उन समयों में आईं जिनका कुछ विवरण हमें उपलब्ध हो सका है, हम यहाँ वर्णन करेंगे। लेकिन कितनी ही जातियों के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते क्योंकि उनके उद्गम, विस्तार और विनाश तथा हमारे देश में बसने का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

भू-गर्भवेत्ताओं की खोज से हमें पता चलता है कि हमारे देश का प्रायद्वीपीय भाग सब से पुराना है और लाखों वर्ष पूर्व उसका दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से सम्बन्ध स्थापित था। उनका यह भी कहना है कि उत्तरी भारत की सम्पन्न भूमि, जिसे सिंधु और गंगा का पानी सींचता है, बाद में अस्तित्व में आई। सारांश यह है कि सुदूर अतीत में होने वाली प्राकृतिक हलचलों के कारण देश की भौगोलिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए और हमारे देश ने वह रूप धारण किया जो आज हम देखते हैं।*

---

* स्थानाभाव के कारण यहाँ इन भू-गर्भीय परिवर्तनों का इतिहास अंकित नहीं किया जा सकता। प्रो० रंगाचार्य ने अपनी पुस्तक प्रागैतिहासिक काल का भारत के प्रथम परिच्छेद में तत्सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों के मतों का सार दिया है। इस पुस्तक से लिए गए निम्न उद्धरण से साधारणतया सर्वमान्य मतों का पता चल जाएगा—

"अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि दक्षिणी और सुदूर दक्षिणी प्रदेश के मुकाबले में हिमालय की विस्तृत पर्वत-शृङ्खला बहुत बाद में अस्तित्व में आई।

दूसरा परिच्छेद

यह स्पष्ट है कि भारत के प्राचीनतम निवासियों का परिचय पाने के लिए हमें दक्षिण की शरण लेनी होगी। किन्तु सामग्री के अभाव के कारण इन आदि निवासियों के बारे में निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता कि वे कौन थे, कौन-सी भाषा बोलते थे और उनकी सभ्यता संस्कृति कैसी थी।* लेकिन पुरातत्वज्ञों का कहना है और सभी यह मानते हैं कि उस काल की सभ्यता के विकास का कुछ परिचय हम उन औजारों और अस्त्रों से प्राप्त कर सकते हैं जिनका वे अपने समय में प्रयोग करते थे। उस काल के निवासियों का हाथ तब तक सधा नहीं था, फलतः जो चीज़ें वे बनाते थे, वे अत्यन्त भोंडी और बेडौल होती थीं। यह वह काल था जिसे हम प्राचीन प्रस्तर युग कहते हैं।

सदियों के अभ्यास के बाद मनुष्य इस योग्य हुआ कि

दक्षिणी प्रदेश भारत का प्राचीनतम अंश है। भारत के ही नहीं, बल्कि इसे विश्व के प्राचीनतम अंश का अवशेष कहा जा सकता है। इस प्रदेश के पर्वत यद्यपि उत्तरी प्रदेश के पर्वतों के समान ऊँचे नहीं हैं, कहीं अधिक पुराने हैं। इसके पश्चिमी घाट उस जल-खण्ड की याद दिलाते हैं जो प्राचीन गोंडवाना के पूर्वी अर्द्ध भाग को पश्चिमी अर्द्ध भाग से—उसके अरब सागर में विलीन होने से पूर्व—अलग करता था। यही कारण है जो दक्षिणी प्रदेश की नदियों का उद्गम स्रोत पश्चिमी घाटों में पाया जाता है—ठीक अरब सागर के निकट। ये नदियाँ यहाँ से निकल कर पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में जा गिरती हैं। बाद में कुछ और प्राकृतिक उथल-पुथल हुई जिसके फलस्वरूप पश्चिमी घाटों की ऊँचाई कुछ और अधिक हो गई। और इसके साथ-ही साथ कुछ नये किन्तु विषम खाई-खड्ड भी बन गये—ताती और नर्मदा इन्हीं नव-निर्मित घाटियों में से होकर विरोधी दिशा में बहती हैं। त्रेता युग की समाप्ति तक दक्षिणी और उत्तरी भारत दोनों वह रूप धारण कर चुके थे जो आज हम देखते हैं।

* स्वर्गीय श्री पी० टी० श्री निवास आयंगर ने अपने 'सर सुब्रह्मण्य भाषण' (१९२९) में यह विचार प्रस्तुत किया था कि मध्य दक्षिणी प्रदेश के ऊँचे भागों को, नदी की घाटियों के निकट जहाँ छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं और जहाँ पानी, फल आदि आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं, मानव ने अपना पहला निवास-स्थान बनाया होगा।

अपने औजारों में कुछ सुधार और स्वरूप ला सके। उसने मिट्टी के बरतन बनाना सीखा और अपने मृतकों को सम्मान के साथ धरती की गोद में सुलाना—उन्हें अच्छी तरह दफनाना—आरम्भ किया। मृतकों को कब्रों पर पत्थर के ऊँचे स्मृति चिह्न भी वह बहुधा बनाने लगा। इस तरह उस युग का प्रारम्भ हुआ, जो नवीन प्रस्तर युग कहलाता है। इसके बाद, कालान्तर के पश्चात् मानव ने विकास की अनेक सीढ़ियों को पार किया। उसने ताम्र, गिलट और लोहा आदि धातुओं का क्रमशः प्रयोग करना सीखा। इन धातुओं के प्रयोग काल ताम्र-युग, गिलट-युग और लौह-काल के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन प्रस्तर-काल

प्राचीन प्रस्तर काल के पत्थर के औजार मद्रास प्रान्त में—विशेष कर चिंगलपुट जिला में—पर्याप्त संख्या में पाए गए हैं। उस काल के इन बिखरे हुए अवशेषों को देखने से मालूम होता है कि प्राचीन प्रस्तर-काल में भारत में जो लोग रहते थे, उनमें तथा उस काल के अन्य देशीय निवासियों में एक ओर जहाँ कुछ मोटी बातों में समानता पाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर उनकी कुछ विषमताएँ भी हैं। भारत में उस काल के जो औजार मिले हैं, अन्य जगह के औजारों से उनकी संख्या अधिक है, उनका आकर-प्रकार भी अपेक्षाकृत अच्छा है। लेकिन आस्ट्रेलिया तथा यूरोप के उस काल के निवासियों की तरह भारत के निवासी भी पत्थर को घिस कर साफ बनाने, उसे खोखला करने अथवा उसमें गढ़ा या नाली बनाने और निखार पैदा करने की दशा को नहीं जानते थे।

भारत में प्रस्तर-काल के निवासी स्फटिक के अथवा लकड़ी के औजारों का भी प्रयोग करते थे, विशेषकर बरछी और गदका। जंगली पशुओं को ठिकाने लगाने के लिए इन अस्त्रों का वे प्रयोग करते थे। गुराटकल में उस काल की एक कंघी मिली है जिस से पता चलता है कि वे सम्भवतः लकड़ी का प्रयोग भी जानते थे। वे आग पैदा करना जानते थे और पत्तों, छाल और खाल के कपड़े बना कर अपने तन की रक्षा करते थे। "धार्मिक भावना का सम्भवतः उनमें अभी तक उदय नहीं हुआ था—कम से कम

प्रारम्भिक काल में अपने मृतकों को हवा-पानी में नष्ट होने या जंगली जानवरों का भोजन बनने के लिए वे योंही खुला छोड़ देते थे। उनकी इस प्रथा का अवशेष बाद के ऐतिहासिक काल में भी पाया जाता है।*

नवीन प्रस्तर-काल

नवीन या उत्तर प्रस्तर-काल के अवशेष भी व्यापक रूप में पाए गए हैं। इनमें से अधिकांश का पता, प्रमुख रूप से, बेलारी जिला में मि० ब्र स फूट ने लगाया था। इसी विद्वान् की खोजों के फलस्वरूप दक्षिणी भारत में उत्तर प्रस्तर-काल की अनेक बस्तियों और औजार बनाने के कारखानों का भी पता चला। चाक पर बनाए गए मिट्टी के बरतन भी उस काल के प्राप्त हुए। विंध्य पर्वत श्रेणी की कन्दराओं में जो पूर्वैतिहासिक काल के जले हुए कोयले के ढेर, प्याला और अँगूठी के आकार के चिन्ह तथा गेरू के चित्र मिले हैं, उनसे भी दक्षिणी भारत में प्रस्तर-काल की सभ्यता का कुछ परिचय मिलता है।

---

*श्री रँगाचार्य लिखित 'प्री हिस्टारिक इंडिया', पृष्ठ ५४

इस सम्बन्ध में श्री पी० मित्र ने अपनी पुस्तक 'प्री हिस्टारिक इंडिया' में अच्छा प्रकाश डाला है। आप कहते हैं—"भारत में प्राचीन प्रस्तर-काल के मानव ने कुड्डापाह को अपनी संस्कृति का केन्द्र बनाया। कुड्डापाह एक ऐसा जिला है जहाँ स्फटिक पाया जाता है। इसलिये प्रस्तर युग के मानव के लिए इस जिले की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। हथियार के रूप में पत्थर का कोई टुकड़ा जो आसानी से फेंका जा सके और जो घाव करने की क्षमता रखता हो, उनके लिए पर्याप्त था। कुछ टुकड़े ऐसे भी मिले हैं जिनके किनारे काफी पैने हैं और मजबूती के साथ पकड़ने के लिए उनमें गढ़े बने हुए हैं। पत्थर को दल कर, उसके पत्तर उतार कर, अस्त्रों को आवश्यकतानुसार बनाने के प्रयास के भी कुछ चिन्ह मिलते हैं—यद्यपि ये प्रयास काफ़ी भोंड़े होते थे और उन्हें देखने से मालूम होता है कि मोटी और अनभ्यस्त उंगलियों तथा हाथों के ये फल हैं। पत्थर के इन्हीं टुकड़ों से जंगली जानवरों को घायल करने तथा लकड़ी काटने का काम लिया जाता था। खुदाई का काम भी इनसे लिया जाता था या नहीं, यह सन्देहास्पद है। जो भी हो, इन अस्त्रों ने अभी तक कोई निश्चित आकार, नमूने का रूप, ग्रहण नहीं किया था।

इस तरह की अन्य पूर्वैतिहासिक खोजों का वैज्ञानिक अध्ययन कर हम आदिम निवासियों के सम्बन्ध में अपने ज्ञान को बढ़ा सकते हैं और, कुछ हद तक, उनकी गति-विधि का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। चिंगलपुट, नेलोर, दक्षिण और उत्तरी आरकोट के जिलों में भूरा मिश्रित लाल रंग के जो आयताकार ताबूत मिले हैं, वे वैसे ही हैं जैसे बगदाद में पाए गए हैं। इससे पता चलता है कि उस काल में भारतीय बेबीलोनिया तथा असीरिया की सभ्यता में एकता थी।

उनका जीवन और रीति-रिवाज

उत्तर प्रस्तर-काल में भारत के आदिम निवासी एक जगह बस कर जीवन बिताने के लाभों से अवगत हो गए थे। स्वयं अपने और अपने परिवार के लिए वे झोंपड़ियाँ बना कर रहते थे। समुद्र के किनारे, उथले पानी में, वे मछलियों का शिकार करते और भू-भाग के भीतरी हिस्से में जंगली पशुओं को घेर कर मारते। बकरी, भेड़, गाय आदि पशुओं को पालना उन्होंने सीख लिया था। खाना पकाने की कला भी वे जानते थे और विचित्र प्रकार के खाद्य-पदार्थ बनाते थे। आटा पीसने की चक्की, आटा रखने और गूंधने के लिए नाँद, मूसल और पोठी बनाने के साधनों का आविष्कार कर लिया था जो उनकी पाक-विद्या में प्रगति करने के द्योतक हैं। उत्तर प्रस्तर-काल के निवासियों की पोशाक सीधी सादी और बहुधा वृक्षों की छाल और पशुओं के चमड़े की होती थी। इस काल के अन्तिम दिनों में उन्होंने रूई के प्रयोग का आविष्कार करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। कंघी और गले के आभूषण आदि जो मिले हैं, उनसे इस काल की स्त्रियों की परिष्कृत रुचि का परिचय मिलता है। उनके सभी आभूषण हड्डियों और शंख के बने होते थे जिनसे पता चलता है कि उन्होंने बींधने और छेदन करने के महीन यंत्रों का भी आविष्कार कर लिया था। धार्मिक दृष्टि से नवीन प्रस्तर काल के निवासी प्रेतवादी थे—पत्थरों और पूर्वजों की मृतात्माओं की पूजा करते थे। लिंग की पूजा का साधारण रिवाज था। प्रोफेसर रंगाचार्य के कथनानुसार जन्म, नामकरण, विवाह और मृत्यु सम्बन्धी जो विचित्र प्रथाएँ आज

प्रचलित हैं, वे इसी काल की देन हैं। "मानसिक शक्ति द्वारा शरीर के नियंत्रण, और प्रकृति की अदृश्य शक्तियों के सम्मुख मानव की परवशता ने ही उन विभिन्न संस्कारों तथा रीति-रिवाजों को जन्म दिया है जो मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं।"*

ताम्र और लौह-काल

नवीन प्रस्तर काल के बाद दक्षिणी भारत में लौह-काल प्रारम्भ हुआ और उत्तरी भारत में, लौह-काल से पहले, ताम्र-काल का श्रीगणेश हुआ। मध्य भारत के गंगेरिया नामक स्थान में ताम्र के बने पूर्वैतिहासिक औजार, काफी संख्या में, पाए गए हैं। ताम्र की तलवारें, और भालों के फलके कानपुर, फतहेगढ़, मैनपुरी और मथुरा में पाए गए हैं।

पुरानी बातों और वस्तुओं की जाँच-पड़ताल करने वाले विद्वानों का मत है कि भारत में ब्राञ्ज-काल कभी नहीं आया।† जो थोड़ी-बहुत ब्राञ्ज की वस्तुएँ मिली हैं, वे तिनेवली जिला के आदिचनालूर नामक स्थान के पूर्वैतिहासिक मकबरों में पाई गई हैं और उनका उद्गम स्थान सम्भवतः विदेशी है। "ब्राञ्ज के बने सुन्दर पात्र तथा अन्य

---

* श्री वी० रंगाचार्य लिखित 'प्री हिस्टारिक इंडिया' में नवीन प्रस्तर-काल वाले परिच्छेद को देखिए।

† इस विषय के अधिकारी विद्वान् श्री ब्रूस फूट का कहना है—"क्रीट, ग्रीस तथा योरप के अन्य कतिपय देश की तरह दक्षिणी प्रायद्वीप में लौह-काल से पहले ब्राञ्ज-काल का उदय नहीं हुआ। इसका कारण सम्भवतः नवीन प्रस्तर-काल के निवासियों का स्थल प्रेमी होना था। स्थल को छोड़कर समुद्र के प्रति उनकी रुचि होती तो निश्चय ही वे बंगाल की खाड़ी को पार कर तनसिरम-तट तक पहुँच गए होते और वहाँ के लाइन-स्टोन से भी उनका परिचय हो गया होता। चूँकि ताम्र भारत में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, इसलिये उससे मिलावटी धातु बनाने की कला का आविष्कार उनके लिए अनिवार्य था। लेकिन उस कला का विकास बाद में, लोहे को गला कर साफ करने तथा उसके हथियार बनाने के व्यापक प्रयोग के दौर से गुज़र जाने के बाद, शुरू हुआ।

इम्पीरियल गजट आफ इंडिया (१९०७), भाग दो, पृष्ठ ३०

अलंकारिक वस्तुएँ नीलगिरि पहाड़ियों के प्राचीन के मकबरों में मिली हैं, जो सम्भवतः इसी काल की प्रारम्भिक सदियों से सम्बन्ध रखती हैं जब व्यापक समुद्री व्यापार कुरब या पल्लवों के हाथ में था।*

धातु-काल के आदिम निवासी

धातु-काल के निवासियों के बारे में हमारी जानकारी थोड़ी है। लेकिन भारत के उन प्रारम्भिकतम निवासियों के बारे में, जिनसे आर्यों की मुठभेड़ हुई, हम बहुत-कुछ जान सकते हैं। ये निवासी प्रमुखतः दो जातियों के थे—एक तो कोल, दूसरे द्रविड़। ये दोनों जातियाँ अनेक वर्गों में विभाजित थीं। उनकी सभ्यता और संस्कृति में भी तदनुकूल अन्तर पाया जाता था। कोल जाति के लोग सम्भवतः हिमालय के उत्तर-पूर्वी दर्रों से भारत में आए थे। उनके रीति-रिवाजों और मार्ग चिन्हों से भी उनके उत्तर-पूर्वी होने का आभास मिलता है। आज भी वे केवल भारत के उत्तर-पूर्वी भाग में पाए जाते हैं। उनकी भाषा और आसाम तथा ब्रह्मपुत्र और इरावदी के प्रदेश में रहने वालों की भाषा में सादृश्य पाया जाता है।* जो प्रमाण अब तक मिले हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि कोल ही सब से पहले लोग हैं जो भारत में आए और यहाँ आकर बस गए। इनके बाद अधिक सशक्त और उन्नत जाति के लोग उत्तर-पश्चिम ओर से भारत में आए। ये द्रविड़ थे। कोलों को अपदस्थ कर उन्होंने देश के उपजाऊ प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। यही कारण है जो कोलों को पहाड़ी, कम उपजाऊ और दुर्गम प्रदेशों में भाग कर शरण लेनी पड़ी। उनके बारे में हम यहाँ विस्तार के साथ जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

---

*कुछ विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। उदाहरण के लिए स्टेन कोनाओ का विचार है कि कोलों का उद्गम स्थान हिन्दुस्तान भी हो सकता है। डाक्टर हैडन भी इसी मत के हैं। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कोलों की मुंडा भाषा द्रविड़ों की भाषा से सर्वथा भिन्न है।

दूसरा परिच्छेद

कोल जाति का जीवन

कोल जाति के लोग, जैसा हम पहले कह चुके हैं, अनेक वर्गों में विभाजित थे। इनमें कुछ नितान्त असभ्य और बर्बर थे और कुछ में सभ्यता के चिन्ह पाए जाते थे। दक्षिणी मद्रास में अनामली के पहाड़ी प्रदेश के निवासी, मालाबार के पानियन, उड़ीसा की पहाड़ी रियासतों के पत्तों से शरीर ढकने वाले लोग, आसाम के अकास—कोल जाति के जंगली वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके मुकाबले में बंगाल के सन्थाल और उड़ीसा के खोंड लोग अधिक उन्नत और सभ्य हैं।

कोल जाति के लोग स्वतंत्र रूप से गाँवों में बस कर जीवन बिताते थे। वे एक साथ शिकार और एक साथ भोजन करते थे। युवकों की शिक्षा-दीक्षा बड़ी सावधानी के साथ, विशेष व्यक्तियों की देख-रेख में, की जाती थी। प्रबंध और व्यवस्था के काम में वे बहुत कुशल थे। उनके अपने कानून होते थे। भारी अपराध करने पर गाँव से निकाल देने की सजा दी जाती थी और छोटे अपराधों में जुरमाना आदि किया जाता था—जो गाँव की समूची बिरादरी को दावत देने के रूप में होता था। उस काल की कितनी ही प्रथाएँ आज बंगाल के सन्थालों में पाई जाती हैं जो प्राचीन कोलों के विशुद्धतम उत्तराधिकारी माने जाते हैं।

कोलों में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। लेकिन विवाह और मृत्यु के अवसर पर वे संस्कार विधियों का पालन करते थे। उदाहरण के लिए संथालों को जीवन भर में ६ संस्कारों का पालन करना होता था। कितने ही प्रेत और राक्षसों की वे पूजा करते थे। प्रत्येक बिरादरी या जाति-समूह का अपना देवता होता था। इनमें से कतिपय देवता पुराने वृक्षों में रहते थे। सर्वव्यापी और कल्याणकारी देवता की कल्पना का उदय उनमें अभी तक नहीं हुआ था। उनकी पूजा के मूल में भय तथा आतंक की भावना थी। पूजा में वे अपने 'देवताओं' को रोटी, दूध, शहद तथा छोटमोटे पशु चढ़ाते थे।

संक्षेप में कोल सीधे-सादे और शान्तिप्रिय थे। बाहरी लोगों से वे भय खाते और अपने गाँव के लोगों के बीच प्रसन्न रहते थे।

आज उनकी संख्या तीस लाख के करीब होगी। वे मुंडा भाषाएँ बोलते हैं।* पश्चिमी बंगाल के पहाड़ी प्रदेशों में अधिकांशतः पाए जाते हैं। छोटा नागपुर के ऊपरी भाग तथा मध्य प्रान्त में भी बसते हैं।

द्रविड़ों की स्थिति

द्रविड़ जाति के लोग कोलों की अपेक्षा अधिक उन्नत और सभ्य थे। ये भी उन प्रारम्भिकतम लोगों में से हैं जो भारत के विस्तृत भू-भागों में बसे हुए थे। लेकिन प्रश्न उठता है, क्या कोलों की तरह वे भी भारत में बाहर से आए थे अथवा दक्षिण के धातु-काल के निवासियों के उत्तराधिकारी हैं?

द्रविड़ों के उद्गम स्थान, और उनके इतिहास के बारे में विद्वानों में भारी मतभेद पाया जाता है। कुछ प्रकाण्ड विद्वानों का कहना है कि द्रविड़ों ने उत्तर-पश्चिमी मार्ग से आकर भारत पर आक्रमण किया और मैदानी प्रदेश में से होकर इनमें से अधिकांश दक्षिण के तिकोने पठार पर जाकर बस गए। अपने इस मत की पुष्टि में ये विद्वान् बलूचिस्तान के एक अकेले कबीले की ओर संकेत करते हैं। इस कबीले के लोग ब्राहुई भाषा बोलते हैं जो तामिल से मिलती-जुलती है।†

*यहाँ यह ध्यान में रखना अनुपयुक्त न होगा कि भारत की भाषाओं को प्रमुखत: चार भागों में विभाजित किया गया है—आस्ट्रिक, द्रविड़, इन्डो-आर्यन और तिब्बती चीनी। मुण्डा भाषाएँ आस्ट्रिक परिवार से सम्बन्ध रखती हैं।

†इस मत के सब से बड़े पोषक बिशप काल्डवेल थे। भाषा-सम्बन्धी इस साम्य को आधार मान कर विद्वान् बिशप ने यह मत प्रकट किया कि कीरथर पर्वतश्रेणी में रहने वाले बलूची कबीले के ब्राहुई लोग द्रविड़ थे। बिशप के प्रमुख तर्क के सम्बन्ध में विवाद न करते हुए भी कुछ विद्वानों का कहना है कि ब्राहुई लोगों में और द्रविड़ों में जाति-विषयक भिन्नता पाई जाती है। कर्नल होल्डिच का मत है कि ब्राहुई तुर्को-मंगोल जाति के थे जिन्होंने, कीरथर के पहाड़ी प्रदेश में द्रविड़ों को हराने के बाद, उनके साथ सम्बन्ध स्थापित किया और दोनों हिलमिल गये। अगली पीढ़ी के ब्राहुई लोगों ने अपने पूर्वजों के रीति-रिवाजों को बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा, लेकिन भाषा उन्होंने अपनी द्रविड़ भाषाओं को अपना ली।

दूसरा परिच्छेद

सुदूर बलूचिस्तान में द्रविड़-भाषा का जो रूप उपलब्ध है, उसके बारे में कहा जाता है कि वह उन प्राचीनतम द्रविड़ों की भाषा का अवशेष है जो पिछड़ गए थे, जब उनके दूसरे साथी आगे बढ़ कर भारत में पहुँच गए। इसके प्रतिकूल इतने ही बड़े और मान्य विद्वानों का मत है कि ब्राहुई लोग उन द्रविड़ों के अवशेष हैं जो भारत से बलूचिस्तान तक पहुँचने में सफल हो गए थे। लेकिन यह मत कुछ अधिक मान्य नहीं मालूम होता, क्योंकि प्राचीन लोगों के जितने भी सामूहिक अभियान हुए हैं, उनकी दिशा बाहर से भारत की ओर रही है, भारत से बाहर की ओर नहीं। इसलिए द्रविड़ों का बाहर से भारत में आना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।*

आर्य और द्रविड़

द्रविड़ों के भारत में बस जाने के बहुत समय बाद आर्य भारत में उत्तर-पश्चिमी भाग से आए। यह स्वाभाविक ही था कि उनमें और पुराने बसे हुए लोगों में संघर्ष होता। उस संघर्ष का फल यह हुआ कि द्रविड़ धीरे-धीरे भारत के दक्षिणी प्रदेश में चले गए और वहाँ

*देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ४२। यहाँ इस विषय पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला जा सकता। फिर भी कुछ प्रचलित मतों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। एक मत है कि आयरलैंड की सेल्ट और सिमरी जाति की तरह भारत में जो सबसे पहले आर्य आए, द्रविड़ उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वर्गीय श्री बनकसभाई का कहना था कि तामिल लोगों का उद्गम स्रोत मंगोल जाति है। बंगाल की खाड़ी को पार कर ये दक्षिणी प्रायद्वीप में आकर बस गए। लेमूरियन मत के अनुसार जो लेमूर प्रदेश आज भारतीय सागर में निमग्न हो गया है द्रविड़ों का मूल निवास-स्थान था। सर डबल्यू हन्टर के मतानुसार कोल और द्रविड़ एक ही जाति की दो शाखाएँ हैं। यह प्रमुख जाति विभिन्न भागों से भारत में आई थी—उत्तर-पूर्वी मार्ग से और उत्तर-पश्चिमी मार्ग से भी। इन मतों के अलावा कुछ विद्वानों का मत है कि द्रविड़ दक्षिणी भारत के निवासी थे। सबसे अन्त में हड़प्पा और मोहञ्जोदाड़ो की खुदाई के फलस्वरूप इन्दस की घाटी की सभ्यता पर काफी प्रकाश पड़ा है और उसके आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि सम्भवतः द्रविड़ ही सिंध-प्रदेश के निवासी थे।

पर, बिना किसी विघ्न-बाधा के, अपेक्षाकृत शान्तिमय जीवन बिताने लगे। प्राचीन तामिल किंवदन्ती के अनुसार द्रविड़ प्रदेश पाँच हैं—तामिल, आंध्र या तेलुगु और कन्नड़ी प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात।*

आर्य अपने धर्म-ग्रथों में द्रविड़ों के सम्बन्ध में, जो उनके शत्रु थे, अपनी भावनाओं को छोड़ गए हैं। द्रविड़ों को उन्होंने दस्यु, दानव और राक्षस आदि शब्दों में उल्लेख किया है। 'काले वर्ण' और 'चपटी नाक' वाले कह कर उनके प्रति अपनी घृणा को आर्यों ने व्यक्त किया है। इन कथित राक्षसों के कुकृत्यों के उल्लेख से रामायण के पृष्ठ भरे पड़े हैं। किन्तु, अगर सच पूछा जाए तो, अपेक्षाकृत कुछ काला-वर्ण होने पर भी द्रविड़ आर्यों से, जिन्हें अपने गौर वर्ण पर गर्व था, सभ्यता और संस्कृति का जहाँ तक सम्बन्ध है, किसी तरह भी कम नहीं थे। आर्यों के द्रविड़ों का इतनी उपेक्षा और घृणा के साथ वर्णन करने का कारण सम्भवतः यही है कि उन्हें द्रविड़ों से निरन्तर, कदम-कदम पर, संघर्ष करना पड़ता था। गहरे संघर्ष के बाद ही आर्य आगे बढ़ पाते थे।

द्रविड़ों की संस्कृति

इतिहास के पृष्ठों में द्रविड़ जाति के लोग साहसी योद्धा और व्यापारी के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे शान्तिपूर्ण उद्योग-धंधों और व्यवसाय के प्रेमी थे। अपनी ही नौकाओं में व्यापार करते और भारतीय टीक, चावल, मलमल और मोर सुदूर फ़ारस तक ले जाते थे। मेसोपोटामिया और एशिया माइनर से भी उनका सम्बन्ध था। वे बहुत साहसी थे और अत्यन्त प्राचीन काल में कितने ही द्वीपों और अज्ञात प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया था। वे व्यवस्था और अनुशासन के प्रेमी थे और इतिहास के अति प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने राजतंत्रीय राज्यों की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। इसके अलावा उनकी शासन-प्रणाली काफी स्पष्ट और सुलझी हुई थी। इन द्रविड़ राज्यों के सम्बन्ध में हम इसी पुस्तक में अन्यत्र विस्तार के साथ बताने का प्रयत्न करेंगे।

प्रारम्भिक द्रविड़ों की धार्मिक भावनाएँ, असंदिग्ध रूप से,

*कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ५९३

अपरिष्कृत थीं। वे धरती की देवता और देवी दोनों रूपों में पूजा करते थे। आर्यों के ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख मिलता है कि ये दस्यु 'शिश्नदेवा' थे—अर्थात् वे शिश्न और शेष की पूजा करते थे। अगर यह सत्य है तो प्राचीन द्रविड़ नाग-पूजक जाति के लोग थे। यह असम्भव भी नहीं मालूम होता, क्योंकि दक्षिणी भारत में नाग देवता की अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं।*

मूलतः द्रविड़ों में कोई जाति-प्रथा नहीं थी और गुरु आदि द्वारा धर्म-शिक्षा का भी कोई आयोजन नहीं था। धर्म-शिक्षा की परिपाटी आर्यों ने, यहाँ बसने के बाद, चलाई थी। धर्म और

---

*मैडम रागोज़िन के इस मत का अनेक विद्वानों ने तीव्र विरोध किया है। इन विरोधियों में श्री जीवरत्नम सब से अग्रणी थे। 'लाइट आफ़ ट्रुथ', भाग ८ नम्बर ३ में आपने इस बात का तीव्र विरोध किया है कि द्रविड़ सर्प-पूजक थे या सर्प-पूजा से उनका कोई सम्बन्ध था। अपनी पुष्टि में जो तर्क उन्होंने रखे, उनमें से कुछ ये हैं—

(१) द्रविड़ों के प्राचीन साहित्य में नाग पूजा का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(२) द्रविड़ों के प्राचीन देवता (Muruga) और (Pullaiyar) थे। सर्पों का इनके पूर्वजों के रूप में कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

(३) जितने भी शक्तिशाली द्रविड़ राजा हुए हैं, सर्प उनमें में से एक का भी राज चिन्ह नहीं था।

(४) तामिल जो नाग-पूजा करते हैं, वह आर्यों की देन है।

(५) विशेष रूप से नाग-देवता के लिए निर्मित मन्दिर नहीं मिलते।

श्री जीवरत्नम के ये तर्क जब प्रकाश में आए थे तो उनका काफी प्रभाव पड़ा था। लेकिन इधर जो आधुनिक खोजें हुई हैं, वे द्रविड़ों के नाग-पूजक होने की पुष्टि करती प्रतीत होती हैं। फलतः मैडम रागोज़िन का यह मत है कि नाग-पूजा अनार्यों की प्रथा है जिसे बाद में आर्यों ने अपना लिया, अधिक ठीक मालूम होता है। जो भी हो, यह विषय जटिल है और एक फ़ुटनोट में इस पर अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालना कठिन है।

दर्शन के सम्बन्ध में आर्यों के विचार बहुत परिष्कृत थे। धीरे-धीरे द्रविड़ों को ब्राह्मणत्व में दीक्षित कर लिया गया। हिंस्रवलि और राक्षसों की उपासना, जो द्रविड़ों में प्रचलित थी, पीछे पड़ गई और उसका स्थान कल्याणकारी परमात्मा की कल्पना ने ले लिया। परमात्मा की यह कल्पना मानव जाति के हितों की रक्षा करने वाली थी। सभ्यता के विकास के साथ प्राचीन द्रविड़ भी आगे बढ़े और प्राचीन भारत की जातियों में अग्रिम स्थान ग्रहण कर लिया। आधुनिक काल में उनका प्रतिनिधित्व तामिल, तेलुगु कन्नड़ और मलयाली लोग करते हैं।

अन्य अनार्य जातियाँ

कोल और द्रविड़ों के अतिरिक्त समय-समय पर भारत में अन्य जातियाँ भी आती रहीं। आर्यों के आगमन और भारत में बसने के सम्बन्ध में विस्तार से हम अगले परिच्छेद में लिखेंगे। इस परिच्छेद में, उन विदेशी जातियों का विवरण देंगे जो विभिन्न समयों में भारत में आईं और स्थायी रूप से बस गईं।

मंगोल

हिमालय के उधर तिब्बत का पठार है और इससे भी आगे, पूर्व में, चीन देश स्थित है। मंगोल जाति के लोग इन प्रदेशों में बसते हैं। रूप-रंग में ये द्राविड़ों से बहुत भिन्न हैं। इनका सिर चौड़ा और वर्ण पीलापन लिए है। मुख पर बहुत कम बाल होते हैं। नाक, जड़ की जगह, एक दम बैठी हुई होती है। आँखें सीधी न होकर कुछ तिर्छी होती हैं। छोटे कद और चपटे मुँह वाले ये लोग, जिनका मूल देश उत्तर-पश्चिमी चीन है, सुदूर अतीत में नई धरती की खोज में निकल पड़े और अन्त में तिब्बत पहुँचे। हिमालय ने निश्चय ही इनके मार्ग को अवरुद्ध कर दिया होगा, नहीं तो ये भारत के मैदानी प्रदेश में आकर डेरा डालते। यदि ऐसा हो जाता तो भारत का इतिहास दूसरा ही होता। लेकिन हिमालय की दुर्गम घाटियों ने इसकी सम्भवना न छोड़ी और ये लोग धीरे-धीरे ब्रह्मपुत्र की घाटियों में उतर कर आगे बढ़े और आसाम तथा बंगाल के कुछ भागों में बस गए।

इनमें से कुछ और भी नीचे उतरे; चिन्दविन, सितांग और

इरावदी के साथ-साथ चल कर इन्होंने बरमा पर अपना अधिकार जमाया। इनकी ये सामूहिक यात्राएँ बहुत लंबे समय तक चलती रही होंगी। इन यात्राओं में उत्तर और उत्तर-पूर्वी भारत के निवासियों से इनका सम्पर्क हुआ। फलतः बरमा, आसाम, हिमालय के उपप्रदेश, नेपाल और भूटान में मंगोल जाति के विभिन्न रूप, कुछ अन्तर के साथ, पाए जाते हैं। बंगाल और उड़ीसा में मंगोल और द्रविड़ों का काफी सम्पर्क हुआ जिसके परिणाम स्वरूप उस जाति ने जन्म लिया जो आज मंगोल-द्रविड़ कहलाती है।

यवनों का आगमन

ऐतिहासिक काल में भारत के भागों को विजय करने या यहाँ बसने के लिए अनेक विदेशी जातियों के आगमन का पता चलता है। इनमें सब से पहले फ़ारस के निवासी थे। ईरान के शासक डेरियस के नेतृत्व में उन्होंने आक्रमण किया और उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया। डेरियस, हस्तास्पेस (Hystaspes) का पुत्र था। सिकन्दर के आक्रमण के दौरान में और उसकी मृत्यु के बाद भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा यूनानी सरदारों और राजाओं के हाथ में रही जो बैक्ट्रिया से आए थे। ईरान और यूनान के ये निवासी, वास्तव में, आर्य थे जो सदियों पहले मूल इन्डो-आर्यनों से बिछुड़ कर अलग हो गए थे।

शक, यूची और हूण

दूसरी सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया की एक पर्यटनशील जाति 'शक' भारत में आई और उसने देश के उत्तरी तथा पश्चिमी भाग में अपने स्वतंत्र राज्य कायम कर लिए। शकों का अनुसरण एक दूसरी खानाबदोश जाति यूची ने किया। कुषण इसी जाति के एक वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। ईसा काल के प्रारम्भ में इन्होंने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना की थी। कुषणों के बारे में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे अनार्य थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वे ईरान और यूनान के आर्यों से बहुत अंशों में मिलते थे। लेकिन हूणों के सम्बन्ध में, जिन्होंने पाँच या छः ईसवी में भारत में प्रवेश किया, इस तरह का सन्देह नहीं किया जा सकता

वे आर्य थे और एक काल तक भारत के काफी बड़े भाग पर उनका अधिकार रहा। सातवीं सदी में उनकी शक्ति क्षीण हो गई और उनके पाँव उखड़ गए।

उत्तरी भारत में जातीय मिश्रण

इस प्रकार आर्यों के बाद कितनी ही विदेशी जातियाँ भारत में आईं—ईरानी, यूनानी, शक, यूची और हूण आदि। भारत में आकर ये जातियाँ बस गईं और यहाँ के निवासियों के साथ घुल-मिल कर रहने लगीं। जातीय मिश्रण का यह क्रम उत्तरी भारत में सदियों तक चलता रहा। लेकिन दक्षिण में जाकर जो द्रविड़ बस गए थे, वे इस मिश्रण से मुक्त रहे और अपने व्यक्तित्व, संस्कृति और सभ्यता को विशुद्ध रूप में सुरक्षित रख सके। विदेशी संस्कृति का प्रसार उत्तरी भारत तक ही सीमित रहा और दक्षिणी भारत, दूर तथा दुर्गम होने के कारण, उससे बच गया।

अन्य आक्रमण

भारत पर अब तक जितने सैनिक आक्रमणों का हम उल्लेख कर चुके हैं, वे सब स्थल-मार्ग से हुए। वास्कोडिगामा के समय तक अन्य कोई जाति समुद्री मार्ग से भारत पर आक्रमण करने की कल्पना तक नहीं कर सकी थी। सातवीं और आठवीं सदी में अरबों ने समुद्री मार्ग से आक्रमण करने का प्रयत्न किया था, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। इसके बाद उन्होंने मकरान और बिलोचिस्तान के स्थल-मार्ग से आक्रमण किया और सिंध को जीतने में सफलता प्राप्त की। सिंध और उसके आस-पास के प्रदेश पर अरबों का आधिपत्य अल्पकालिक रहा। उन्होंने सिंध पर विजय तो प्राप्त की, लेकिन उसका कोई फल न निकला।

अरबों के काफी समय बाद अफगानों, तुर्कों और मुगलों ने—जो इसलाम धर्म के अनुयायी थे—उत्तर-पश्चिमी सीमा के ऐतिहासिक दर्रों को पार कर भारत पर आक्रमण किया। उनके बाद अंग्रेज आए—पहले शान्तिप्रिय व्यापारियों के रूप में और बाद में उनमें भारत पर आधिपत्य जमाने की महत्वाकांक्षा जाग्रत हो गई। इस महत्वाकांक्षा से प्रेरित उनके प्रयत्नों का विवरण प्रस्तुत इतिहास के दूसरे खण्ड से सम्बन्ध रखता है।

तीसरा परिच्छेद

आर्य—उनकी जाति और जन्म-स्थान

[१]

द्रविड़ों के उत्तर-भारत में बसने के बहुत बाद, उत्तर-पश्चिम की ओर से, बाढ़ की तरह, बलिष्ठ और युद्ध-प्रिय जाति के लोगों का आगमन भारत में शुरू हुआ। उत्तर-पश्चिमी प्रदेश से द्रविड़ों को खदेड़ कर, उनके स्थानों पर इन लोगों ने अधिकार किया और समूचे हिन्दुस्तान में फैल गए।

ये लोग आर्य कहलाते थे। ईरान तथा अन्य प्रदेशों में रहने वाली जाति से भिन्नता प्रदान करने के लिए इन लोगों को इन्डो-आर्यन भी कहा जाता है। आर्य का अर्थ है अच्छे और ऊँचे कुल का वंशज। मूलतः इस शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए होता था जो वैदिक मंत्रों की रचना करते थे। इस शब्द का प्रयोग अपने को उन शत्रु-जाति के लोगों से अलग करने के लिए होता था जो भारत में पहले से रहते थे—अर्थात् द्रविड़ जाति के लोग, जिन्हें आर्य दस्यु कहते थे।

आर्य

इनका कद लम्बा और काठी मज़बूत होती थी। इनका वर्ण गौर और नाक तोते की तरह होती थी। कृष्ण वर्ण और छोटे कद के द्रविड़ों से ये सर्वथा भिन्न लगते थे। सभ्यता और संस्कृति में भी वे भारत के आदि निवासी द्रविड़ों से अधिक उन्नत थे। सदियों से शीतोन्मुखी तथा नम जलवायु में रहने दूध, माँस और गेहूँ का प्रचुर मात्रा में उपभोग करने और खुले वातावरण में व्यायाम-प्रिय जीवन बिताने के कारण इस जाति ने संसार की जातियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया था। खेती के साथ-साथ वे अनेक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में भी अत्यन्त कुशल थे। मेहनत और धन खर्च करके उन्होंने अस्त्रों का निर्माण किया था। अब तक उन्होंने समुद्र के दर्शन नहीं किए थे, लेकिन

नदी और झीलों को अपनी बनाई हुई नौकाओं से पार करना जानते थे। उनका मस्तिष्क "प्रभावशील था, प्राकृतिक दृश्य और घटनाएँ उनके चिन्तन का विषय होती थी; लेकिन सूक्ष्म विचार और ज्ञान के क्षेत्र में अभी तक उन्होंने प्रवेश नहीं किया था—अधिक-से-अधिक सौ तक ही वे गिन सकते थे।"

इन्डो-आर्यन परिवार

कतिपय विद्वानों का विश्वास है कि ये आर्य, जो इस प्रकार भारत में आकर बस गए, इन्डो-आर्यन-परिवार की ही एक शाखा थे। ईरानी, यूनानी, रोमन, जर्मन, फ्रैंच और अंग्रेज़ भी इसी वृहत् इन्डो-आर्यन परिवार के सदस्य हैं। इनकी भाषाओं के अनेक शब्दों में साम्य पाया जाता है। इस साम्य के आधार पर यह माना जाता है कि संस्कृत, फारसी, तातारी, जर्मन, यूनानी और अंग्रेजी भाषा-भाषियों के पूर्वज, सुदूर अतीत में, एक ही घने क्षेत्र में एक साथ रहते होंगे और फिर, विभिन्न दिशाओं में, आर्थिक और जल-वायु-सम्बन्धी परिस्थितियों से बाध्य होकर, चले गये होंगे।*

---

* इस धारणा के लिए हम सर विलियम जोन्स के ऋणी हैं। आप किसी समय बंगाल के प्रधान न्यायाधीश थे। आपके प्रयत्नों से १७८६ में बंगाल में एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की स्थापना हुई थी। इस सोसायटी के द्वारा आपने भारत भाषा विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के कार्य की नींव डाली थी।

इन्डो-यूरोपियन या इन्डो-जर्मन-भाषा भाषियों के लिए वाइरोस (wiros) शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द प्रायः उन सभी भाषाओं के लिए प्रयुक्त होता है जिनका हमने यहाँ जिक्र किया है। वाइरोस भाषाओं की मौलिक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता—"यद्यपि साधारणतया इस शब्द से यह समझा जाता है कि इसमें वे सभी विशेषताएँ मौजूद हैं जो टैसिटस के शब्दों में, प्रथम शताब्दी ए० डी० के जर्मनों में पाई जाती थीं।"

उस काल के जर्मन अनेक भाषाएँ बोलते थे। इन विभिन्न भाषाओं में जो साम्य है, उसका कारण यह भी हो सकता है कि किसी समय ये सब जर्मन एक ही क्षेत्र में सीमित, बहुत अर्से तक, रहते रहे हों और इन्हें दुर्गम पहाड़ों या नदियों के कारण बाहरी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर न मिला हो।

आर्यों का मूल स्थान

यदि किसी तरह उस घने क्षेत्र का पता चल सके जहाँ इन्डो-आर्यन परिवार के भाषा-भाषियों के पूर्वज रहते थे तो हमें संस्कृत-भाषा-भाषी आर्यों के जन्म-स्थान का पता मिल सकता है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समुलर का कहना है कि आर्य भारत में मध्य एशिया से आए इसलिए उनका जन्म-स्थान एशिया है। कुछ विद्वानों के अनुसार आर्यों का जन्म-स्थान दक्षिणी रूस के स्टेपीज़ हैं। देश-गौरव बालगङ्गाधर तिलक ने मौलिक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक आर्य भारत में ध्रुव प्रदेश से आए हैं। उनके कथनानुसार वैदिक साहित्य में इसके अनेक संकेत मिलते हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि वैदिक आर्यों के पूर्वज ध्रुव प्रदेश की कितनी ही विशेषताओं से परिचित थे—वहाँ का वर्ष एक सुदीर्घ दिन और सुदीर्घ रात से बनता है, वहाँ के तारक मण्डल क्षितिज के समानान्तर चन्द्राकार घूमते रहते हैं, वहाँ का उषा-काल कई दिन के बराबर होता है। स्थान की तंगी और हिमागारों से बाध्य होकर आर्यों को ध्रुव प्रदेश छोड़ना पड़ा और उनका एक भाग ईरान के हिन्दूकुश के पहाड़ी प्रदेश और इन्दस घाटी में बस गया। ईरानियों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ जेन्द आवेस्ता में भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि आर्यों को हिमागारों के कारण ध्रुव प्रदेश छोड़ना पड़ा और वे तुर्किस्तान तथा कास्पियन सागर के आस पास के प्रदेश में जाकर बस गये।

इसके सिवा इनकी भाषाओं में ऐसी कोई विशेषता नहीं मिलती जिससे यह समझा जाए कि वे किसी द्वीप में रहते होंगे। अपितु इसकी सम्भावना अधिक है कि वे किसी नम प्रदेश में स्थायी रूप से शान्ति के साथ बस गए हों। कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इन्डिया, भाग १, परिच्छेद ३।

तिलक-लिखित 'आर्कटिक होम इन दि वेद', पृष्ठ १६—इसे पढ़ने से पता चलता है कि हिमागार-काल में आर्य जाति ध्रुव-प्रदेश में रहती थी। ज़ेन्द आवेस्ता में जिस हिमागार का उल्लेख है, वह यूरोप के हिम-काल से भिन्न नहीं है। लगभग ८००० ईसा पूर्व में आर्य-ध्रुव-प्रदेश से चल पड़े थे। ६००० ई० पू० में ये मध्य एशिया और बाद में उन देशों में जाकर बस गए जिनका उल्लेख जेन्द आवेस्ता में मिलता है।

जो भी हो, आर्यों के आदि-स्थान की खोज करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ वे सब पशु-पक्षी और वनस्पति मिलने चाहिएँ जिनके नाम इन्डो-यूरोपियन परिवार की सभी भाषाओं में समान रूप से पाए जाते हैं। यदि इस कसौटी पर कोई प्रदेश सही नहीं उतरता तो उसे आर्यों का आदि-स्थान मानना कठिन है। अतः हमें ऐसे प्रदेश की खोज करनी होगी जो इन विशेषताओं को पूरी करता हो। फलतः आर्यों का आदि-स्थान वह प्रदेश है जो "पूर्वी दिशा में कार्पेथियन, दक्षिण में बालकन, पश्चिम में आस्ट्रियन आल्प और बोहमर वाल्ड और उत्तर में एर्जेगवर्ज तथा उन पहाड़ों से घिरा है जो कार्पेथियन से जाकर मिल जाते हैं।" मोटे रूप में यह वह प्रदेश है जहाँ आज हंगरी, आस्ट्रिया और बोहेमिया बसे हुए हैं। एक अन्य मत के अनुसार आर्यों का आदि-स्थान रूस के स्टेपीज़ के दक्षिणी भाग में था।*

आर्यों का प्रस्थान

अपने आदि-स्थान से आर्यों के दल-के-दल, एक के बाद एक, अपने साथ स्त्रियों और बच्चों को लिए हुए, चल पड़े। इन्डो-युरोपियन परिवार के इन लोगों की पूर्वी शाखा, अन्त में, भारत तक आने में समर्थ हुई। प्रस्तुत जानकारी के आधार पर यह बताना कठिन है कि किन मार्गों से होकर ये लोग भारत पहुँचे। लेकिन स्त्री-बच्चों को अपने साथ लेकर चलने वाले इन लोगों ने सुगम-मार्ग ही अपनाया होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। यह सहज मार्ग बोसपोरस या दर्रेदानियाल से होकर, एशिया माइनर के

---

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १ पृष्ठ ६६। द्रविड़ों और आर्यों दोनों के आदि-स्थान के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। कलकत्ता के एक विद्वान् श्री ए० सी० दास ने काफी शक्ति और तर्कों के साथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों का आदि क्रीड़ा-स्थल सप्तसिन्धु का प्रदेश था—उत्तर में काश्मीर की सुन्दर घाटी और पश्चिम में गांधार जिसमें सम्मिलित थे। देखिए ए० सी० दास लिखित ऋग्वैदिक इन्डिया। इसके साथ-साथ पर्जिटर अपनी पुस्तक 'एशेंट हिस्टारिकल ट्रैडीशन' के पृष्ठ ३०२ में जिन परिणामों पर पहुँचा है, उनकी भी तुलना कीजिए।

पठार से, आया होगा। इसके बाद वान झील के दक्षिण से झील उर्मिया तक के निम्न पहाड़ों को पार करते हुए, कास्पियन सागर के दक्षिणी छोर से आर्य लोग मशहाद पहुँचे होंगे। मशहाद से हिरात का रास्ता आसान है। यह भी सम्भव है कि इस यात्रा के दौरान में आर्यों ने बैक्ट्रिया (बलख) पर अधिकार जमा लिया हो, आमेर डेरिया या आक्सस तथा साइर डेरिया के बीच के उपजाऊ प्रदेश पर भी उनका कब्ज़ा हो गया हो।*

बोगज़कोई का उत्कीर्ण लेख

आर्य इस प्रकार पूर्व की ओर बढ़ते गए। अभी तक वे संयुक्त और अविभाजित थे। इन्हें हम इन्डो-युरोपियन कहते हैं। सौभाग्य से ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे इसकी पुष्टि की जा सकती है। जर्मनी के बोगज़कोई स्थान में जो खुदाई हुई है, उसमें अनेक ऐसे लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें इन्द्र, वरुण और सहोदर भाई नासत्यों के ठीक उसी प्रकार के नाम आते हैं, जैसे भारतीय ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। इन नामों के अस्तित्व का एक कारण यह बताया जाता है कि "यहाँ, सुदूर पश्चिम में, आर्यों के चिन्ह का होना यह प्रकट करता है कि पूर्व की ओर यात्रा करते समय इस प्रदेश से भी उनका सम्पर्क स्थापित हुआ था।"

बोगज़कोई के इन लेखों का काल १४०० ईसा पूर्व बताया जाता है। इनके आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि किस काल में इन्डो-युरोपियन जाति दो भागों—ईरानी-आर्य और इन्डो-आर्य—में विभक्त हुई थी।†

ईरानी और आर्यों का विभाजन

इस विभाजन का कारण सहज ही समझ में आ सकता है। जब आर्य, संयुक्त रूप में, ईरानी पठार में रहते थे, उनमें

* देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया भाग १ पृष्ठ ७०

† यह भी सम्भव है कि इन्डो-युरोपियनों के प्रारम्भिक दल पूर्व दिशा में और भी आगे बढ़ गए हों—यहाँ तक कि भारत भी पहुँच गए हों। अपने इस आदि-निवास स्थान से इस जाति के स्थानान्तर काल को संगति प्रदान करने के लिए उसे २५०० बी० सी से पूर्व ले जाने की आवश्यकता नहीं है।

धार्मिक मतभेद, शुरू हो गए। एक दल प्राकृतिक शक्तियों का, पहले की भाँति, पुजारी बना रहा। उसके देवता थे—वरुण, सोम, मित्र आदि। दूसरे दल ने विश्व की अधिक ऊँची और व्यापक कल्पना की जिसके अनुसार विश्व का सूत्र सञ्चालन एक सर्वोपरि शक्ति, जिसे वे आहुर मजदा कहते थे, करती थी। धीरे-धीरे ये लोग असुर और प्राकृतिक देवताओं के पुजारी देव कहलाने लगे। इन दोनों दलों में—असुरों और देवों में—संघर्ष शुरू हुआ और इस संघर्ष में असुरों की विजय हुई। पराजित होने पर देवों ने ईरान के उत्तर-पूर्वी भाग में शरण ली। यहाँ से, काफ़ी मुसीबतें उठाने और संघर्ष करने के बाद, वे पंजाब में आकर बस गए।*

[२]

ऋग्वेद का काल

आर्यों के जीवन के सम्बन्ध में हम उनके सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद से बहुत कुछ जान सकते हैं। ऋग् (ऋक्) शब्द का अर्थ है पद्य और वेद शब्द का ज्ञान—अपौरुषेय ज्ञान प्राचीन ऋषियों के सभी ग्रंथों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन और पूज्य माना जाता है। इसमें १०१७ सूक्त और दस मण्डल हैं। इन सूक्तों में उस काल

---

* शतपथ ब्राह्मण में इस प्राचीन संघर्ष का काफी अच्छा और स्पष्ट विवरण है। असुरों के सम्बन्ध में कहा गया है कि सत्य को छोड़ कर असत्य को उन्होंने ग्रहण कर लिया था। पारसियों के धर्म ग्रन्थों (यसना २०) में जो इस सम्बन्ध के उल्लेख मिलते हैं उनमें देवों को असत्यपथ-गामी बताया गया है। असुर, जिसे आवेस्ता में स्वामी तथा सबसे बड़ा देवता माना गया है, ब्राह्मणों के साहित्य में राक्षस बन गया। देव शब्द भारतीयों के लिए 'शुभ' का द्यातक है, किन्तु पारसी उसे राक्षस का द्योतक मानते हैं। इन्द्र को भी आवेस्ता में राक्षसों की पंक्ति में रखा गया है।

असुरों और देवों का यह संग्राम दीर्घ काल तक और व्यापक क्षेत्र में चला। विशेष विवरण के लिए मार्टिन हाग कृत ऐतरेय ब्राह्मण, भाग २ पृष्ठ ३३ और बी० एस० दयाल कृत 'ए हिस्ट्री आफ इन्डिया फ्राम दि अलियस्ट टाइम्स', भाग १, पृष्ठ २३-२५ देखिये।

की प्रचलित धार्मिक परम्परा वर्णित है। आदि-आर्यों की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को समझने में इन मंत्रों से विशेष सहायता मिलती है।

वैदिक आर्यों का विस्तार

ऋग्वेद से इस बात का पता नहीं चलता कि आर्य किस प्रकार भारत में आए। लेकिन उसमें जिन नदियों तथा पहाड़ों का उल्लेख है, उनके नामों से हम उस क्षेत्र का अनुमान लगा सकते हैं जहाँ वे, अपने इतिहास के प्रारम्भिक काल में, रहते थे। ऋग्वेद में कुभ (काबुल), सुवस्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गुमल) नदियों का उल्लेख है। इन नामों से पता चलता है कि अफगानिस्तान के प्रदेश, स्वात, कुर्रम और गुमल नदियों की घाटियों में वे सबसे पहले बसे थे। इन्दस नदी पर भी उनकी अनेक बस्तियाँ थीं। सागर तक सम्भवतः वे अभी नहीं पहुँचे थे। पंजाब के प्रदेश को उन्होंने अधिकृत कर लिया था, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, क्योंकि पंजाब की पाँचों नदियों का ऋग्वेद में उल्लेख है। इनमें परुष्णिनी (रावी) नदी का उस काल के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी नदी के तट पर दस राजाओं का युद्ध हुआ था। सतलज और यमुना के बीच में सरस्वती नदी का उल्लेख है। यमुना का उल्लेख तीन बार हुआ है जिससे पता चलता है कि ऋग्वेद काल में आर्य यमुना तक पहुँच गए थे। गंगा के प्रदेश में, जहाँ तक पता चलता है, वे अभी तक अपना अड्डा नहीं जमा सके थे। ऋग्वेद के सूक्तों में गंगा का उल्लेख एकाध बार ही मिलता है। नर्मदा और विन्ध्या की पहाड़ियों का भी उनमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। शेर, जो बंगाल का जीव है, और चावल जो दक्षिण-पूर्व की उपज है, ऋग्वेद में इनका भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे मालूम होता है कि आर्य उत्तरी भारत में भी नहीं पहुँचे थे। संक्षेप में ऋग्वेद-काल में आर्य काबुल की घाटी, पंजाब और सतलज तथा यमुना के बीच के पूर्वी प्रदेश में बसे हुए थे।

वैदिक काल के युद्ध

ऋग्वेद में युद्ध और लड़ाइयों का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। भारत के आदि-निवासियों तथा अन्य उपजातियों से आर्यों को अनेक युद्ध करने पड़े थे। आर्य इन्हें दस्यु या दास—अंधकार के पुत्र—कहते थे।* एक सूक्त में दस हजार कृष्ण वर्ण सैनिकों के बेड़े का, जो आंशुमती नदी के तट पर पड़ाव डाले था, उल्लेख है। आदि-निवासियों से होने वाले युद्धों से भी अधिक महत्व-पूर्ण उल्लेख उन संघर्षों का है जो स्वयं आर्यों के विभिन्न दलों के बीच होते थे। ऐसा मालूम होता है कि जो आर्य पहले आए, उनके नेताओं ने इन्दस की उपजाऊ घाटी के प्रदेशों को आपस में बाँट कर छोटे-मोटे राज्य स्थापित कर लिया। आर्यों के इन आदि राजाओं के बीच वहुधा संघर्ष चलता रहता था। दस राजाओं के जिस युद्ध का ऋग्वेद में उल्लेख है, वह इन्हीं राजाओं के आपसी संघर्ष से सम्बन्ध रखता है। यह संघर्ष सम्भवतः दो प्रदेश में रहने वाले आर्यों के बीच था—एक तो वे जो ब्रह्मावर्त के प्रदेश में बसे थे और 'भरत' कहलाते थे, दूसरे आर्यों की वे उपजातियाँ जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में बस गई थीं। 'भरतों' के अलावा दो अन्य वर्ग त्रित्सु और पुरुष, इस काल के इतिहास में आते हैं। ऋग्वेद में पाँच वर्ग के लोगों—पञ्च जन्य—का उल्लेख जगह-जगह मिलता है। इसके आधार पर यह सहज ही माना जा सकता है कि पंजाब में जो आर्य बसते थे, वे पाँच वर्गों में विभाजित थे। दोनों ही इन्द्र और अग्नि को, जो उनके प्रमुख

---

* दस्यु, स्पष्टतः, पंजाब के आदि निवासी थे। आकार-प्रकार, रूप-रेखा भाषा और धर्म की दृष्टि से वे आर्यों से सर्वथा भिन्न थे। वे कृष्ण वर्ण थे, नाक उनकी नहीं के बराबर थी, त्याग और बलिदान से अपरिचित तथा देवताओं से वे विमुख थे। उनकी धार्मिक प्रथाओं के बारे में केवल दो स्थानों पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि वे शिश्न की पूजा करते थे। शिश्नदेव का ऋग्वेद में घृणा और उपेक्षा के साथ उल्लेख मिलता है। लेकिन बाद में शिश्न-पूजा ने काफी व्यापक स्थान ग्रहण कर लिया था। देखिए ग्रिसवोल्ड लिखित 'रिलीजन ऑफ ऋग्वेद', पृष्ठ १६-४०।

देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ८१

देवता थे, मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व की ओर अबाध गति से बढ़ते हुए, इन्हें कुछ समय के लिए सरस्वती और कुरुक्षेत्र के प्रदेश में रुक जाना पड़ा। दस्युओं के सामूहिक अवरोध के कारण सम्भवतः ऐसा हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रदेश में वे एक साथ मिल कर रहने के लिए बाध्य हुए। इस मिश्रण के फलस्वरूप आगे चल कर उत्तरी गंगा और यमुना के प्रदेश में बसने वाले आर्य पाञ्चाल कहलाए। जब तक आर्य पंजाब में रहे, तब तक वर्गों में विभाजित तथा व्यवस्थित थे। लेकिन जब आगे बढ़कर गंगा के दोआबा में फैल गए, तब उनकी समाज-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। पेशे के अनुसार वे विभिन्न वर्गों तथा जातियों में बँट गए।

आर्यों की युद्ध-कला

युद्ध-कला में आर्यों के राजा और सरदार सादे रथों पर चढ़ कर भाग लेते थे। शेष आर्य उनके पीछे पैदल चलते थे। कमान और विष-बुझे तीरों का खुल कर प्रयोग होता था। बल्लम, भाले, तलवार, फरसे, गुलेल आदि उनके हथियार थे। आर्यों के पास घोड़े भी बहुसंख्या में थे। लेकिन इसका पता नहीं चलता कि घोड़सवार सेना का वे उपयोग करते थे या नहीं। साधारणतया युद्ध का प्रारम्भ वन्दना और मंत्रों के उच्चारण के साथ होता था। नदियों के तट बहुधा उनके युद्ध-क्षेत्र बनते थे— उदाहरण के लिए दस राजाओं का युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर हुआ था।

कृषि तथा उद्योग-धंधे

युद्ध-कला में ऋग्वेद-काल के आर्य अत्यन्त निपुण थे, साथ ही वे शान्तिमय जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते थे। युद्ध-कला के साथ-साथ कृषि-विज्ञान में भी वे पारंगत थे। खेतों को सिंचाई के लिए उन्होंने गहरे कुएँ खोदने और नहरें बनाने में अद्भुत क्षमता का परिचय दिया था। हल चलाने के लिए घोड़ों को जोतते थे। जौ और गेहूँ की खेती प्रमुख रूप से करते थे।

आर्यों ने बड़े-बड़े नगरों की रचना अभी तक नहीं की थी। ऋग्वेद में नगरों के जीवन का कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन रक्षा के लिए वे मिट्टी के परकोटे, अपनी बस्तियों के चारों ओर, अवश्य बनाते थे। उनके उद्योग-धंधे केवल युद्ध में काम आने वाली वस्तुओं—गाड़ी, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि—तक ही सीमित थे। घरेलू उपयोग के बरतनों के बनाने में धातुओं का प्रयोग प्रचुर मात्रा और व्यापक रूप में होता था।

सामाजिक स्थिति

ऋग्वेद काल के आर्यों की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक परिवार पर आधारित थी। फलतः उनकी वंश परम्परा पिता से शुरू होती थी। उनमें एक पत्नीव्रत का चलन था, यद्यपि राजा तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति—सरदार आदि—एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। स्त्रियों में आचार-विचार का ध्यान रखा जाता था और उनकी नैतिक शक्ति बहुत ऊँची थी। ऋग्वेद में बहुपति-प्रथा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

कन्या के स्थान पर पुरुष-सन्तान को समाज में ऊँचा स्थान दिया जाता था क्योंकि अन्तिम क्रिया-कर्म करने का अधिकार उसी को था। विवाह-संस्कार उनके जीवन का अनिवार्य अंग था और उसे बहुत ही पवित्र तथा ऊँचा पद दिया जाता था। संयुक्त परिवार-प्रथा को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था और परिवार के सबसे बड़े पुरुष-सदस्य का नियंत्रण परिवार के सभी सदस्य मानते थे।

राज-कार्य क्षत्रियों के हाथ में रहता था। राजा उन्हीं में से होते थे और सैनिक का काम भी वे ही करते थे। पुरोहितों का वर्ग काफी विकसित था—इन्डो-आर्य और ईरानी-आर्यों के विभाजन के बहुत पहले यह वर्ग विकसित हो चुका था। सोम और अग्नि देवता से सम्बन्धित अनेक पूजा-विधियों की रचना वे कर चुके थे। राजा और पुरोहितों के कर्तव्य स्पष्ट रूप में निर्धारित कर दिए गए थे जिससे दोनों के बीच संघर्ष न हो। पुरोहितों में अनेक श्रेणियाँ थीं—जैसे होत्री, प्रशास्त्री, और अध्वर्यु। इनके कार्य भी अलग-अलग थे—कुछ मंत्रोच्चारण करते थे, कुछ बलि-

कार्य को सम्पन्न करते थे। इसी प्रकार अन्य कार्य इन विभिन्न श्रेणियों में विभाजित थे। पुरोहित राजा या सरदार को राजनीतिक तथा धार्मिक मामलों में अपनी मंत्रणा से सहायता देता था। आर्य-जाति के शेष लोग वैश्य (जनसाधारण) कहलाते थे। वैश्य खेती और व्यापार का काम करते थे। शूद्र साधारणतया उन लोगों को कहा जाता था जिनकी धमनियों में आर्य-रक्त नहीं था, जो आर्य-वर्ण और आर्य-धर्म से हीन थे। ऋग्वेद में शूद्र शब्द का उल्लेख एक ही बार हुआ है और उसके अन्तर्गत वे सब आदि-निवासी आ जाते हैं जिन्हें आर्यों ने पराजित कर दासत्व की स्थिति तक पहुँचा दिया था।

राजनीतिक व्यवस्था

ऋग्वेद-काल के समाज का केन्द्र ग्राम था। प्रत्येक ग्राम एक समिति (विस) का सदस्य होता था और इन समितियों से मिल कर जन-सभा की रचना होती थी। कितने ही विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद-काल में वर्ण व्यवस्था के लिए स्थान नहीं था। लेकिन ऋग्वेद के बाद के मंत्रों में—जैसे पुरुष सूक्त में—हिन्दुओं के चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है।

उस काल की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में ऋग्वेद से कम जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में जिन राज्यों का उल्लेख मिलता है, उनमें से अधिकांश असंदिग्ध रूप से राजतंत्रीय थे। इसके सिवा अन्य किसी प्रकार की शासन-व्यवस्था उस काल में मान्य नहीं थी। राजा को प्रायः परम्परागत अधिकार प्राप्त होता था। कर्तव्यों का स्पष्टतः कहीं उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन उनमें जनता की रक्षा करना, ग्राम या जनसमूह की ओर से बलिप्रदान करना आदि निश्चय ही सम्मिलित थे। राजा अपनी प्रजा से उपहार और भेंट स्वीकार करता था और विजित भूमि का काफी भाग उसके हिस्से में सम्मिलित होता था।

राजाओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य कतिपय अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए सेनानी की नियुक्ति सम्भवतः सैन्य-सञ्चालन के लिए की जाती थी। इसी प्रकार ग्रामणी होते थे। इनका काम सेना की छोटी टुकड़ियों का नेतृत्व

करना था। पुरोहित का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था। वह सदा राजा के साथ रहता और उसके मंत्री का काम करता था। युद्ध-क्षेत्र में राजा के आदेशों का समर्थन, उनकी पुष्टि, पूजा और मन्त्रों के उच्चारण के कार्य, पुरोहित ही करता था।

ऋग्वेद में जन-सभा और ग्राम-समितियों का उल्लेख मिलता है। ये समितियाँ और सभा किस प्रकार कार्य करती थीं, इसका विवरण उपलब्ध नहीं है। लेकिन इसी प्रकार की प्राचीन कालीन यूनानी समितियों और उनके कार्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद-काल की सभा-समितियाँ राजाओं की विदेशी-नीति को ढालने में काफी हद तक भाग लेती होंगी।*

धार्मिक जीवन

वैदिक आर्यों का धार्मिक जीवन प्रकृति के शुभ रूपों की उपासना पर आधारित था। प्रकृति के विभिन्न उपादानों को विभिन्न नाम दिए गए थे और इनकी उपासना से शुरू करके उन्होंने एक विश्व-व्यापी चेतना की कल्पना की थी। उनके देवता, जिनकी वे पूजा करते थे और जिनकी वन्दना के लिए उन्होंने मंत्रों की रचना की थी, निम्न लिखित थे—

द्युस (आकाश) जिसका आवाहन साधारणतया पृथ्वी के साथ होता था ; वरुण, जिसका आवाहन मित्र के साथ होता था ; इन्द्र, जिसने अपनी विनाशकारी शक्ति का प्रयोग कर वृत्र की हत्या की थी और गौ रूपी मेघों में जो निवास करता था; सूर्य और सावित्री, अग्नि, वायु, मारुत, रुद्र और यम—ये सभी प्रकृति के विभिन्न

* कुछ विद्वानों का मत है कि सभा, समिति—ये दोनों शब्द दो भिन्न प्रकार की संस्थाओं के द्योतक हैं। एक संस्था समूचे जनसमूह से—जनता से सम्बन्ध रखती है और दूसरी केवल कुलीनों और प्रमुख अधिकारियों की संस्था है। लेकिन कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि समिति का कार्य जातीय मामलों की देख-भाल करना था और सभा उस स्थान विशेष का नाम था जहाँ सब जमा होते थे। समिति में राजा की उपस्थिति का उल्लेख स्पष्टरूप से मिलता है।

रूपों के प्रतीक थे और सभी को एक विश्वव्यापी चेतना का अंग माना जाता था। ऋग्वेद में ऐसी अनेक ऋचाएँ मिलती हैं जिनमें इस अखण्ड चेतना का, एक महान् स्रष्टा के रूप में उल्लेख मिलता है।*

ऋग्वेद में जिस सभ्यता और संस्कृति का उल्लेख मिलता है, वह कैसी थी? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। प्रोफेसर मैक्समुलर का विचार है कि वैदिक ऋचाएँ, विशेषकर वे जो सबसे प्राचीन हैं, १२०० और १००० ई० पू० में रची गई थीं। भारतीय विद्वान् इस काल को और भी प्राचीन मानते हैं और उनका कहना है कि इनकी रचना ३००० या ४००० ई० पू० में हुई थी।

---

* ऋग्वेद काल के देवताओं को, प्राचीन और नवीन, दो भागों में बाँटा जा सकता है। द्युस, यूनानियों के ज्युस से मिलता है; वरुण जिसकी कल्पना ने आर्यों को प्रकृति के स्रष्टा के बारे में चिन्तन करने की प्रेरणा दी थी; अग्नि जिसके निवास-स्थान तीन बताए गए हैं—(१) आकाश में सूर्य (२) मेघों में विद्युत् और (३) धरती की साधारण अग्नि; सूर्य, जो यूनानियों की रीतियों और लातीनों के 'साल' से मिलता है, जिसे सावित्री और मित्र के रूप में सम्बोधित किया जाता है और विष्णु के रूप में जो तीन डगों में विश्व को नापता है; यम जो मृत्यु का देवता है और जो ईरानियों के त्रिम से मिलता है। ये सब प्राचीन देवताओं की श्रेणी में आते हैं।

इन्द्र को कतिपय भारतीय विद्वान् प्रमुख रूप से भारतीय-कल्पना से उद्भूत मानते हैं—वह वर्षा करवाता है, आर्यों का मित्र और दस्युओं का काल है। रुद्र मारुतों और आश्विनों का पिता है। ये सब नये देवता हैं। अङ्गीरस और भृगु आदि प्राचीन ऋषि भी बहुधा देवताओं की पंक्तियों में शामिल किये जाते हैं। सोम को भी देवत्व के पद पर आसीन कर दिया गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल की १२१ वें ऋचा में विश्व की उत्पत्ति का जो वर्णन है, उससे इस सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इन दोनों मतों के अनुसार एक वर्ग वेद का रचना-काल १०००-६०० बी० सी बताता है और दूसरा उसे ४५००-२५०० तक ले जाता है। हापकिन्स और जैक्सन इन दोनों अमरीकन विद्वानों के अनुसार रचना-काल आगे चला आता है। अपने पक्ष में वे कहते हैं—(१) ऋग्वेद और आवेस्ता की भाषा में केवल उच्चारण-सम्बन्धी स्थानिक अन्तर है। आवेस्ता के प्राचीनतम भाग

[३]

उत्तर कालीन संहिताओं का युग

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद-काल में आर्यों का जीवन और उनके कार्य, कम-व-अधिक रूप में, कुछ खास क्षेत्रों तक ही सीमित थे। उनका कार्य क्षेत्र पंजाब और इन्दस के प्रदेश, सरस्वती और दृशवती के बीच के इलाके तक सीमित था। किन्तु ऋग्वेद-काल के बाद जो संहिताओं का युग शुरू होता है, उसमें आर्यों का जीवन सर्वथा नये रूप में हमारे सामने आता है। ऋग्वेद और बाद के साहित्य में जो भेद है, वह स्पष्ट है। ऋग्वेद-काल की अपेक्षा संहिताओं का युग छोटा है। संहिताओं में सामवेद में उन मंत्रों का संकलन है जिन्हें सामगायक अपने प्रयोग में लाते थे। इसकी विषय-सामग्री ऋग्वेद से ली गई है। यजुर्वेद में अध्वर्यु पुरोहितों के मंत्र तथा विधियाँ संग्रहीत हैं। बलि के कार्यों का सम्पादन अध्वर्य ही करते थे। दो तरह के मंत्र इसमें संकलित हैं—एक कृष्ण वर्ण के लिए, दूसरे गौर वर्ण के लिए। इन मंत्रों से जो जानकारी हमें मिलती है, ऐतिहासिक दृष्टि से वह बहुत महत्वपूर्ण है। सबसे

का रचना-काल जारेस्तर (ज़रस्तू) की तिथि से निर्धारित होता है। (२) ऋग्वेद और उपनिषदों की भाषा में उतना ही अन्तर है जितना चौसर और मिल्टन की। (३) इनके रचयिता पारसियों के प्राचीन साहित्य के रचयिताओं के समकालीन थे।

इसके प्रतिकूल एक जर्मन विद्वान् जैकोबी ज्योतिष-गणना के आधार पर ऋग्वेद के रचना-काल को २५०० से ३५०० बी० सी० तक ले जाता है। तिलक रचना-काल को और भी प्राचीन मानते हैं। जैकोबी के मतानुसार युरोप की प्रगति की कसौटी पर भारत को नहीं कसा जा सकता। बुह्लर और विन्टर निट्ज आदि दूसरे विद्वानों के मतानुसार वैदिक साहित्य तीन सहस्र वर्ष बी० सी० और भारतीय संस्कृति चार सहस्र वर्ष बी० सी० पुरानी हो जाती है। इन्दस की घाटी की खुदाई में जो आर्यों से पूर्व की संस्कृति के चिन्ह मिले हैं, उनसे इस काल की पुष्टि होती है। इन चिन्हों का काल कम-से-कम ३००० बी० सी० आंका गया है।

अन्तिम अथर्वेद है। इसमें उन मंत्रों का सङ्कलन है जो बलि का सम्पूर्ण आयोजन करने वाले पुरोहितों से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें सभी प्रकार के, एक-से-एक विचित्र, मंत्र एक जगह जमाकर दिए गए हैं। जादू-टोनों के मंत्रों के साथ-साथ इसमें उच्चकोटि के दिव्य दृष्टि से अभिभूत मंत्र सङ्कलित हैं। ऋग्वेद के वर्तमान रूप का निर्धारण अन्य संहिताओं से बहुत पहले हुआ था। प्रत्येक वेद के साथ ब्राह्मण-ग्रंथ सम्बद्ध कर दिए गए हैं जिनमें संहिताओं में वर्णित पूजा-पद्धतियों तथा अन्य विधियों का विस्तार के साथ टीका और व्याख्या की गई है। ब्राह्मण-ग्रंथों में प्राचीनतम वैदिक गद्य के उदाहरण हैं। ये आरण्यक भी कहलाते हैं। क्योंकि इनका विषय अत्यन्त गोपनीय होता था और घने जंगलों के निर्जन वातावरण में इनका अध्ययन किया जाता था। उपनिषद् नाम भी इसीलिए रखा गया कि इनका विषय गोपनीय होता था और उन्हें शिष्यों को अकेले में ही बताया जाता था। उपनिषद् का अर्थ है—निकट बैठना—शिष्य का गुरु के निकट बैठ कर उसका उपदेश ग्रहण करना। उपनिषदों में वेदों के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन किया गया है और ब्राह्मण-ग्रंथों के साथ, परिशिष्ट रूप में, वे सम्बद्ध हैं।*

---

* ऋग्वेद में एक हज़ार से अधिक मन्त्र हैं। सामवेद में १५४९ मन्त्र हैं और इनमें से केवल ७५ को छोड़ कर शेष सब ऋग्वेद से लिए गए हैं। यजुर्वेद का एक चौथाई भाग ऋग्वेद से ही लिया गया है। अथर्वेद में ६००० मन्त्र हैं, गद्य का भाग भी उसमें काफ़ी है, लेकिन उसके मन्त्रों का पाँचवाँ भाग ऋग्वेद से लिया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद तीनों वेदों का उसी प्रकार मूल स्रोत है, जैसे मैथ्यू और लूका के धर्म-ग्रन्थों के लिये मार्क की बाइबिल। चारों वेद ऋग्वेद के चार प्रतिनिधि रूप हैं—उसी आदि काल की काव्यात्मा और काव्य-सामग्री को प्रस्तुत करते हैं। यह काव्य सामग्री अव्यवस्थित और असङ्कलित थी। उसमें प्राचीन मन्त्र, जादू-टोना, दर्शन-सम्बन्धी मन्त्र, धर्म प्रधान जन-गीत—सभी सम्मिलित थे। इनमें ऐसे मन्त्र थे जो अग्नि, इन्द्र और सोम को तुष्ट करने के लिए थे, तथा गृहस्थी के जीवन अथवा जादू और टोनों से, सम्बन्ध रखते थे। यही कारण है जो ऋग्वेद में पुरोहित वर्ग के और अथर्वेद में जन-साधारण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों का बाहुल्य है।

इनके अतिरिक्त संहिता-काल में, दो महाकाव्य रामायण और महाभारत रचे गए, यद्यपि इनका रचना-काल बहुत बाद का है। इन दोनों महाकाव्यों से उस काल के सामाजिक और धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी होती है।

आर्यों के विस्तार की प्रगति

संहिता-काल में आर्य पूर्वी भारत में दूर तक बढ़ते गए और कुरुक्षेत्र उनके सभी कार्यों का केन्द्र बन गया। देश के पश्चिमी भाग उनके लिए अपेक्षाकृत महत्वहीन हो गए और पूर्वी प्रदेशों में उन्होंने लंबे-चौड़े घने राज्यों की स्थापना की। वे अब गंगा के मैदान में पूरी तरह बस गए थे। इन राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर भी पड़ा। बड़े राज्यों के निर्माण और विकास के साथ-साथ युद्ध और संघर्ष की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती गई और जनसाधारण, युद्ध की चिन्ताओं से मुक्त होकर, रचनात्मक और शान्तिपूर्ण कार्यों की ओर अधिक ध्यान देने लगे। नयी विजयों के फलस्वरूप राजा पहले से कहीं अधिक सम्पत्तिशाली हो गए और वैभव की वृद्धि के साथ-साथ अधिक बलि-अनुष्ठान करने लगे। बलि-अनुष्ठानों और पूजा-वन्दना की इस वृद्धि में नये मंत्रों की रचना इतनी तीव्र गति से होने लगी कि पुरोहित-वर्ग ने, नये-पुराने मंत्रों की मिलावट के डर और तज्जन्य गड़बड़ से बचने के लिए, मंत्रों को श्रेणी-विभाजन कर उन्हें चार वेदों में संकलित कर दिया। पूजा और बलि के अनुष्ठानों ने अब पहले से अधिक विस्तृत रूप धारण कर लिया और अधिक "जटिल, शान्दार और महँगे" हो गए।

वैदिक साहित्य में तीन श्रेणी के ग्रंथ मिलते हैं—(१) मन्त्र जो शीघ्र ही संकलित कर चार वेदों के रूप में परिणत कर दिए गए (२) ब्राह्मणों में विभिन्न संस्कारों और पूजा-पद्धतियों का उल्लेख तथा प्रतिपादन है और उपनिषदों में दार्शनिक तत्व की प्रधानता है (३) सूत्रों में वैदिक प्रथाओं और सामाजिक विधि-निषेधों का सङ्कलन है। अपने व्यापक अर्थ में वैदिक साहित्य में ये सब आ जाते हैं। देखिए ग्रिसवोल्ड की रिलीजन आफ दि ऋग्वेद, ब्लूम-फील्ड की 'रिलीजन आफ दि वेद', मैकडोनल की संस्कृत लिटरेचर और ग्रिफिथ की हिम्स आफ दि ऋग्वेद आदि।

ब्राह्मण ग्रंथ

अनुष्ठानों का रूप इतना जटिल न हो जाए कि उसकी मूल भावना विलीन हो जाए, इसलिए धार्मिक विधि निषेधों और नियमों की रचना की गई और पूजा-विधि की रूप-रेखा निश्चित कर दी गई। ये विधि-नियम गद्य में थे। विभिन्न ब्राह्मण-ग्रंथों में इन्हीं का सङ्कलन हुआ है। प्रत्येक वेद के साथ एक या अधिक ब्राह्मण-ग्रंथ सम्बद्ध हैं।

इन ब्राह्मण-ग्रंथों में विधि-नियमों के साथ-साथ मृत्यु और जीवन जैसे अनेक विषयों पर विद्वत्तापूर्ण प्रवचन भी पाए जाते हैं। इन प्रवचनों की रचना ऋषियों ने सुदूर अतीत के उन जंगलों में की थी जहाँ वे तपस्या करने के लिए चले जाते थे। इसीलिए ये प्रवचन आरण्यक कहलाते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों के अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाते हैं। इन उपदेशों में मंत्रों के भीतरी रहस्यों को प्रकट किया गया है और इनके द्वारा हमें विश्व चेतना सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।*

दो महाकाव्य

जन-प्रिय साहित्य की दृष्टि से दोनों महाकाव्य—रामायण और महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। संसार के किसी देश में और किसी युग में जन-साधारण के हृदय और मस्तिष्क को किसी अन्य साहित्य ने इतना आविर्भूत नहीं किया जितना रामायण और महाभारत ने। अधिकांश अनैतिहासिक और धूमिलतम प्रथाओं पर आश्रित रामायण मुख्यतः कल्पना-प्रसूत ग्रंथ है। फिर भी अपने शब्द-विन्यास, मौलिक शैली और रोचक कथा के कारण इसने जनता की दृष्टि और हृदय में सर्वप्रिय और सर्वमान्य स्थान प्राप्त कर लिया है।

---

* पंचविंश ब्राह्मण सामवेद के साथ, ऐत्तरेय और कौष्टिकी ब्राह्मण ऋग्वेद के साथ, तैत्तरेय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद के साथ सम्बद्ध है। इसी प्रकार तीन आरण्यक हैं—ऐत्तरेय, तैतरेय और वैष्टिकी जो इन्हीं नामों के ब्राह्मण-ग्रंथों के साथ सम्बद्ध हैं। इन आरण्यकों के साथ उपनिषद् सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त तीन आरण्यकों के अलावा कुछ आरण्यक और हैं जिनमें बृहदारण्यक और छान्दोग्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रामायण

रामायण महाभारत से प्राचीन है। यह केवल एक व्यक्ति, महर्षि वाल्मीकि, की रचना है। इसके परायण से हम १००० बी० सी के पूर्व के लोगों के जीवन, उनकी विभिन्न प्रथाओं और रहने-सहने के ढंग के बारे में बहुत कुछ जान सकते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इस महाकाव्य में आर्यों की दक्षिण-भारत विजय का गुण-गान किया गया है। अवध के कोशलों और उत्तरी बिहार के विदेहों ने इस महाकाव्य में वर्णित घटनाओं में बहुत बड़ा भाग लिया है।

महाभारत

अब महाभारत को लीजिए। रामायण की तरह महाभारत में वर्णित घटनाओं को अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता। इस महाकाव्य की कथा सच्ची घटनाओं पर आधारित है। महाभारत के प्रमुख पात्र कुरु और पाञ्चाल हैं—वे पाञ्चाल जो गंगा के उत्तरी भाग में रहते थे। इस महाकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंश भगवद् गीता है। इसमें कृष्ण ने अर्जुन को माया-मोह छोड़ कर युद्ध-क्षेत्र में उतरने के लिए उपदेश दिया है। भगवद्गीता में, जिसका रचना-काल अनिश्चित है, साक्षात भगवान् सारथी कृष्ण का रूप धारण कर धर्म और कर्तव्य पर अर्जुन को उपदेश देते हैं। यह उपदेश सीधी-सादी पर उत्कृष्ट भाषा में, चारों वर्णों की मर्यादा की रक्षा करते हुए, दिया गया है।

राजनीति-इतिहास की दृष्टि से इन दोनों महाकाव्यों का महत्व अधिक नहीं है। इनका महत्व इतना ही है कि हिन्दुओं की समूची धार्मिक विचार-धारा पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा है। जीवन के ऊँचे आदर्श और आचार-विचार की मर्यादा के स्तर हिन्दुओं ने इन्हीं महाकाव्यों से ग्रहण किए हैं और उनकी कसौटी पर सच्चा उतरने की आकांक्षा प्रत्येक हिन्दू रखता है। एक विद्वान् लेखक के शब्दों में—"सुख-दुःख और सङ्कट में शान्ति और प्रेरणा पाने के लिए भारतवासी युगयुगान्तर से इन महाकाव्यों की शरण लेते आ रहे हैं।"

प्रत्येक ग्राम और नगर में, आज भी देश की धर्म-प्रिय जनता,

रात के समय गली-मोहल्लों, चौपालों में, इन महाकाव्यों की कथा सुनने के लिए जमा होती है। एक महाकवि ने ठीक ही कहा है—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः महीतले।
तावत् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

प्रमुख जाति-वर्ग

वैदिक और संहिता-युग के उत्तर-काल में आर्यों और देश के आदि निवासियों के बीच सामञ्जस्य का काल शुरू हुआ। इस सामञ्जस्य के फलस्वरूप पाँच प्रमुख जातीय वर्गों का निर्माण हुआ। इन प्रमुख वर्गों में से एक ने उत्तरी गंगा और यमुना के प्रदेश में अपने राज्य की स्थापना की। ये कुरु कहलाते थे और हस्तिनापुर इनकी राजधानी थी। पाञ्चालों के हिस्से में गंगा के उतार का विस्तृत प्रदेश आया। काम्पिल्य इनका प्रमुख नगर या राजधानी थी। कोशल अवध में, विदेह पूर्वी भाग में जम गए और कासियों का—जिनका महाभारत में जगह-जगह उल्लेख है, बनारस प्रमुख नगर बन गया।

राजनीतिक व्यवस्था

इस काल की राजनीतिक अवस्था के सम्बंध में परवर्ती हिन्दू-साहित्य से इतना ही पता चलता है कि राजाओं की शक्ति और अधिकार बढ़ गए थे। कुछ राजाओं में स्वेच्छाचारिता और निरङ्कुशता की मात्रा पाई जाती थी। कहीं-कहीं, बिखरे रूप में, जनता-द्वारा राजाओं के अपदस्थ किए जाने का भी उल्लेख मिलता है। यह इस बात का संकेत है कि सब कुछ होते हुए भी जनता की सभा-समितियाँ सर्वथा अस्तित्व शून्य नहीं थीं।

इस काल में राजा अनेक पदाधिकारियों से घिरा रहता था। ये पदाधिकारी राजाओं की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त राज-काज की देख-भाल करते थे। इन पदाधिकारियों में सेना का नेतृत्व करने वाले सेनानी, गाँव के मुखिया ग्रामणी, क्षत्री जो राज-महल का प्रबन्ध करते थे, सामग्रहित्री, जो सारथी का काम करते थे और भाग दुग्धा अर्थात् कर-संग्रह करने वाले होते थे। इनमें ग्रामणी द्वारा राज्य का अनुशासन और करों की वसूली

की जाती थी। जन-समितियों के अधिकार सम्भवतः सीमित और कम थे—यहाँ तक कि बाद के साहित्य में सभा और समितियों का कम उल्लेख मिलता है। साधारण लोगों में जो केवल बड़े समारोहों या सभाओं में सम्मिलित हो सकते थे और ऊँचे वर्ग के लोगों में जो सभासद कहलाते थे और न्याय सम्बन्धी कार्य के लिए दरबार में सम्मिलित होते थे, भेद रखा जाता था।

सभासदों की सहायता से राजा केवल भारी अपराधों पर विचार करता था। निजीरूप से प्रतिशोध लेने की प्रथा का संशोधित रूप में उन दिनों प्रचलन था। इसके अनुसार आहत व्यक्ति को मुआवज़ा देना होता था। मुआवज़े की रक़म या प्रकार आहत व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर थी। दण्ड और यंत्रणा देने का चलन था। लेकिन उस काल की न्याय-पद्धति अभी तक अच्छी तरह विकसित नहीं हो पाई थी—वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी।

उद्योग-धंधे

कृषि और उद्योग-धंधों के क्षेत्र में इस काल में अधिक उन्नति हुई। हल में सुधार किया गया और कई प्रकार के अन्न बोए जाने लगे। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उद्योग-धंधों में वृद्धि हुई। इस काल में समुद्री व्यापार होता था, जिसके चिन्ह नहीं मिलते। कला-कौशल के क्षेत्र में लोगों ने काफी उन्नति की और उन्हें समृद्ध अवस्था में पहुँचा दिया। धातु-सम्बन्धी ज्ञान का विस्तार हुआ और टिन, सीसा तथा चाँदी को, घरेलू तथा अलंकारिक प्रयोग के लिए, काम में लाया जाने लगा। इस काम में हीरे, रथ, टोकरी, रस्से बनाने वालों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। बुनकर और धातु साफ करने वाले इस काल में होते थे। मसाला-लगाकर खाद्य-सामग्री को अर्से तक सुरक्षित रखने की कला लोग जानते थे।

स्त्रियों की स्थिति

इस काल में स्त्रियों की स्थिति गिरी हुई थी। प्रारम्भिक वैदिक काल में एक पत्नीव्रत का चलन था। आगे चल कर, परवर्ती

काल में, बहुपत्नी प्रथा ने उसका स्थान लिया। राजाओं का अनुसरण उनके सभासदों और ऊँचे वर्ग के कुलीन वर्गों ने किया और वे भी अधिक स्त्रियाँ रखने लगे। कुछ विद्वानों का मत है कि शिशु-हत्या के भी इस काल में उदाहरण मिलते हैं। लेकिन यह सत्य नहीं है। यह अवश्य है कि कन्या के स्थान पर पुत्र का जन्म अधिक सौभाग्य-सूचक समझा जाता था—'कन्या का जन्म दुःखों का कारण है और पुत्र का जन्म स्वर्ग-सुख का देने वाला।' इस काल के अन्तिम भाग में जो साहित्य रचा गया, उसमें स्त्रियों की मान-मर्यादा का कम ध्यान रखा गया है और इस काल की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों के अनेक संकेत मिलते हैं।

धार्मिक प्रगति

धर्म के क्षेत्र में इस काल में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई पड़ता है। बलि तथा अन्य अनुष्ठानों ने विस्तृत रूप धारण कर लिया। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ इसी काल की देन हैं। पुराने देवताओं के अतिरिक्त नये देवता भी इस काल में पूजे जाने लगे। रुद्र की पूजा का समावेश और विष्णु का देवताओं की पंक्ति में उपेक्षित होना इस काल के धार्मिक परिवर्तन की सूचना देते हैं। जन-प्रिय चरित्रों को देवत्व प्रदान की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। राम और कृष्ण को अवतार मानना इसी प्रवृत्ति का सूचक है। देश की द्रविड़ जनता को प्रसन्न करने या उन्हें आर्य अथवा हिन्दू-धर्म में दीक्षित करने के लिए अनार्यों के देवता नाग की भी आर्य-रूप देकर पूजा की जाने लगी।

दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान का भी इस काल में विकास हुआ। इस काल में रचे गए उपनिषदों में से कुछ में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का स्पष्ट और सुलझा हुआ प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् इस बात की शिक्षा देते थे कि प्रत्येक सत्यान्वेषी को अपनी आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो "ज्ञान का स्रोत और प्रकाश का स्वरूप है और जिसमें ईश्वरीय गुण विद्यमान है।" पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विकास इसी काल में हुआ। जिन तपस्वियों को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता था या जो आत्मा की शक्ति को पहचान लेते थे वे ब्रह्म में लीन होकर पुनर्जन्म के भव-बन्धनों से मुक्त माने जाते

थे। जो अच्छे कार्य करता वह अच्छे कुल में जन्म लेता और जो बुरे काम करता वह त्याज्य कुल में या कुत्ते, सर्प या अन्य किसी जंगली जन्तु की योनि में जन्म लेता था। एक उपनिषद् में कर्म के सिद्धान्त का पूरा विवेचन किया गया है और बताया गया है कि किस प्रकार का कर्म करने से मृत्यु के बाद कैसा जीवन प्राप्त होता है। कर्म का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अगले जीवन में प्राप्त होता है और जन्मान्तर तक यह क्रम चलता रहता है, आत्मा के एक शरीर छोड़ दूसरे शरीर में प्रवेश करने की क्रिया—अर्थात् पुनर्जन्म की कल्पना का बल पाकर और भी पुष्ट हो गया। बौद्ध और जैन धर्म की उत्पत्ति में इस सिद्धान्त का बहुत बड़ा हाथ है।

बहुमुखी विकास

ब्राह्मण-काल की समाप्ति पर जो नया युग आरम्भ होता है, उसमें अनेक प्रतिद्वन्द्वी धर्म-प्रकाश में आते हैं। बौद्धिक प्रगति की दृष्टि से यह काल महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक क्षेत्र का इस काल में बहुमुखी विकास होता है। जिस बारीकी और सावधानी का प्रयोग बलि आदि के अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में किया जाता था, इस काल में वह बारीकी और सावधानी अन्य नये शास्त्रों के जन्म का कारण बनती है। वेदों के अध्ययन के फलस्वरूप व्याकरण-शास्त्र की उत्पत्ति हुई। बलि-वेदियों के निर्माण के लिए जो नियम प्रतिष्ठित किए गए थे, उनसे ज्यामिति शास्त्र का विकास हुआ। तारों की गति-विधि स्थिति-विशेष का अध्ययन इस लिए आवश्यक हो उठा कि अनुष्ठानों को मुहूर्त्त विशेष में सम्पन्न करना होता था। इस तरह ज्योतिष-विज्ञान का प्रारम्भ हुआ। पशुओं की बलि और उनके अंग-विच्छेद की विधि ने शरीर-विज्ञान की नींव का काम किया। यद्यपि रोग-विज्ञान की स्थिति वैदिक काल की अपेक्षा कुछ नीचे गिर गई थी।*

---

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृष्ठ १८।

ज्योतिष-विज्ञान ने इस काल में विशेष उन्नति यह की कि वर्ष-फल और पत्रा बनाने का प्रयत्न किया गया। नक्षत्र-सम्बन्धी ज्ञान का आविष्कार हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि नक्षत्र-सम्बन्धी ज्ञान भारत ने बेबीलोन से ग्रहण

तीसरा परिच्छेद

इस प्रकार जो नये ज्ञान की उपलब्धि हुई उसे व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया गया और उसे ६ वेदाङ्गों में संकलित कर दिया गया। धर्म सूत्रों की भी रचना की गई जिनमें प्रत्येक वर्ग के लोगों के कर्त्तव्य निर्धारित किये गए। इन कर्त्तव्यों या धर्म का उल्लंघन रोकने के लिए भयानक दंडों और नारकीय जीवन बिताने के भय का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया गया कि अमुक धर्म-सूत्र का उल्लंघन करने से उस जन्म में अमुक-अमुक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

सामाजिक व्यवस्था

आर्यों की परवर्ती कालीन समाज-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता जाति-प्रथा का विकास है। इससे पहले तक जाति शब्द का प्रयोग 'वर्ण' को प्रकट करने के लिए होता था। इसलिए जाति के स्थान पर 'श्रेणी' शब्द का प्रयोग करना अधिक सार्थक होगा। ऋग्वेद काल में केवल दो श्रेणियाँ थीं—एक शासक-श्रेणी, दूसरी शासित श्रेणी। शासक श्रेणी में आर्य थे और शासित में द्रविड़ तथा अन्य आदि-निवासी। लेकिन आगे चलकर स्वयं आर्यों में ही अनेक श्रेणियाँ उत्पन्न हो गईं। जब बलि तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का बाहुल्य हुआ तो वेदों के अध्ययन, वेद-मन्त्रों की व्याख्या और अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए एक विशेष श्रेणी या वर्ग की रचना की गई जो इन कामों की पूरी जानकारी रखती हो। इस श्रेणी में ब्राह्मण रखे गए। ब्राह्मणों का समाज में ऊँचा स्थान था और उन्हें अपने इस स्थान और उपयोगिता पर पूरा गर्व था। शीघ्र ही उन्होंने इस कार्य-क्षेत्र को अपनी बपौती बना लिया—उस पर पूरी तरह से अपना अधिकार कर लिया।

समाज की जो स्थिति थी, उसमें योद्धाओं का उभर आना स्वाभाविक था। युद्धप्रिय राजाओं ने शस्त्र चलाने में कुशल

किया है। इसके समर्थन में शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जल-प्लावन का उल्लेख किया जाता है कि बेबीलोन के साहित्य में भी यह पाया जाता है। एक दूसरे मत के अनुसार संस्कृत लिपि ८०० बी० सी० में यूनानी भाषा से ली गई थी। लेकिन हाल में एक ऐसी लिपि का प्रमाण मिला है जो इन्दस की घाटी में प्रयुक्त होती थी।

सरदारों की सहायता से विस्तृत भू-क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लिया था। धन और सम्पत्ति के बाहुल्य ने उन्हें समाज में ऊँचा स्थान दिया। फलस्वरूप राजन् और क्षत्री वर्ग की रचना हुई।

जो लोग खेती और दूसरे कार-बार करते थे वे वैश्य वर्ग में विभाजित हो गए। देश के जो आदि-निवासी थे, जो परतंत्र तो हो गए थे मगर अभी तक अपना अस्तित्व बनाए थे और जिन्हें आर्य दस्यु कहते थे, शूद्र वर्ग का अंग बन गए।

जातीय भेद-भाव

प्रारम्भ में क्षत्रियों और ब्राह्मणों में उतना भेद नहीं था जितना बाद में हो गया। यह भेद जातिगत न होकर कर्मगत था। एक क्षत्रिय ब्राह्मण बन सकता था और ब्राह्मण क्षत्रिय बनकर राजा के साथ युद्ध में शस्त्र उठा सकता था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे से अलग होते गए और उनमें आभिजात्य की भावना दृढ़ होती गई। इसी प्रकार अन्य वर्गों या जातियों के साथ भी हुआ। उनके खान-पान भाषा के भेद ने तथा जीवन की परिस्थितियों ने और अधिक टुकड़ों में बाँट दिया और वे विभिन्न सम्प्रदायों में बँट गए। रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी अपने-अपने सम्प्रदाय में, अलग-अलग, करने लगे। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि कोशल ब्राह्मण मगधी ब्राह्मण सम्पर्क नहीं रख सकता था। फिर भी उनमें एक साम्य था। वह यह कि सभी ब्राह्मणों को वेदों के अध्ययन और उनकी व्याख्या करने का विशेषाधिकार प्राप्त था, क्रिया-कर्म और यज्ञादि वे ही करते थे। फलतः बावजूद भेदों, उन सबमें एक समान भावना व्याप्त थी कि वे सब एक ही ऋषियों के उत्तराधिकारी हैं।

परवर्ती काल में वर्गों की संख्या बढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। इस वृद्धि के अनेक कारण थे। जीविका-यापन के लिए उन्होंने जो कर्म अपनाया दूसरा उनका धार्मिक विश्वास, तीसरा उनका एक स्थान से उखड़ कर दूसरे स्थान और वातावरण में चले जाना, रीति-रिवाज और भाषा में परिवर्तन और सबसे अन्त में अन्तर्विवाह—इन सब कारणों ने मिलकर नये वर्ग, सम्प्रदाय और जातियों की रचना में मदद दी और यह क्रम, दुर्भाग्यवश, आज तक जारी है।

तीसरा परिच्छेद

वर्ण-व्यवस्था के विरोध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इसने हमारे देश की राजनीतिक और जातीय एकता को नष्ट कर दिया। इसने हमारे समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया। जीविका और व्यवसाय के साधनों को परम्परागत बनाकर कुण्ठित करने की ज़िम्मेदारी इसी के सिर पर है। जातीय झगड़ों और प्रतिद्वन्द्विताओं ने घुन की तरह आज हमारे समाज को खोखला कर दिया है। लेकिन प्रत्येक चित्र के दो पहलू होते हैं। अपने समय में वर्ण-व्यवस्था ने अच्छा और प्रशंसनीय काम किया —' इस प्रथा ने आत्म-त्याग की भावना का प्रसार किया ; व्यक्ति को अपनी जाति के लिये, संस्थागत नियंत्रण में, रहना सिखाया ; व्यसनों को रोकने तथा आजीविका हीन होने से लोगों को बचाया।" आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण-व्यवस्था ने इस योग्य बनाने में मदद दी कि वह अपने कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से करे। संक्षेप में, इस व्यवस्था ने समाज को राजनीतिक उथल-पुथल के प्रभाव से मुक्त कर दिया।

चौथा परिच्छेद

प्रारम्भिक बौद्ध-काल

१ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ

पिछले परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इन्डो-आर्य जाति के लोग बंगाल की सीमा तक फैल गए और किस प्रकार उनको सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं का विकास हुआ। बौद्ध काल के प्रारम्भ में अर्थात् ई० पू० छठी और पाँचवीं शती में—राजनीतिक और धार्मिक हलचल का केन्द्र हिन्दुस्तान के पश्चिमी भाग से उठ कर पूर्वी भाग में चला गया। मगध के राज्य ने प्रकाश में आना शुरू किया और उस काल को शायद ही कोई ऐसी प्रभावकारी घटना हो जिसका सम्बन्ध मगध के शासकों या सन्तों से न हो। इस काल के उत्तरी भारत के विवरण के लिए हम प्रमुखतः अ-ब्राह्मण स्रोतों के—जैन ग्रंथों और बौद्धों के धार्मिक साहित्य के ऋणी हैं।

बौद्ध-साहित्य

इस काल के जन-जीवन के सम्बन्ध में हमें पाली में लिखे बौद्ध ग्रंथों—पिटक और जातकों—से काफी जानकारी प्राप्त होती है। बौद्धों का पूर्व कालीन साहित्य पाली में—जो प्रान्तीय बोली पर आधारित भाषा थी—लिखा हुआ है। पाली प्राकृत का प्राचीन-तम साहित्यिक रूप है। पाली धर्म-ग्रंथों की रचना उत्तरी भारत में हुई थी। बौद्ध धर्म ने भी यहीं जन्म लिया था। लेकिन पाली का यह साहित्य लंका, बरमा और स्याम में आज सुरक्षित है। कुल तीन पिटक थे—सुत्त, विनय और अभिधम्म। ई० पू० तृतीय शती में इन त्रिपिटकों का रचना-कार्य समाप्त हो गया था। इनका कोई भी भाग बुद्ध के समय का नहीं है। लेकिन कहीं-कहीं ऐसे शब्द अवश्य मिलते हैं जो वास्तव में बुद्ध के मुँह से निकले थे।

इन पिटकों को बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखा गया है।

पहले पिटक में पाँच निकाय ग्रंथ सम्मिलित हैं। इन्हीं के द्वारा बौद्ध इतिहास के पूर्व काल का प्रमुख भाग हमें प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म और बुद्ध के प्रारम्भिक अनुयायियों का विवरण भी हमें इनसे प्राप्त होता है। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के सम्बन्धों पर इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

विनय पिटक के सम्पूर्ण होने में पूरी एक शती का समय लगा था। इसमें बौद्ध भिक्षु-संघों के नियम बतलाए गए हैं। अभिधम्म में निकायों को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है। एक निकाय में बुद्ध के गृहत्याग से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की लम्बी कथा वर्णित है। विनय में इसका सूत्र और आगे बढ़ता है और कथा को संघ की स्थापना तक पहुँचा दिया गया है। एक दूसरे निकाय में विस्तार के साथ बुद्ध के जीवन के अन्तिम दिनों की कथा वर्णित है। ये सब बौद्ध ग्रंथ अशोक-काल से पुराने हैं। इनमें किसी व्यक्ति या स्थान का उल्लेख नहीं मिलता—न लंका के किसी स्थान का, न दक्षिणी भारत या पूर्वी भारत या कलिङ्ग के दक्षिणी प्रदेश में किसी स्थान का, न भारत के पश्चिम, में न अपर गोदावरी के दक्षिण में किसी स्थान का।

जातक

जातकों में बुद्ध के पूर्व जन्म को कथाएँ संकलित हैं। इनमें कुल ५५० जन्म कथाएँ हैं और २१ भागों में उन्हें संकलित किया गया है। इनके प्रारम्भ में एक लम्बी भूमिका दी गई है जिसमें बुद्ध के जीवन का पूर्व इतिहास—इस जन्म से पहले का और इस जन्म का—दिया गया है। प्रत्येक कहानी बुद्ध के धार्मिक जीवन को किसी न किसी घटना पर आधारित है—जैसे किसी कहानी में संघ के सदस्यों द्वारा नियमों की अवज्ञा या उल्लंघन का चित्रण है, किसी में संघ के भिक्षुओं की मूर्खता को खोल कर रखा गया है, किसी में नीति शास्त्र के किसी प्रश्न का विवेचन किया गया है और किसी में अच्छे और ऊँचे आदर्शों के दृष्टान्त दिए गए हैं। इन्हें तथा इसी तरह की अन्य घटनाओं को सामने रख कर प्रत्येक कहानी में बुद्ध अपने पूर्व जीवन की एक कथा सुनाते हैं। इस प्रकार

बुद्ध के पूर्व जीवन की कथा वर्तमान जीवन की घटना को स्पष्ट करने के लिए समान और तुलनात्मक दृष्टान्त का काम करती है।

जातकों के अन्त में कथाओं का सारांश दिया गया है जिसमें बुद्ध पूर्व जन्म की कथाओं के विभिन्न पात्रों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि इस जन्म में उन पात्रों ने किस-किस रूप में जन्म लिया है। जातकों की कथाओं में से कुछ तो प्रत्यक्ष बौद्ध स्रोत से निकली हैं, लेकिन अधिकांश जनसाधारण में प्रचलित लोक-कथाओं का रूपान्तर हैं जिनमें आदिम-काल के विचारों, अंधविश्वासों और रीति-रिवाजों के स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण चित्र मिलते हैं। इन लोक-कथाओं का महत्व इस लिए भी है कि प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजों पर इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कुछ जातक कथाएँ भरहुत, साँची और अमरावती के स्तूपों के चारों ओर बनी पत्थर की वेदिका पर अंकित हैं। इन स्तूपों का निर्माण-काल ईसा से पूर्व तृतीय और द्वितीय शती आँका गया है। कुछ जातकों के साथ उनके पद्य-शीर्षक भी अंकित हैं। इनसे पता चलता है कि ईसा से पूर्व तृतीय शती में भी इन कथाओं का व्यापक प्रचार था और उस काल में भी इन्हें धर्म का अंग समझा जाता था। सम्भवतः इन कथाओं को अशोक के समय से पहले उत्तरी भारत में रचा गया था, लेकिन वर्तमान रूप में उन्हें ईसा सं० पाँचवीं शती में परिवर्तित किया गया।

पाली-साहित्य

जातकों के अतिरिक्त पाली में अन्य बौद्ध ग्रंथों की भी रचना की गई। इनमें पिटकों के टीका-ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन टीका-ग्रंथों में मूल पर टिप्पणियाँ दी गई हैं और बिखरे हुए सूत्रों को एकत्रित कर बुद्ध की जीवन-कथा को सम्बद्ध रूप देने का प्रयत्न किया गया है। इन टीकाकारों में अश्वघोष सब से महान् था। ईसा सं० पाँचवी शती के प्रारंभ में वह लंका का निवासी था।

टीकाओं के अतिरिक्त पाली में दो ऐतिहासिक ग्रंथों की भी रचना की गई। इन ग्रंथों में से एक का नाम दीपवंश है। इसमें लंका द्वीप का इतिवृत्त वर्णित है। यह ईसा के बाद पाँचवीं या चौथी

शती में लिखा गया था। दूसरे ग्रंथ का नाम महावंश है। इसकी रचना महानाम कवि ने, पाँचवीं शती के अन्त में, की थी। दोनों ही ग्रंथ प्राचीन तथ्यों पर आधारित हैं और इनमें ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय विवरण काफी मात्रा में मिलता है। लेकिन इनमें दन्त-कथाओं और चमत्कारिक वर्णनों की भरमार हैं। जो भी हो, सीलोन में बौद्ध धर्म के इतिहास की जानकारी की दृष्टि से ये ग्रंथ महत्वपूर्ण तथा उपयोगी स्थान रखते हैं।*

लंका में और भी पाली ग्रंथों की रचना की गई थी। इनमें एक महत्वपूर्ण ग्रंथ मिलिन्द पान्ह है। इसकी रचना उत्तर भारत में हुई थी। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों का, राजा मिलिन्द और एक भिक्षु के संवाद के रूप में, निरूपण किया गया है।

पाली ग्रंथों को बौद्धों का एक ही वर्ग पवित्र मानता है। दूसरे बौद्ध सम्प्रदाय, जो बाद में अस्तित्व में आए, कुछ संस्कृत और मिश्रित बोलियों में लिखे गए धर्म ग्रंथों को मानते हैं। संस्कृत में लिखे गए धर्म्म ग्रंथ महायान सम्प्रदाय के हैं। महायान सम्प्रदाय का साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस साहित्य पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

महत्व-पूर्ण शती

भारत के इतिहास में ईसा से पूर्व छठी शती का महत्व-पूर्ण स्थान है। यह बौद्धिक जगत् में महान उथल-पुथल का काल था। इस काल में अनेक विहारों और मठों की स्थापना हुई--जैसे बौद्ध और जैन विहार। लेखन-कला का भी इतना विस्तार पहले नहीं हुआ था। समुद्री व्यापार में इस काल में काफी उन्नति हुई। इन्डो आर्य और हिन्दू धर्म दीक्षित अनार्य लोगों की भौगोलिक जानकारी का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया था। दक्षिण और उत्तर भारत को अलग करने वाला दुर्गम दण्डक वन अब उनके लिए दुर्गम नहीं रह गया था। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सम्पर्क और

*इन ग्रन्थों के महत्व और उपयोगिता के लिये गीगर और बोड लिखित महावंश या दि ग्रेट क्रानिकल आफ़ सीलोन की भूमिका देखिए। एच० कर्न की मैनुअल आफ़ बुद्धिज्म पृष्ठ ८ भी देखिए।

आदान-प्रदान का क्रम स्थापित हो गया था। ग्राम और नगरों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और बड़े राज्यों के निर्माण की नींव पड़ चुकी थी। इसलिए आवश्यक है कि इस महत्त्व-पूर्ण काल के भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तार के साथ अध्ययन किया जाय।

समाज-व्यवस्था

प्रारम्भिक बौद्ध काल में समाज की व्यवस्था वर्णों पर आधारित थी। लेकिन वर्ण-व्यवस्था का विरोध और उसकी अनुपयोगिता को प्रकट करने वाली भावनाओं का प्रसार भी शुरू हो गया था। विरोधी भावनाएँ बौद्धिक स्तर तक ही सीमित रहीं और उनके बावजूद वर्ण-व्यवस्था में कोई फेरफार नहीं हुआ। वर्ण-व्यवस्था-विरोधी भावनाओं और विचारों के प्रसार में बौद्ध अग्रणी थे। लेकिन उनका यह विरोध विचार-जगत तक ही सीमित रहा। सच तो यह है कि स्वयं बौद्धों में भी इसी प्रकार का भेद-भाव भर गया था और उच्च तथा नीच कुल की मर्यादा का वे भी ध्यान रखते थे।*

चारों वर्णों का ढाँचा पूर्ववत बना रहा। विरोधी भावनाओं के फल-स्वरूप वह अब उतना कड़ा नहीं रहा जितना पहले था। विभिन्न वर्णों के लिए निर्धारित कर्त्तव्यों के पालन में ढिलाई होने लगी। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने विभिन्न पेशे अपनाने के लिए लोगों को बाध्य कर दिया था। केवल कारीगरों का वर्ग ऐसा था जिसमें पुश्तैनी उद्योग-धंधों की लकीर पीटी जा रही थी।

शासक वर्ग से भिन्न जो क्षत्रिय थे, सैनिक का बाना त्याग कर उनमें से कितने ही किसानी करने लगे थे। ब्राह्मणों में से कितनों ने अपने पूजा-पत्रे छोड़ कर व्यवसाय करना शुरू कर दिया था। इस काल के क्षत्रियों में वे कोल और द्रविड़ सरदार भी सम्मिलित थे जिन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया था और जो छोटे-छोटे इलाकों पर राज्य करते थे।

---

*देखिए आर० फिक्स की पुस्तक 'दि सोशल आर्गेनाइज़ेशन इन् दि नार्थ ईस्ट इन्डिया इन् बुद्धिज़ टाइम'।

चौथा परिच्छेद

एक ही वर्ण के लोगों में अनेक प्रकार के भेद-भाव उत्पन्न होते जा रहे थे। उदाहरण के लिए मगध के ब्राह्मण कोशल के ब्राह्मणों के मुकाबले में निम्न श्रेणी के समझे जाते थे। कोशल के ब्राह्मण अधिक 'पक्के' थे और खान-पान तथा पूजा-पाठ के नियमों का सख्ती के साथ पालन करते थे। मगध के ब्राह्मण उनकी दृष्टि में नीचे गिर गए थे क्योंकि वे नियमों के पालन करने में इतने कट्टर नहीं थे।

व्यापार के कारण जो वैश्य अधिक सम्पन्न हो गए थे, उनका मान और स्थान ऊँचा हो गया था। जो सम्पन्न नहीं थे और जैसे-तैसे गुजर करते थे, उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता था और राज्य की ओर से उन्हें उतना मान नहीं मिलता था जितना सम्पन्न वैश्यों को।

शूद्र तथा अन्य हीन वर्ग

शूद्र जिनकी संख्या अधिक थी और जो अनार्यों के वंशज थे—उनका जीवन बड़ा दुःखमय था। लेकिन बौद्धों के विकास और शक्ति-वृद्धि के साथ उनकी अवस्था में काफी सुधार के चिन्ह दिखाई देने लगे।

शूद्रों से भी निम्नस्तर के, हीन जाति और हीन व्यापार करने वाले, लोग थे। ये आदिम जाति के निवासी थे। इनका काम बहेलिये का होता था। ये चिड़ियों को पकड़ते थे और पशुओं की खाल उतारने का काम करते थे। इनसे भी अधिक हीन जाति के लोग चाण्डाल कहलाते थे जो मृत पशुओं का माँस खाते और बहुत ही गंदा जीवन व्यतीत करते थे।

सामाजिक व्यवस्था के निम्नतम स्तर पर दास होते थे। संख्या में ये लोग कम थे और इनके साथ कोई दुर्व्यवहार नहीं होता था। यह संदिग्ध है कि इस काल में दास-प्रथा का चलन था या नहीं। सम्भवतः दास प्रथा को इस काल में कोई मान्यता प्राप्त नहीं थी। बौद्धों के प्रारम्भिक काल में दास-वृत्ति वही करते थे जो अपना ऋण नहीं चुका पाते थे और उन्हें अपने को बेच देना पड़ता था; या फिर ऐसे लोग होते थे जिन्हें किसी अपराध के फल-स्वरूप दासत्व का दण्ड भोगना पड़ता था। जो भी हो, इन दासों के साथ अन्य देशों के मुकाबले में कहीं अच्छा व्यवहार किया

जाता था। इनमें से अधिकांश घरेलू नौकर की हैसियत से काम करते थे। खेती अथवा खदान आदि के कामों में सामूहिक रूप से उन्हें नहीं लगाया जाता था। भू-सम्पत्ति और जागीरों पर काम करने के लिए किराये पर मजदूर रखे जाते थे। मज़दूरी उन्हें रहने और खाने-कपड़े के रूप में दी जाती थी। कुछ लोग नक़द मज़दूरी भी देते थे।

वर्ण-व्यवस्था

इस काल की समाज-व्यवस्था यद्यपि वर्णों पर आधारित थी, लेकिन भिन्न सामाजिक स्तर के लोगों को यह अनुभव नहीं होता था कि वर्ण-व्यवस्था के कारण उन्हें किसी प्रकार दबना या अनिच्छा पूर्वक कार्य करना पड़ता है। वर्ण-व्यवस्था निरंकुश तथा कठोर रूप आगे चल कर ग्रहण करती है। आजकल-जैसी कट्टर अनुदारता उन दिनों नहीं थी। बौद्ध ग्रंथों में इस तरह के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उक्त काल में पेशा-परिवर्तन का अर्थ जाति-परिवर्तन नहीं था। उस काल में बिना किसी जाति-गत भय के एक क्षत्रिय महाराज (रसोइया) व्यवसायी बन सकता था। इसी प्रकार एक ब्राह्मण किसी धनुषधारी के सहायक का काम कर सकता था। कितने ही ब्राह्मण शिकारी और वहासा या जाल फेंकने वाले का काम करते थे। भिन्न वर्णों के लोगों के संघों का भी यदा कदा उल्लेख मिलता है। जातकों और ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक ऐसी कथाएँ मिलती हैं जिनमें राजा और वैश्यों की घनिष्ठ मित्रता का उल्लेख मिलता है। इस मित्रता के फल-स्वरूप राजा और वैश्य अपनी सन्तानों को एक ही गुरु के यहाँ शिक्षा के लिए भेजते थे। उनके एक साथ खानपान और विवाह सम्बन्ध तक की घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है।*

आर्थिक स्थिति

कितने ही बौद्ध ग्रंथ इस काल के भारत की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनसे पता चलता है कि इस काल के भारत

---

* कैम्ब्रिज़ हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, भाग १, परिच्छेद आठवाँ, पृष्ठ २०६ देखिए।

में कृषि अथवा अन्य उद्योग-धंधों की अवस्था कैसी थी। इस काल की अधिकांश जनता ग्रामों में रहती थी। नगरों की संख्या बहुत कम थी—कुल मिला कर बीस नगरों का उल्लेख मिलता है। नगरों के उल्लेखनीय नाम ये थे—सवत्थी, चम्पा, राजगृह, साकेत, कोसाम्बी और बनारस। मौर्यों के महान् नगर पाटलिपुत्र का अभी तक निर्माण नहीं हुआ था। नगरों में घर ईंटों के बने होते थे। लकड़ी का भी उनमें प्रयोग होता था। दीवारों पर पलस्तर होता था और उनपर फ्रेस्को चित्र अङ्कित रहते थे। इन चित्रों में दैनिक जीवन के दृश्य चित्रित होते थे।

शासन की इकाई और सभी प्रकार की हलचल का केन्द्र ग्राम होते थे। प्रत्येक ग्राम, औसतन, तीस परिवारों से बना होता था। ग्राम के चारों ओर चरागाहों की भूमि होती थी। कहीं वृक्षों के झुरमुट या घने जंगल होते थे। खेती करने योग्य धरती निवास-स्थानों के समूह के चारों ओर होती थी। धरती का विभाजन खेतों में बनी उन्हीं नालियों से होता था जिनका उपयोग खेतों को सींचने के लिए किया जाता था।*

खेत आकार में छोटे होते थे जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ कुछ किराये के मजदूरों की सहायता से बोता-जोतता था। कहीं-कहीं बड़े खेतों का भी उल्लेख मिलता है। गाँव के मामलों का निपटारा मुखिया करता था। मुखिया को सभी परिवार चुनते थे और उसे अपने कार्य का पारिश्रमिक भी मिलता था। आबपाशी की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और गाँव के सभी निवासी सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं के निर्माण में स्वेच्छापूर्वक योग देना अपने लिए गर्व की बात समझते थे। सार्वजनिक समिति-भवन के निर्माण में हाथ

* इन विभाजक-नालियों या खाइयों की उपमा बौद्ध-भिक्षुकों के अनेक टुकड़े जोड़ कर बनाए गए पहनने के वस्त्र से की गई है। यह वस्त्र विशेष प्रकार का होता था और सभी बौद्ध भिक्षु इसी को पहनते थे। बुद्ध के शब्दों में—'भिक्षा में मिले फटे-पुराने वस्त्रों के टुकड़ों को जोड़कर यह बनाया जाता था—जिससे उसके लिए किसी के मन में चोरी आदि का मोह न उत्पन्न हो।''

बटाने लिए स्त्रियाँ तक तैयार रहती थीं। चावल की खेती ये लोग प्रमुख रूप से करते थे। जौ और गन्ना भी बोते थे।

कृषि तथा उद्योग-धंधे

कृषि इस काल के लोगों की जीविका का प्रमुख साधन थी। लेकिन आबादी का काफी अच्छा भाग उद्योग-धंधों के सहारे जीवन यापन करता था। अनेक उद्योग-धंधे इस काल में प्रचलित थे। जातक कथाओं में वर्णित बातें सच हैं तो मानना होगा कि इस काल में उद्योग-धंधों ने अच्छी उन्नति कर ली थी और उनका स्तर काफी ऊँचा था। नौका-निर्माण, गाड़ी और रथ बनाना, हाथी-दाँत का काम, मिष्ठान्न बनाना, जौहरियों का काम, भवन-निर्माण-कला, चमड़े का काम और चित्रांकन आदि इस काल के प्रमुख उद्योग-धंधे थे। श्रम-विभाजन के आधुनिक सिद्धान्त का ये लोग अपने उद्योग-धंधों में पालन करते थे और इनकी श्रम-व्यवस्था अच्छी होती थी। अठारह प्रकार के उद्योग-धंधों के श्रम-जीवियों के अलग-अलग अपने संघ थे।* प्रत्येक संघ का एक अध्यक्ष होता था। राज्य-कर तथा अन्य आर्थिक मामले में शासक उससे सलाह लेता था। कुछ उद्योग-धंधे बड़े पैमाने पर चलते थे और सम्पन्न महाजन उनमें अपनी पूंजी लगाते थे। ये महाजन 'श्रेष्ठिन' कहलाते थे। सहकारिता के आधार पर भी कुछ उद्योग चलते थे। ऐसे अनेक ग्रामों का उल्लेख मिलता है जिनका निर्माण एक ही पेशे के कारीगरों ने किया था। लुहारों के ग्राम, कुम्हारों के ग्राम, नौका बनाने वालों के ग्राम—इस प्रकार कारीगरों के अपने ग्राम होते थे। ये ग्राम बहुधा बड़े नगरों के बाहर बसे होते थे और इनमें मंडियाँ या हाट होती थीं। सौदागर और पूंजीपति एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वतंत्रता-पूर्वक जाकर बस जाते थे। इसी प्रकार कुशल कारीगर भी फुटकर

---

*सौदागर समूहों में, कारवाँ-सा बनाकर, यात्रा करते थे। सौदागरों के इस समूह का एक नेता होता था। साझे में व्यवसाय करने के भी कई उदाहरण मिलते हैं।

काम अथवा स्थायी धंधे की खोज में अपरिचित जगहों में जाकर बसते जरा भी नहीं हिचकते थे।*

वणिक-मार्ग, आयात-निर्यात

बनारस उन दिनों उद्योग-धंधों और व्यवसाय का प्रमुख केन्द्र था। उत्तर और उत्तर-पूर्व की दिशा से विशद वणिक मार्ग बने थे जो बनारस में एक दूसरे से मिलते हुए बरोच तक चले गए थे। निज़ाम के इलाके में स्थित पैठान भी व्यवसाय का बहुत बड़ा केंद्र था और सौदागरों के कारवाँ वहाँ बहुधा पहुँचते थे। पश्चिम में बेबीलोन तक व्यापार होता था। व्यापारिक नौकाएँ बरोच से बरमा जाते हुए भारतीय समुद्रतट से गुज़रती थीं और लंका के बन्दरगाह में उनका पड़ाव होता था। ये नौकाएँ काफी बड़ी होती थीं। इनके अलावा भारत और मध्य तथा पश्चिमी एशिया के बीच स्थल मार्ग भी था। यह मार्ग गांधार में तक्षशिला होकर जाता था। प्रमुखतः रेशम, मलमल, चाकू-कैंची आदि, कवच, सुगंधित तैल और इत्रादि, औषधियाँ, हाथी-दाँत का काम, हीरे-जवाहरात और स्वर्ण आदि का भारत से व्यापार होता था।

सिक्कों का इस काल में प्रयोग किया जाता था। 'निष्क' सोने का सिक्का था और अपने मूलरूप में आभरण का काम देता था। 'स्वर्ण' भी सोने का सिक्का होता था। ब्राञ्ज और ताम्र के भी सिक्के प्रचलित थे। कौड़ियों से सिक्कों का काम लिया जाता था। सामग्री के आदान-प्रदान का स्थान निर्धारित मूल्य के सिक्कों ने ले लिया था और अधिकतर उन्हीं का प्रयोग होता था। अदल-बदल का व्यापार मजबूरी अवस्था में होता था। सूद पर धन देने वाले एक नये वर्ग का जन्म हो गया था। यह वर्ग स्वर्ण का संग्रह कर के रखता था। इस प्रकार, सब कुछ देखते हुए, इस काल के लोगों की आर्थिक अवस्था काफी उन्नत थी।†

---

* तामिल संघ का जो साहित्य है (ई० स० द्वितीय शती) उसमें इस बात का उल्लेख मिलता है कि तामिल राजा कुशल कारीगरों को दूर-दूर से लाकर अपने यहाँ बसाते थे। अवन्ती और मगध तक से कारीगरों को लाने के उल्लेख मिलते हैं।

† "और हमने खेती-बारी के काम को अध्यवसाय और सुगमता के

छठी शती में धार्मिक स्थिति

ईसा से पूर्व छठी शती भारत के धर्मों के इतिहास में युग-परिवर्तनकारी स्थान रखती है। आध्यात्मिक विद्रोह और धार्मिक आन्दोलन के इस काल में अनेक नये धर्मों का उदय हुआ। जैन और बौद्ध धर्म इसी काल की देन हैं। इनका विस्तार के साथ अध्ययन करने से पहले हमें, द्रुत गति से, ईसा से पूर्व छठी शती के धार्मिक जीवन का अवलोकन करना चाहिए।

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद काल में सीधी-सादी प्रकृति-उपासना प्रचलित थी। इस उपासना का स्थान आगे चल कर एक सर्वोपरि चेतना ने ले लिया। इस सर्वोपरि चेतना को प्रजापति या सृष्टि का स्वामी माना जाने लगा। यह उसी अद्वैत वाद का व्यावहारिक रूप था जिसकी उपनिषदों में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की गई है। लेकिन इस पर विस्तृत कर्मकाण्डों का भार लदा हुआ था। पुरोहितों की श्रेणी ने एक जाति या वर्ग का रूप धारण कर लेने के बाद देवताओं की संख्या में और भी वृद्धि कर दी। इस प्रकार त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्थापना हुई। इनमें एक सृष्टि कर्ता, दूसरा पालनहार और तीसरा विनाश और विध्वंस करने वाला था।

शिव की उपासना ने अपने विकास काल में आदि-निवासियों की बहुत-सी प्रथाओं को अपने में समाविष्ट कर लिया। इस

साथ, बिना किसी खटपट के, होते देखा है।···हमने उद्योग-धंधों और व्यवसाय को फली फूली अवस्था में देखा है। संघबद्ध और स्थानिक तौर पर अत्यधिक व्यवस्थित ढंग से, स्थानिक तथा संघबद्ध व्यावसायिक प्रतियोगिता के वातावरण में, उद्योग-धंधों का काम होते हुए देखा है। इन उद्योग-धंधों के सूत्र-सञ्चालक शासकों के मित्र तथा सलाहकार होते थे। अधिकांश मजदूर अपने पैतृक पेशे को करते थे, लेकिन साथ ही उनमें अपने बूते पर आगे बढ़ने, नये काम करने तथा नयी जगहों में जाकर बसने का भी साहस था। संक्षेप में यह कि वे ठस नहीं थे। धन और लेन-देन की प्रथा से वे पूरी तरह परिचित थे। यह सब हमने बहुत पहले, ई० सं० सातवीं शती से युगों पहले, देखा था।"—श्री राइस डेविड, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ २१९ से उद्धृत।

प्रकार नाग और लिंग की उपासना शैव धर्म का अंग हो गई। जैसे-जैसे समय बीतता गया, नये देवता मैदान में आते गए—जैसे श्री-माँ, जो भाग्य की देवी मानी जाने लगी थी। भाग्य की इस देवी ने बुद्ध के काल में बहुत ही जनप्रिय स्थान प्राप्त कर लिया। धरती और पर्वतों के देवी-देवताओं की भी उपासना होती थी।* यहाँ तक कि भूमण्डल के चारों खण्डों के भी अपने देवता थे जो अपने-अपने खण्ड की रक्षा करते थे। नाग और गरुड़, जो आदिम निवासियों के जाति-चिन्ह थे, शिव या विष्णु के वाहनों में सम्मिलित हो गए और ब्राह्मणों द्वारा पूजे जाने लगे। इस प्रकार हिन्दू धर्म में, व्यवहारतः प्राचीन जातियों के सभी अंधविश्वास और अंधप्रथाएँ, किसी न किसी रूप में, प्रविष्ट हो गए और अंधपूजा सम्मान पाने लगी।

इस स्थिति से चिन्तनशील हिन्दुओं के हृदय में विक्षोभ उत्पन्न होने लगा। कितने ही लोग पुरोहितों की बहुदेव-पूजा और कर्म-काण्डों के जाल से मुँह मोड़ कर जंगलों में चले गए और वहाँ जाकर ध्यान-चिन्तन में लीन हो गए। उनकी दृष्टि में वेदों की शिक्षा यह थी कि व्यक्तिगत आत्मा को विश्व की आत्मा में लीन कर दिया जाए। इस अवस्था तक ज्ञान के द्वारा ही पहुँचा जा सकता था, बलि तथा इसी तरह के अन्य अनुष्ठानों द्वारा नहीं। 'फलतः वे ध्यान चिन्तन द्वारा प्रधान जीवन का उपदेश देते थे। कर्मरत जीवन में उनके लिए मुक्ति नहीं थी। उनका कहना था कि कर्म का चक्र अज्ञान की रचना करने वाला है। वह मुक्ति नहीं देता, वरन् कर्म करने के लिए बार-बार जन्म लेने का मार्ग तैयार करता है—मानव को भौतिक बन्धनों में जकड़े रहता है। अतः कर्मरत जीवन दुःखमय है। दुःख की मात्रा, अच्छे या बुरे कर्मों के अनुपात से, घटती-बढ़ती रहती है।'†

पुरोहितों के ढोंग पूर्ण जीवन से असन्तुष्ट समाज के पढ़े-लिखे वर्ग में इस तरह के विचार घर कर रहे थे।

बात केवल इतनी ही नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त आश्रमों

---

*देखिए राइस डेविड लिखित 'बुद्धिस्ट इन्डिया'।

†होएर्नले कृत हिस्ट्री आफ़ इन्डिया।

की व्यवस्था का भी विकास इस काल में हो रहा था। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जीवन चार क्रमिक भागों में बाँट दिया गया था। पहला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थ और चौथा संन्यासाश्रम। मूलतः इस व्यवस्था की परिधि में सभी द्विज आजाते थे। लेकिन चूँकि क्षत्रिय युद्धों और राज्यों के निर्माण कार्य में फँसे रहते थे, इसलिए केवल ब्राह्मण ही इन चारों आश्रमों के अनुसार जीवन बिताते थे। लेकिन जब युद्ध और संघर्ष विहीन शान्ति के दिन शुरू हुए तो क्षत्रियों ने भी वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम को अपनाने तथा उनके अनुसार जीवन बिताने की इच्छा प्रकट की। सैद्धान्तिक रूप से उन्हें ऐसा करने का पूरा अधिकार था, लेकिन ब्राह्मणों ने उन्हें इस अधिकार से वञ्चित कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया का ही फल था कि ब्राह्मणों की व्यवस्था से भिन्न संघों और विहारों की स्थापना होने लगी—जैन और बौद्ध संघ इसी का नतीजा है। लेकिन यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बौद्ध और जैन वास्तव में वर्ण-व्यवस्था के नहीं, वरन् ब्राह्मणों के इस एकाधिपत्य के विरुद्ध थे।

राजनीतिक अवस्था

ईसा से पूर्व छठी शती में उत्तरी भारत का राजनीतिक जीवन कैसा था, इसका विवरण हमें प्रमुखतः जैनियों और बौद्धों के धर्म-ग्रंथों में मिलता है। इस विवरण के अनुसार उक्त काल में उत्तरी भारत में सोलह बड़े राज्य, महाजनपद, हिमालय और नर्मदा के बीच, कायम थे। इनमें चार अधिक महत्वपूर्ण थे—

(१) मगध जिसकी राजधानी राजगृह थी।

(२) कोशल जिसकी राजधानी पहले साकेत और फिर सावत्थी (श्रावस्ती) बनी। कोशलों की जाति बहुत शक्तिशाली थी। मगधों से उनका निरन्तर संघर्ष होता रहता था। अन्त में मगधों से उन्हें पराजित होना पड़ा।

(३) वत्सराज्य जिस में आज का बुन्देलखण्ड सम्मिलित था। कोसाम्बी इसकी राजधानी थी।

(४) सुप्रसिद्ध अवन्ती, मालवा का प्रदेश, उज्जैन जिसकी राजधानी थी।

बारह अन्य छोटे जातीय राज्य थे। राईस डेविड ने इनका इस प्रकार उल्लेख किया है—अङ्ग, कासी और वज्जी जिसमें लिच्छवि और विदेह भी सम्मिलित थे, मल्ल, चेदि, कुरु, पाञ्चाल, मौर्य, सूरसेन, अस्साक या अश्वाक, गांधार और कम्भोज।

प्रमुख राज्य

सोलह महाजनपदों में काशी प्रारम्भ में बहुत शक्तिशाली था। विदेहों को इसने उद्‌रस्था कर लिया था और इसकी राजधानी बनारस अन्य नगरों से श्रेष्ठ थी। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार एक समय में काशी एक महान्, अच्छा-खासा साम्राज्य ही समझिये, शक्ति थी। कोशल के अन्तर्गत तीन बड़े नगर थे—अयोध्या, श्रावस्ती और साकेत। कोशल, कुरूपाञ्चाल की अपेक्षा, आर्य संस्कृति के प्रभाव में बाद में आए थे। इस प्रभाव को ग्रहण करने में विदेह कोशलों से पीछे रहे। बुद्ध के समय तक अयोध्या एक साधारण स्थिति का नगर था। ईसा से पूर्व सातवीं और छठी शती में कोशल एक शक्तिशाली राज्य था। इसका पहले काशी और फिर मगध से युद्ध हुआ। युद्ध का कारण और उद्देश्य मध्य देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना था।

अङ्ग राज्य मगध के पूर्व में स्थित था और इसकी राजधानी चम्पा एक महत्वपूर्ण जगह थी। वज्जी राज्य में आठ जन-संघ सम्मिलित थे जिनमें विदेह और लिच्छवि सब से महत्व पूर्ण थे। वैशाली इसकी राजधानी थी—केवल लिच्छवियों की ही नहीं, वरन् पूरे संघ-राज्य की थी। वज्जी के इस गणतंत्रीय संघ राज्य का उदय सम्भवतः विदेह के उन राजाओं के अन्त के बाद हुआ जिनका ब्राह्मणों में उल्लेख मिलता है। लिच्छवि राज्य की दृढ़ रूप से स्थापना ईसा से पूर्व छठी शती में वैशाली में हुई थी। लिच्छवि सम्भवतः क्षत्रिय थे, यद्यपि कुछ विद्वान् उन्हें विदेशी मानते हैं।*

इनमें से कुछ राज्य राजतंत्रीय थे, कुछ निर्वाचन पद्धति पर आधारित थे, कुछ आदि निवासियों के गणतंत्र थे। इनमें शाक्य और मोरिया, विदेह और लिच्छवियों के जनतंत्र महत्वपूर्ण

---

* देखिए चौधरी कृत 'पोलीटिकल हिस्ट्री आफ नार्दरन इन्डिया (तीसरा संस्करण) पृष्ठ ८५-८६।

थे। विदेह और लिच्छवि संयुक्त रूप में वज्जी कहलाते थे। इनके अलावा कुशिनगर और पावा के मल्ल राज्य भी थे। आज के बिहार प्रदेश में, जहाँ जैन और बौद्ध धर्म ने जन्म लिया था, ये स्थापित थे। पंजाब और दोआबे में भी गणतंत्रों का उल्लेख मिलता है। गणतंत्रीय राज्य सम्भवतः अति प्राचीन काल का अवशेष थे।*

राजकीय संगठन

राजतंत्रीय राज्यों के शासक राजा होते थे। साधारणतया वंशानुगत वे गद्दी पर बैठते थे। वे स्वेच्छाचारी और निरंकुश नहीं होते थे। अपने मंत्रि-मण्डल की सलाह से काम करते थे। मंत्रियों के अधिकार व्यापक होते थे। राजा जितने आदेश जारी करता था, उन सब के लिए अपने मंत्रि-मंडल का समर्थन प्राप्त करता था। कुशासन और क्रूरता के कारण राजाओं के गद्दी से हटाए जाने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

राजाओं को कुछ विशेषाधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। कच्चे माल की उपज पर, वार्षिक कर के रूप में, दसवाँ भाग उन्हें मिलता था। त्यक्त भूमि या जंगलों को वे उपयोग में ला सकते थे। जब राजा का उत्तराधिकारी जन्म लेता तो राजा अपनी प्रजा से दुग्ध धन वसूल करता था। उत्सव और समारोहों के अवसर पर बन्दियों को मुक्त कर सकता था। आखेट राजाओं का प्रिय आमोद था और प्रजा उनके लिए 'मृगों के जंगल' की रक्षा करती थी।

---

* बुद्ध-संघ का व्यवस्था और अनुशासन भी राजनीतिक विधान अपना लिया था। बुद्ध भिक्षुओं को उपदेश देते थे कि वे व्रज्जियों के विधान और नियमों के अनुसार चलें। ऐसा करने से वे भी व्रजियों के समान सम्पन्न हो जाएँगे। वे भिक्षुओं को संघ की नियमित बैठकें करने का आदेश देते थे जिससे सब एक साथ बैठ कर एक मत से कार्य-सञ्चालन कर सकें, अपने मुखियों की बातें सुन सकें; मनमानी के स्थान पर सुनियोजित नियमों का पालन कर सकें। जो सर्व सम्मति से निश्चित होकर नियम बन गया है, उसी का अनुसरण कर सकें और अनियमित कार्यवाहियों पर रोक लगा सकें—ठीक उसी तरह जैसे कि व्रजियों के संघ में किया जाता है। (देखिए के० पी० जायसवाल रचित 'हिन्दू पालिटी', पृष्ठ ४७)

गणतंत्रों का शासन

गणतंत्रों में से कुछ का शासन सीधे जन-समितियों या संघों द्वारा होता था। संघ की बैठकों में जो निश्चय होता उसी के अनुसार कार्य किया जाता था। ये बैठकें मण्डल में होती थीं। एक निश्चित समय के लिए लोग अपने कार्याधिकारी को चुन लेते थे। यह कार्याधिकारी राजा कहलाता था। लिच्छवि दो या तीन प्रमुख अधिकारियों को चुनते थे, किन्तु सर्वोपरि शक्ति विशिष्ट कुलीनों के संघ को प्राप्त होती थी। शाक्यों में भी शासन-कार्य सार्वजनिक समिति द्वारा सम्पन्न होता था। इस समिति का एक चुना हुआ मुखिया होता था। बौद्धों ने कपिलवस्तु में एक नये मण्डल का उद्घाटन किया था जिसमें नीति-शास्त्र पर अनेक सम्भाषण होते थे। शाक्यों के प्रत्येक ग्राम का कार्य खुली समितियों में होता था। गाँव के सभी गृहस्थ उस समिति की बैठकों में भाग लेते थे।

२—जैन और बौद्ध धर्म

बहुत दिनों तक समझा जाता था कि जैन धर्म बौद्ध-धर्म की ही एक शाखा है।* अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म गौतम बुद्ध के जन्म से पहले प्रचलित हो गया था। ईसा से पूर्व आठवीं शती में एक जैन भिक्षु पार्श्वनाथ ने जैन धर्म की स्थापना की थी। महावीर वर्द्धमान ने, जो जैन धर्म के संस्थापक के रूप में जनसाधारण में प्रसिद्ध हैं, इसे व्यवस्थित कर संघ-रूप देने में सफलता प्राप्त की। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों के सम्मुख चार महान नियम—आर्य सत्य चतुष्टय रखे थे—अहिंसा, सत्य-सम्भाषण, चोरी न करना और माया-मोह में फँसाने वाली वस्तुओं का त्याग। महावीर ने इन चार नियमों में एक स्वतंत्र पाँचवाँ नियम और जोड़ दिया। यह पाँचवाँ नियम था—पवित्रता। ये पाँचों नियम मिल कर एक पंथ की रचना करते थे जो पञ्चयम धर्म कहलाता था।

---

* कोलब्रुक जैसे लेखकों ने इस प्रकार की गलती की है। वह गौतम बुद्ध को महावीर का शिष्य समझते थे। जैकोबी और बुहलर ने यह सिद्ध करने के लिए काफी श्रम किया है कि जैन धर्म का अस्तित्व स्वतन्त्र था। (देखिए बुहलर कृत 'दि इण्डियन सैक्ट्स आफ जैन्स, १६०३ का संस्करण।)

महावीर

जैन मतावलम्बी कुछ महान् पुरुषों की उपासना करते हैं जो तीर्थङ्कर कहलाते हैं। इनकी संख्या चौबीस है। महावीर इन सब में अन्तिम हैं। वह सिद्धार्थ के पुत्र थे। सिद्धार्थ एक क्षत्रिय जाति के मुखिया और वैशाली के स्वल्प जन सत्तात्मक जनतंत्र के प्रमुख अधिकारी थे। ईसा से पूर्व ५६६ में महावीर का जन्म हुआ था। तीस वर्ष की अवस्था में आप पार्श्वनाथ के संघ में सम्मिलित हो गए थे। संघ के जीवन से असन्तुष्ट होकर आपने उसे छोड़ दिया और बारह वर्ष तक भ्रमण करते रहे। अपने भ्रमण काल में आप उत्तर-भारत के अनेक नगरों में गए और जिस नये संघ का आप आयोजन कर रहे थे, उसके अनुयायी एकत्रित किए। बयालीस वर्ष की अवस्था में आपने कैवल्य प्राप्त किया और इसके बाद, तीस वर्ष तक, अपने संशोधित धर्म का प्रचार करते रहे। अपने जीवन के अन्तिम काल में आपने जिन की उपाधि प्राप्त की। इस जिन से ही जैन शब्द बना और उनके धर्म का नाम जैन धर्म हुआ। ईसा से पूर्व ५२७ में पटना जिला के एक छोटे से नगर पावा में आपने शरीर त्याग किया।*

जैन धर्म के सिद्धान्त

बौद्धों की तरह जैन भी वेदों और उनमें वर्णित अनुष्ठानों को नहीं मानते थे। जैन धर्म का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था, आत्मा को

* इसी तिथि के आधार पर प्रारम्भिक जैन इतिवृत्त का निर्धारण हुआ है। एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार महावीर का निधन ईसा से पूर्व ४६७ में या इसके लगभग हुआ था। महान् जैन भिक्षु हेमचन्द्र और मेरुतुङ्ग द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर जैकोबी और कार्पेन्टियर ने इस तिथि को निर्धारित किया है। बुद्ध के निर्वाण की तिथि भी इसके कुछ ही वर्षों के अन्तर्गत निर्धारित की गई है—ईसा से पूर्व ४८०-४६७—जिससे इसकी और भी पुष्टि होती है। देखिए जैकोबी लिखित कल्पसूत्र की भूमिका ; वी० ए० स्मिथ लिखित 'हिस्ट्री आफ इन्डिया', चौथा संस्करण, दूसरे परिच्छेद का परिशिष्ट सी' पृष्ठ ४६-५० भी देखिए जिसमें निर्वाण की तिथि और भी पीछे खिसक जाती है—ईसा से पूर्व ५४६। इसके अनुसार जितना भी शिशुनाग तिथि क्रम है, वह सब पचास साल पीछे खिसक जाता है।

भौतिक बन्धनों से मुक्त करना। 'तीन रत्न' जो एक जैन मतावलम्बी को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायता दे सकते हैं, इस प्रकार हैं—(१) सम्यक दर्शन, (२) सम्यक ज्ञान और (३) सम्यक चरित्र। विश्व चेतना के वैदिक सिद्धान्त को भी जैन नहीं मानते। न वह प्रजापति या स्रष्टा के रूप में किसी सर्वोपरि शक्ति की याचना करते हैं। मानव में जितनी निहित शुभ शक्तियाँ हैं, उन सब की साकार प्रतिमा उनका परमात्मा है। उनका विश्वास है कि इस संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें जीव न हो। अहिंसा या किसी जीव को चोट न पहुँचाना उनका सब से बड़ा सिद्धान्त है। इसी कारण जैन माँस नहीं खाते और इनमें 'जो अधिक कट्टर होते हैं, पानी भी छान कर पीते हैं, साँस नाक पर बंधे कपड़े में से छनी हुई वायु का लेते हैं और जब चलते हैं तो अपने आगे का मार्ग चँवर से साफ करते जाते हैं ताकि अनजाने में मुँह अथवा नासिका के द्वारा कोई जीव उदर में न पहुँच जाए, पाँव के नीचे कोई जीव कुचल कर न मर जाय।*

जैन संन्यासी और मुनि और भी कड़े नियमों का पालन करते हैं। अन्तिम मोक्ष के लिए जो मार्ग वे चुनते हैं, वह छोटा किन्तु अत्यन्त कठिन होता है। ये संन्यासी, यती या साधु कहलाते हैं और साधारण जैन मतावलम्बी उपासक या श्रावक कहलाते हैं। जैन कठिन तपस्या में विश्वास करते हैं। प्रायश्चित का सहज मार्ग उनके यहाँ नहीं है। उनकी सब से कठिन तपस्या सल्लेखन है जिसमें भूखे रह कर अपने शरीर का अन्त किया जाता है। इसका उल्लेख करते हुए ल्युइस राइस ने कहा है—"मानवी प्रवञ्चना का कटुतम व्यङ्ग-लेखक भी इससे अधिक कठोर व्यङ्ग की कपल्ना नहीं कर सकता। जरा कल्पना कीजिए एक नंगी चट्टान की जिस पर क्षीण-काय उपासक, स्त्री और पुरुष, मूक यंत्रणा में, खुद अपने आप बुलाई हुई मृत्यु की अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस व्यङ्ग पूर्ण दृश्य का सब से अधिक कटु पहलू यह है कि ये वे लोग हैं जिनका सब से बड़ा धर्म अहिंसा है—जो किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते!"

---

* देखिए बार्थ लिखित 'हिस्ट्री आफ रिलीजन्स इन इन्डिया'।

जैन धर्म का प्रचार

महावीर की मृत्यु के बाद जैन-धर्म के सिद्धान्तों का, इस धर्म के विद्वान् अनुयायियों ने, व्यापक प्रचार किया। ये विद्वान् श्रुत केवलिन कहलाते हैं। इनमें भद्रबाहु बहुत प्रसिद्ध हुए। भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे। आपने एक बहुत बड़े दल के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया था। वहाँ जाकर, तामिल प्रदेश में, जैन धर्म का प्रचार किया। फलतः ईसा काल की प्रारम्भिक शतियों में इस धर्म के अनुयायियों की वहाँ कमी नहीं रही।

दक्षिण-भारत की ओर भद्रबाहु का अभियान एक महान् घटना थी। इस घटना का महत्व इसलिए भी है कि इसी समय जैन संघ में दो दल बन गए थे—एक दिगम्बर, दूसरा श्वेताम्बर।* इन दोनों दलों में विशेष भेद यह था कि दिगम्बर—जो भद्रबाहु के अनुगामी थे—नग्नता के नियम का सख्ती के साथ पालन करते थे। श्वेताम्बर नग्न नहीं रहते थे। महावीर के काल में भी गोशल ने आजीविका नाम से अपना एक अलग दल बना लिया था। अशोक ने आजीविका दल या सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए गया के निकट पहाड़ खोद कर बनाए गए निवासों को प्रदान कर दिया था—दिगम्बर होने के कारण बस्ती में वे नहीं रह सकते थे।

जैन धर्म का एक अपना रोचक इतिहास है। इसका विशेष विवरण आगे चल कर देंगे। इस धर्म ने अनेक विद्वानों को जन्म दिया, संस्कृत के साहित्य में वृद्धि की, पाली में भी इसके ग्रंथों की रचना हुई। धार्मिक और ऐसे ग्रंथ लिखे जो

---

* ईसा काल के प्रारम्भ तक यद्यपि ये दोनों दल नहीं बन पाए थे, फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि भद्रबाहु ने जिस पथ का अवलम्बन किया वह, महाकाल का जो प्रभाव पड़ा वह और ईसा बाद ८० में जिन चन्द्र और शिवभूति के पथ ने मिलकर इस विभाजन की भूमिका का काम किया और वल्लभी की दूसरी महान् परिषद् के पूर्व ही, अन्तिम रूप से, दोनों दल अलग हो गए। इस प्रकार ईसा सं॰ पन्द्रहवीं शती के मध्य में यह विभाजन हो गया। देखिए सी॰ जे॰ शाह कृत "जैनिज़्म इन नार्थ इण्डिया, ईसा से पूर्व ८०० — ईसा सं॰ ५२६ तक", पृष्ठ ७३।

सांसारिक जीवन से सम्बन्ध रखते थे। दक्षिणी भारत के साहित्य और संस्कृति पर जैन धर्म का प्रभाव गहरा पड़ा।

बौद्ध धर्म

जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म भी ब्राह्मणों के जातीय आभिजात्य और आधिपत्य के विरुद्ध क्षत्रियों के विक्षोभ का परिणाम था। जैसा हम कह चुके हैं, बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक काल छान-बीन और जिज्ञासा का काल था जो तत्कालीन समाज के प्रत्यक्ष असन्तोष और विक्षोभ को प्रकट करता था। व्यावसायिक क्षेत्र में असफलता और तज्जन्य संकट ने लोगों को सांसारिक सुख से विमुख कर दिया था और इस काल के अनेक प्रमुख व्यक्ति—जो अ-ब्राह्मण वर्ग से सम्बन्ध रखते थे—वनों में जाकर ध्यान-चिन्तन में लीन होने की इच्छा प्रकट करते थे। ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया, क्षत्रियों को इस बात का अनधिकारी घोषित किया कि वे वनों में जाकर ध्यान-चिन्तन में अपना शेष जीवन बिताएँ। फलतः आध्यात्मिक विद्रोह उत्पन्न हुआ। बौद्ध धर्म इसी विद्रोह की देन है।

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध इस नये धर्म के प्रवर्तक थे। आप महावीर के सम-कालीन थे। सौभाग्य से इस महान् पुरुष का जीवन-वृत्तान्त जानने-योग्य विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध है।* बुद्ध के जीवन के साथ यद्यपि अनेक काल्पनिक कथाएँ सम्बद्ध हो गई हैं, उनके जीवन को यद्यपि अनेक चमत्कारों से विभूषित कर दिया गया है, फिर भी तथ्य-रूप में हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। पाली के धार्मिक ग्रंथों में मौखिक परम्परा से प्राप्त बुद्ध-संबंधी ये सभी कथाएँ शब्द-बद्ध हो गई हैं। बुद्ध के जीवन का विश्वसनीय वृतान्त हमें पाली के इसी साहित्य से प्राप्त होता है।

गौतम बुद्ध शुद्धोदन के पुत्र थे। शुद्धोदन शाकीय वर्ग के राजा थे। उनकी ख्याति और नाम बहुत था। नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु उनकी राजधानी थी। एक सम्पन्न राजा का पुत्र होने

---

*देखिए कर्न कृत 'मैनुअल आफ इन्डियन बुद्धिज़्म', भाग २; अश्वघोष रचित और कावल द्वारा सम्पादित 'बुद्धिचरित' और बर्ग कृत 'बुद्ध' भी देखिए।

के कारण गौतम को सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं। लेकिन सुख-सुविधाओं और ऐश-व-आराम के प्रति गौतम की ज़रा भी रुचि नहीं थी। वैरागियों की भाँति गौतम ने चिन्तनशील मस्तिष्क पाया था और अपने चारों ओर के दुःख-दारिद्रय को देखकर विक्षुब्ध हो उठते थे।

इस डर से कि कहीं गौतम भिक्षु या संन्यासी न हो जाएँ, शुद्धोदन ने शीघ्र ही एक सुन्दर राजकुमारी के साथ उनका विवाह कर दिया। लेकिन विवाहित जीवन का आकर्षण भी गौतम को बाँध कर न रख सका। एक शिशु के जन्म के कुछ दिन बाद उन्होंने गृह-त्याग करने का निश्चय कर लिया और संन्यास-पथ पर चल पड़े।

सब से पहले गौतम ब्राह्मण तपस्वियों के पास गए और उनसे यह जानने का प्रयत्न किया कि जीवन के दुःखों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है। ब्राह्मणों ने गौतम को तप करने का परामर्श दिया। लेकिन कठिन-से-कठिन तप का भी, सिवा अपने शरीर को क्षीण करने के, और कोई फल नहीं दिखाई दिया। इसके बाद, ३६ वर्ष की आयु में, गौतम गया गए और ठीक उस समय, जब वह एक वट-वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे, उन्हें प्रकाश के दर्शन हुए। इस नये प्रकाश—आत्मबोध—को ग्रहण करने के बाद गौतम बनारस गए और वहाँ पर उन्होंने अपने सब से पहले अनुयायी या शिष्य बनाए। इन शिष्यों की सहायता से वह जीवन-पर्यन्त अपने मत का प्रचार करते रहे।*

---

* महावंश के अपने अनुवाद में गीगर ने बुद्ध के निर्वाण का काल ईसा से पूर्व ४८३ बताया है। लंकावासियों की इस गणना को आधार मानकर कि बुद्ध के निर्वाण और अशोक के याजक बनने के बीच २२८ वर्षों का अन्तर है, गीगर ने इस काल का निर्धारण किया है। इससे पूर्व मैक्समुलर और कनिंघम का मत था कि बुद्ध का निर्वाण-काल ईसा से पूर्व ४७७ है। उनका कहना था कि चन्द्रगुप्त मौर्य ईसा से पूर्व ३१५ में गद्दी पर बैठा था और उसका राज्यारोहण बुद्ध के निर्वाण से १६२ वर्ष बाद माना जाता है। वी० ए० स्मिथ निर्वाण-काल को ई० पू० ४८७ या ४८६ मानते हैं। उनका आधार कैण्टन का 'डाटेड रिकार्ड' था जिसके अनुसार, ईसा सं० ४८६ में, निर्वाण-काल से लेकर ६७५ वर्ष-बिन्दु अंकित हैं। लंका की एक और अपेक्षाकृत नवीन परिपाटी के अनुसार बुद्ध का निर्वाण-काल ईसा से पूर्व ५४४-३ है। यह

चौथा परिच्छेद

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

बुद्ध के उपदेशों में जटिलता नहीं होती थी, इसलिए वह सहज ही जनप्रिय हो गए। सर्वोपरि चेतना और उसके सूक्ष्म तत्वों की छान-बीन भी बुद्ध नहीं करते थे और सूक्ष्म विवेचनों को वह उपेक्षित कर जाते थे। उनके जीवन का लक्ष्य संसार से सभी दुःख और क्लेशों को मिटाना था। धन और सुख की तृष्णा को अनेक मानसिक तथा भौतिक दुःखों का मूल मानते थे। इस जंजाल से, इस महारोग से, कैसे पीछा छूटे, यही उनके सामने सब से बड़ा प्रश्न था और साहस के साथ इस प्रश्न का उत्तर खोजते थे।

सभी मुसीबतों के मूल कारण को बुद्ध ने समझ लिया था। यह मूल कारण तृष्णा थी। सभी प्रकार की तृष्णा का नाश, बुद्ध की सम्मति में, दुःखों को निश्चय ही दूर कर देगा। चार बातों को बुद्ध देखते थे—एक तो दुःख को, दूसरे उसके कारण को, तीसरे उसके दमन को और चौथे दमन के तरीके को। दुःख के कारण को दमन करने के लिए उसका सही तरीका मालूम होना चाहिए और यह तरीका था सभी आकांक्षाओं का, तृष्णा और मोह का त्याग। अन्तिम मोक्ष निर्वाण के साथ प्राप्त होता था। निर्वाण का अर्थ है—सुखद और पुनर्जन्म के भय से मुक्त मृत्यु।

बुद्ध का कथन था, कि केवल मृत्यु मानव को अन्तिम शान्ति प्रदान नहीं कर सकती। क्योंकि मृत्यु के बाद आत्मा फिर से जन्म लेती है और दुःखों का दौर फिर आरम्भ हो जाता है। विश्व को निरी माया समझने से—जैसा ब्राह्मण कहते हैं—काम नहीं चलता। न यही मानने से काम चलता है कि आत्मा ब्रह्म में लीन होने पर पूर्ण सुख को प्राप्त करती है। ऐसा समझना उपहासास्पद है, क्योंकि—"विश्व की वास्तविकता के सम्बन्ध में मानव चाहे जो भी धारणा बनाए, भले ही उसे निरी माया अथवा भ्रम समझने का प्रयत्न करे, लेकिन जीवन के दुःखों की वास्तविकता से वह

तिथि गलत है और इसमें लगभग साठ वर्ष की गलती है, यह आज सभी मानते हैं। ईसा से पूर्व और ४८३ और ४८६ में जो तीन वर्ष का अन्तर है, इसका कारण यह है कि पुराणों में बिन्दुसार का राज्यकाल २५ वर्ष वर्णित है जब महावंश के अनुसार उसका राज्य-काल २८ वर्ष होता है।

इन्कार नहीं कर सकता—उनकी वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए उसे बाध्य होना पड़ता है।"

इसलिए आत्म-दमन, सन्तोष और पर-प्रेम के द्वारा ही निर्वाण-पद प्राप्त किया जा सकता है—यही उसका निश्चित मार्ग है। निर्वाण-पद प्राप्ति के लिए बुद्ध इसी पथ पर चलने का उपदेश देते थे।

यह समझना भूल है कि गौतम बुद्ध सभी को जंगलों में जाकर ध्यान-चिन्तन में लीन होने का उपदेश देते थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि सर्वसाधारण को अपने सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए। पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने कुछ विशेष नियम निर्धारित किए थे। जो नियम अपेक्षाकृत कठोर थे वे संघ के सदस्यों के लिए—बौद्ध भिक्षुओं के लिए—निर्धारित थे। संक्षेप में, सर्वसाधारण और बौद्ध भिक्षु, सब के लिए समान रूप से लागू होने वाले पाँच नियम निम्न प्रकार हैं—

१. कोई किसी जीव की हत्या न करे।
२. कोई किसी वस्तु को ग्रहण न करे जब तक कि स्वयं दाता उसे न प्रदान करे।
३. कोई असत्य न बोले।
४. मादक द्रव्यों का कोई सेवन न करे।
५. कोई अपवित्र जीवन न बिताए।

विश्वव्यापी धर्म

बुद्ध का धर्म अत्यन्त उदार भावनाओं से संयुक्त था और इसकी नैतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त सुन्दर थी। प्रारम्भ से ही इसके हजारों अनुयायी हो गए। बौद्ध-संघ देश-भर में स्थापित हो गए और दूर-दूर तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगे। अशोक के समय में बौद्ध धर्म जनता का—सर्वसाधारण का—जीवित धर्म हो गया। दान, प्रेम और क्षमा पर आधारित इस धर्म को आज मानव-जाति का एक तिहाई भाग मानता है।

इस स्थिति तक यह धर्म कैसे पहुँचा, कैसी-कैसी अवस्थाओं में से यह गुजरा और फिर किस प्रकार, अन्त में, अपनी जन्म-भूमि तक से यह लोप हो गया—बौद्ध धर्म के इतिहास से सम्बन्धित

ये तथा इसी तरह के अन्य प्रश्नों पर हम इस पुस्तक के दूसरे भाग में विचार करेंगे।

३—मगध का उत्थान ६००—३२१ ई० पू० तक

प्राचीन मगध की सीमाएँ, मोटे रूप में, लगभग वेही थीं जो आज पटना और बिहार के गया जिलों की हैं। इसकी प्राचीन राजधानी गिरिव्रज, गया की पहाड़ियों में स्थित, राजगिरि के निकट थी। यह प्राचीन भारत के अति महत्वपूर्ण राज्यों में से था—"प्राचीन भारत के इतिहास में मगध-राज्य का वही स्थान था जो पूर्व नार्मन-काल के इंगलैंड में वैसेक्स और आधुनिक जर्मनी के इतिहास में प्रशिया का रहा है।" समय-समय पर कितने ही राजवंशों का यहाँ शासन रहा—मौर्य, शुंग, कराव और गुप्त। धार्मिक जीवन का भी, जैसा हम देख चुके हैं, यह प्रमुख केन्द्र था। जैन और बौद्ध धर्म यहीं की धरती में पले और पनपे थे। कौटिल्य और कमराडक, पाणिनि और पातञ्जलि आदि प्रकाराड विद्वानों ने भी यहीं जन्म लिया था। मगध में ही भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों—नालन्दा और विक्रम शिला—की स्थापना हुई थी।

प्रारम्भिक इतिहास

ऋग्वेद काल के लोग भी, जहाँ तक प्रतीत होता है, मगध से परिचित थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में जो कीकत का उल्लेख है, वह मगध से ही सम्बन्ध रखता है। वैदिक काल के आर्य मगध को अत्यधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। इसका कारण यह था कि मगध पर ब्राह्मणत्व का रंग बिल्कुल नहीं चढ़ सका था। आर्यों का प्रभाव यहाँ धीरे-धीरे और देर में फैला था और भारत-युद्ध के समय में मगध आर्यों का वासस्थान था। मगध पर शासन करने वाला प्रारम्भिकतम राजवंश बृहद्रथ का था। बृहद्रथ सुप्रसिद्ध जरासंध का पिता था। इस राजवंश का अन्त, जहाँ तक सम्भव है, ईसा से पूर्व छठी शती में हुआ था।

शिशुनाग-वंश

पौराणिक सूची में अगला राजवंश वह था जिसकी स्थापना शिशुनाग ने की थी। शिशुनाग से मतलब यदि शेष नाग ही है,

जैसा कुछ विद्वानों का मत है, तो इस वंश के राजा उस नाग जाति के ही लोग थे जिसका उल्लेख महाकाव्यों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।*

बिम्बसार

मगध-राज्य के संस्थापक बिम्बसार या श्रेणिक (ईसा से पूर्व ५४३) थे। वंशानुक्रम में आपका स्थान पाँचवाँ था। आपकी राजधानी राजगृह थी। आप राजनीति के पण्डित और बहुत बड़े योद्धा थे। अपनी कुशल और विद्वत्तापूर्ण नीति के कारण ही आप मगध को इतने बड़े साम्राज्य का रूप दे सके थे। कोशल और वैशाली के शासकों से आपने विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था। अंग के पड़ोसी राज्य को, युद्ध करके, आपने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। काशी का कुछ भाग आपको अपनी एक रानी के साथ दहेज में मिला था। यह रानी कोशल के राजा की कन्या थी। महावीर वर्द्धमान और गौतम बुद्ध आपके राज्य-काल में जीवित थे और आपकी वैशाली-पत्नी गौतम बुद्ध से सम्बन्धित थी। जैन साहित्य और अनुश्रुतियों में आपका नाम बहु और विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। जैन धर्म के आप सब से बड़े पोषक तथा समर्थक थे।

इस शक्ति-शाली राजा की मृत्यु, उसके अपने ही पुत्र अजातशत्रु के कारण भूख से तड़प-तड़प कर हुई। अपने पिता को भूख से मार कर ईसा से पूर्व ४९१ में अजातशत्रु गद्दी पर बैठा।†

---

* बिम्बसार से लेकर मौर्यों तक मगध के राजाओं की सूची लंका के ग्रन्थों, पुराणों, जैन-ग्रन्थों और अशोकवदन में—जो उत्तरी भारत के बौद्धों की परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है—मिलती है। पौराणिक सूचियों में राजाओं के नाम तथा काल में भिन्नता पाई जाती है, लेकिन सार रूप में सब मिलती हैं—शिशुनाग वंश की परम्परा का जहाँ तक सम्बन्ध है। बिम्बसार, अजातशत्रु और उदयिन के वंशानुक्रम में भिन्नता नहीं मिलती, सिवा इसके कि पौराणिक सूची में दर्शक का नाम उदयिन से पहले आता है। (देखिए गीगर लिखित महावंश की भूमिका और पार्गिटर लिखित 'दि पुराण टेक्स्ट आफ दि डाइनेस्टीज़ आफ दि कलिएज', पृष्ठ २०-२३)

† इन राजाओं के गद्दी पर बैठने की तिथि और भी पहले, क्रमशः ईसा

चौथा परिच्छेद

अजातशत्रु

यदि बौद्ध अनुश्रुतियों का विश्वास किया जाए तो पितृहन्ता राजा अजातशत्रु का सब से पहला काम गौतम बुद्ध से भेंट करना था। गौतम बुद्ध के सामने अजातशत्रु ने अपने अपराध को स्वीकार किया और उसके पाप से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। गौतम बुद्ध ने अजातशत्रु की प्रार्थना स्वीकार कर ली। बुद्ध के साथ अजातशत्रु की इस भेंट का दृश्य भरहुत के स्तूप पर (सम्भवतः ईसा से पूर्व दूसरी शती में) अंकित है। जैन साहित्य में भी अजातशत्रु का अच्छे रूप में उल्लेख है। जैन परम्परा के अनुसार अजातशत्रु ने बिम्बसार को भूखा नहीं मारा था। जो भी हो, अजातशत्रु शक्तिशाली राजा था। अपने राज्य की सीमा का काफी विस्तार करने में उसने सफलता प्राप्त की। सब से पहला युद्ध उसने कोशलों से किया। कोशलों के राजा ने अपनी कन्या का, जो बिम्बसार की मृत्यु के कारण विधवा हो गई थी, पक्ष लिया था। यह पता नहीं चलता कि इस युद्ध में अजातशत्रु ने विजय प्राप्त की थी। जो भी हो, बाद में कुछ समझौता हुआ और अन्त में कोशल राज्य भी अजातशत्रु के हाथों में चला गया।

वैशाली के लिच्छवि भी मगध के शत्रु थे। अजातशत्रु ने जब देखा कि वह इन शक्तिशाली लोगों को हराने में असमर्थ है तो उसने वस्साकर नामक एक ब्राह्मण को अपने यहाँ रखा। इस ब्राह्मण ने अपने छल-कपट द्वारा लिच्छवियों का पतन करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार अजातशत्रु ने लिच्छवियों की भूमि पर अधिकार कर लिया और वह उनका स्वामी बन बैठा। उन पर अंकुश रखने के लिए अजातशत्रु ने सोन और गंगा के संगम के निकट, सोन के उत्तरी तट पर, एक छोटे से दुर्ग का निर्माण किया और इस प्रकार पाटलिपुत्र की—मौर्य-काल में जिसने विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की—नींव पड़ी।

मगध-राज्य को अजातशत्रु ने बहुत विस्तृत रूप देने में सफलता

से पूर्व ५८२ और ५४४, स्थिर की गई है। देखिए वी० ए० स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, चौथा संस्करण पृष्ठ ५१

प्राप्त की। हिमालय और गंगा के बीच का पूरा प्रदेश उसके राज्य के अन्तर्गत आ गया।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

अजातशत्रु के बाद उसके जो उत्तराधिकारी गद्दी पर बैठे, वे नाम के राजा थे। पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के बाद दर्शक गद्दी पर बैठे। लेकिन बौद्ध और जैन ग्रंथों में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता, अपितु उनके अनुसार उदयिन अजातशत्रु का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। उदयिन ने, अजातशत्रु के बनाए दुर्ग के निकट, कुसुमपुर की स्थापना की। यह नगर बाद के पाटलिपुत्र का स्थानपन्न या उसके आस-पास में ही स्थित था। इस वंश परम्परा का अन्तिम राजा महानन्द था। महानन्द ने एक दासी स्त्री से विवाह किया था। इस स्त्री से उसके एक पुत्र हुआ था जिसका नाम महापद्म नन्द था। महापद्म नन्द ने गद्दी पर अपना अधिकार जमाया और इस प्रकार नन्द वंश का श्रीगणेश किया।

नन्दों की शक्ति

पुराणों में शिशुनाग राजा को क्षत्रिय और प्रथम नन्द को सभी क्षत्रियों का नाश करने वाला राजा बताया गया है और उसे स्वयंभू राजा की उपाधि दी है।* हो सकता है उसने शिशुनाग के समकालीन सभी राजवंशों को—कलिंग, इक्ष्वाकु, सूरसेन और मथुरा आदि को—उलट दिया हो। खारवेल के सुप्रसिद्ध हाथी-गुम्फ-लेख के अनुसार नन्द का राज्य कलिंग तक विस्तृत था। "पुराणों में कहा गया है कि नन्द की छत्रछाया में भारत का काफी भाग एक सूत्र में बंध गया था। इसका समर्थन उन यूनानी लेखकों के विवरण से भी होता है जिनका कहना है कि व्यास के पार, सिकन्दर के समय में, एक राजा की छत्रछाया में जिसकी राजधानी 'पाली बोथरा' थी, अत्यन्त शक्तिशाली लोग रहते थे।"*

---

* शिशुनाग-वंश के अन्तिम दो राजा, नन्दि वर्द्धन और महानन्द, सम्भवत: नये नन्दों से भिन्न प्राचीन नन्द थे—महानन्द और उसके पुत्रों में से थे। प्राचीन और नये नन्दों में भारी सामाजिक और धार्मिक भेद था। नन्द-वंश के उद्गम के सम्बन्ध में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं है। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ३१३ ४)।

एक पुराण के अनुसार महानन्द और उसके पुत्रों ने ८८ वर्षों तक राज्य किया। एक दूसरे पुराण के अनुसार उनका राज्य काल केवल २८ वर्षों तक रहा। लंका के ग्रंथों के अनुसार उनका राज्य काल और भी घट कर केवल २२ वर्ष रह जाता है। प्रथम नन्द अपने पीछे न केवल एक बड़े साम्राज्य को बल्कि एक बहुत बड़ी सेना और भरपूर खजाना भी छोड़ गए थे। यूनानी लेखक कर्टियस, डिओडोरस और प्लूटार्क के ग्रंथों में इसके प्रमाण मिलते हैं। इन लेखकों के कथनानुसार सिकन्दर के समय में गंगा के प्रदेश में जो राजा शासन करता था, उसके पास बहुत बड़ी सेना थी जिसमें हाथियों और रथों की संख्या अधिक थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के सुप्रसिद्ध मंत्री कौटिल्य ने इस वंश का तख्ता पलट दिया था, लेकिन यह कैसे सम्भव हुआ, इसका विस्तृत विवरण नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता है तो केवल कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र, पुराण और बाद में लिखे गए एक नाटक 'मुद्राराक्षस' में।

मौर्य साम्राज्य का आधार

इन सब बातों से यही परिणाम निकलता है कि जिस तरह सिकन्दर की विजयों के फलस्वरूप पंजाब के छोटे मोटे राज्यों का नाश हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्य की छत्रछाया में उत्तर-पश्चिमी भारत एक होकर उठ खड़ा हुआ, उसी प्रकार नन्द राज्य ने पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति के उत्थान में योग दिया और उत्तर-पूर्वी भारत एक सूत्र में बंध गया।

बिम्बसार द्वारा अंग की विजय के साथ, लगभग ईसा से पूर्व ५०० में, मगध राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ था। उसके पुत्र अजातशत्रु ने मगध का प्रभुत्व काशी, कोशल, विदेह (उत्तरी बिहार) पर, पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में, स्थापित कर लिया था। कलिंग पर भी, थोड़े समय के लिए एक नन्द राजा ने विजय प्राप्त कर ली थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने "राज्य सीमा के उत्तर-

---

लंका के ग्रन्थों में शिशुनाग वंश के अन्त का वृत्तान्त मिलता है। यह वृत्तान्त यूनानियों के उस वर्णन से भली भाँति मिलता है जो उन्होंने अग्रामियों के उत्थान के बारे में दिया है।

पश्चिमी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर और भी विस्तृत किया। इन प्रदेशों में कुछ वर्षों तक सिकन्दर महान् और उसके क्षत्रपों का बोलबाला रहा और अशोक को कलिंग पर फिर से विजय प्राप्त करनी पड़ी थी।*

---

* देखिए हेमचन्द्रराय चौधरी लिखित 'पोलीटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेन्ट इन्डिया', तीसरा संस्करण, पृष्ठ १५६। साहित्यिक परम्परा के अनुसार उत्तर में कोशल और दक्षिण में कुन्तल, दोनों नन्द राज्य में सम्मिलित थे।

पाँचवाँ परिच्छेद

भारत में यवन—सिकन्दर का आक्रमण

१—ईरान और भारत

फारस और भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। उसकी जड़ें प्राचीन काल तक पहुँची हुई हैं। सिन्ध का बेसिन, प्राचीन काल में, इन्डो-ईरानी था। भारतीय और ईरानी, दोनों इसे अपना समझते थे—दोनों से इसका सम्बन्ध था। ऋग्वेद में इन दोनों के क्रमिक सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। वेद और आवेस्ता दोनों इस सम्पर्क-संसर्ग और सम्बन्ध का पोषण करते हैं।

देव और असुर

विद्वानों का मत है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व वे संयुक्त आर्य-समुदाय—जो पंजाब में बस गए थे और वे जो ईरान में ही रह गए थे—दोनों की भाषा एक ही थी। उनका धर्म, आख्यान और प्रथाएँ एक थीं। वैदिक और आवेस्ता के देवता एक ही परिवार के सम्बन्धी जान पड़ते थे। धीरे-धीरे दोनों अलग होने शुरू हुए। एक ओर वे हो गए जो पुरातनवादी थे और बहु देवताओं की—प्रकृति के विभिन्न प्रतीकों की—पूजा करते थे। दूसरी ओर अद्वैतवादी थे और केवल एक महान् देवता—आहुर मज़दा—को उपासना करते थे। इस प्रकार 'देव' और 'असुरों' के दो महान् दल बन गए। उनके उपास्य देवताओं के आधार पर ही उनके ये नाम पड़े। असुरों का पलड़ा भारी था और उन्होंने देवों को ईरानी पठार के उत्तर-पूर्वी भाग में शरण लेने के लिए बाध्य किया। इसके बाद वे आगे बढ़े और भारत में प्रवेश किया।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के आविष्कार

संयुक्त आर्यों के ईरानी और इन्डो-आर्यों के रूप में अलग-अलग हो जाने के पहले भी भारत से इनका घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित था। विभाजन के सम्पूर्ण हो जाने पर भी यह सम्पर्क बना रहा। गत वर्षों में जो नई खोज और आविष्कार हुए हैं, उनसे इस मत

की पुष्टि होती है कि मेसोपोटामिया और ईरान की ओर से सिन्ध के बेसिन से जन-समुदायों का आगमन होना रहता था। ईरानी पठार उनका राजमार्ग था। भारत के पुरातत्व विभाग ने पंजाब में हड़प्पा और सिन्ध में मोहनजोदड़ो में जो खोदाई की है, उससे भारत के पूर्व-ऐतिहासिक अतीत पर काफी प्रकाश पड़ता है। इस खोदाई में अनेक मोहरें ऐसी मिली हैं जो मेसोपोटामिया के प्राचीन खंडहरों में प्राप्त मोहरों से मिलती हैं। यह साम्य इस बात का द्योतक है कि उत्तर-पश्चिमी भारत से फारस और मेसोपोटामिया का, ईसा से पूर्व ३००० के सुदूर अतीत में भी, सम्पर्क स्थापित था।

सिंध की घाटी की सभ्यता

इन महत्वपूर्ण खोजों के फलस्वरूप अतीत के गर्भ में छिपी हमारी महान् सभ्यता का पता चला है। अपने वास-स्थान के अनुसार इसका नाम सिन्ध-घाटी की सभ्यता रखा गया है।* यह सभ्यता ई० पू० ३००० लाख वर्ष पुरानी है। खोदाई में जो नगर प्रकट हुए हैं, उनमें अवशेषों के कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। ये स्तर, प्रत्यक्षतः तीन भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें देखकर आधुनिक नगरों की याद हो आती है। ऐसा मालूम होता है कि किसी समय आग लगने के कारण ये नगर नष्ट हो गए थे। भवनों के निर्माण में पक्की और कच्ची दोनों प्रकार की ईंटों और लकड़ी का प्रयोग किया गया है। विस्तृत स्नानागारों से ये भवन सुसज्जित हैं। नालियों की प्रणाली भी काफी व्यवस्थित और ढंग की है। ऊपर जाने के लिए सहज सीढ़ियाँ बनी हैं और फर्श पक्के हैं। भीतरी भाग में खिड़कियाँ बनी हैं। बाहरी दीवारों में खिड़कियाँ बनाने का उन दिनों रिवाज नहीं था। सड़कों और गलियों में कूड़ादान रखे

---

* देखिए सर जान मार्शल द्वारा सम्पादित 'मोहनजोदड़ो एन्ड दि इन्डस वैली सिविलिजेशन (तीन भाग)। सर जान मार्शल भारत के पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर जेनरल थे। आपकी पुस्तक में इस खोदाई का अधिकृत विवरण मिलता है। साथ ही श्री प्राणनाथ लिखित 'दि स्क्रिप्टस आफ दि इन्डस वैली' शीर्षक लेख भी देखिए। यह आई० ए० क्वार्टर्ली, अंक ८ में प्रकाशित हुआ था।

जाते थे। पानी के निकास के लिए, सड़कों की नाली-प्रणाली भी, काफी व्यवस्थित होती थी।

स्तूपों से युक्त बड़े-बड़े सभा-भवनों के अवशेष भी इस खोदाई में मिले हैं। ये सभा-भवन बरामदों से सुसज्जित होते थे। इनका उपयोग सार्वजनिक सभाओं या धार्मिक उपदेशों के लिए होता था।

मिट्टी की मोहरें, एक विशेष प्रकार की भूरी-लाल मिट्टी की बनी छोटी-छोटी मूर्तियाँ, नन्दी और शिश्न की प्रतिमाएँ खोदाई में मिली हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि शिव के पवित्र नन्दी और शिश्न का अस्तित्व उस सुदूर अतीत में भी था और उस काल के देवता आज दिन भी पूजे जाते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि शिव की पूजा आर्यों से पहले प्रचलित थी। आर्यों ने उसे यहाँ बसने के बाद अपना लिया था।

सिन्ध की घाटी में मिली मोहरों पर अंकित लेखों को एक विद्वान् ने पढ़ने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि इन मोहरों की लिपि ब्राह्मी लिपि से मिलती है।

तत्कालीन जीवन

इस सभ्यता के निवासियों, सुमेरियनों और द्रविडों में क्या और कैसा सम्बन्ध था, यह अभी तक निश्चित नहीं है। लेकिन एक बात निश्चित है कि सिन्ध की घाटी ईरानी पठार और मेसोपोटामिया के लोगों तथा भारत के निवासियों के मिलन का केन्द्र थी। यहाँ की सभ्यता नगरवासियों की सभ्यता थी जिसमें जीवन की वे सभी सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं जो एक सुसम्पन्न नगर की विशेषता हैं। सफाई आदि की उस काल में अच्छी व्यवस्था थी। वाष्प-स्नान तक की सुविधा का, यदि सब नहीं तो कुछ सम्पन्न लोग उपयोग करते थे। सड़कों और गलियों की सुव्यवस्थित योजना, पानी के निकास के लिए नालियों का सुप्रबन्ध—ये सब इस बात की ओर इंगित करते हैं कि उस काल का नागरिक जीवन बहुत कुछ आधुनिक ढंग पर संगठित तथा व्यवस्थित था।

सिन्ध-घाटी के पूरे प्रदेश में वर्षा खूब होती थी। और उससे पहले के ईरानी सम्राटों के समय में, इस प्रदेश की सम्पन्नता और उर्वरता का जो विवरण मिलता है, वह उस काल की सम्पन्नता

और उर्वरता के मुकाबले में बहुत कम है। सिन्ध-घाटी की सभ्यता के काल में यह प्रदेश कहीं अधिक सम्पन्न और धन-धान्य से पूर्ण था।

एशिया माइनर में स्थित बोघाज़कोई के अवशेषों में जो उत्कीर्ण अंक मिले हैं, वे संस्कृत अंकों से बहुत कुछ मिलते हैं। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं के भी वहाँ चिन्ह मिले हैं।* इन लेखों का काल ईसा से पूर्व १४०० माना गया है और इनसे यह बात प्रामाणित हुई है कि "पूर्व की ओर पर्यटन करते समय आर्य यहाँ भी अपने चिन्ह छोड़ गए हैं। इस प्रदेश में उनका आगमन ईरानी और भारतीय शाखाओं में विभाजित होने से पूर्व, हुआ था।" यह भी सम्भव है कि आर्यों के दल इससे भी पहले यहाँ आए हों। सम्राज्ञी सेमीरामी की कहानी की तरह पश्चिमी एशिया के लोगों के भारत पर आक्रमण करने की अनुश्रुति में सत्य का अंश हो सकता है।

भारत और फारस में सम्बन्ध

यह प्रामाणित है कि पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत और फ़ारस के निवासियों में घनिष्ठ तथा क्रमिक सम्पर्क स्थापित था। वेद भी इस सम्पर्क-क्रम का पोषण करते हैं। वेदों में पार्थवों का उल्लेख है। विद्वानों का मत है कि पार्थव शब्द का प्रयोग पार्थियनों के पूर्वजों की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार पार्श्व और वह्लिक आदि अनेक शब्द वेदों में आते हैं। कहा जाता है कि इन शब्दों का प्रयोग ईरान की पुरानी जातियों के लिए हुआ है। आवेस्ता तथा अन्य पार्सी स्रोतों से इस बात की और भी पुष्टि होती है कि भारत पर फारस का गहरा प्रभाव पड़ा है। आवेस्ता में कन्धार का उल्लेख है जिसे पार्थियन श्वेत भारत कहते थे। बिलोचिस्तान के कई स्थानों का आवेस्ता में उल्लेख है। ईसा से पूर्व सातवीं शती से, बल्कि इससे भी युगों पूर्व से भारत, फारस और बेबीलोन के बीच व्यापार होता था, इसके निश्चित प्रमाण मिलते हैं। यह व्यापार,

*फारस और भारत में ये देवता—इनका सम्बन्ध चाहे जो भी रहा हो—समान रूप से पूजे जाते थे। इन्हें हम मूलतः ईरानी, वैदिक आर्य या मिटानी तक चाहे जो मान सकते हैं ये निश्चित रूप से प्रकट करते हैं कि भारत और फारस में साम्य सम्पर्क था। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग—१, पृष्ठ ३२०)

अधिकांश, फारस की खाड़ी के मार्ग से होता था। स्थल-मार्ग का भी उपयोग किया जाता था। ईसा से पूर्व छठी शती में पश्चिमी एशिया में मेडो-फारस-राज्य कायम था। इस राज्य का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस राज्य के राजाओं ने, साइरस, महान् (ई० ५५८—५२९) की तरह, ईरानी पठार के पूर्वी भाग पर विस्तृत धावे किए थे—विशेष कर उस प्रदेश पर जो हिन्दुकुश के निकट और भारत के सीमा-प्रदेश से मिला हुआ है। प्राचीन यूनान के कुछ इतिहासकारों का कहना है कि सिन्ध और काबुल के बीच जो लोग रहते थे, वे पहले असीरियनों और फिर मीडियन तथा फारस-वासियों के आधीन थे।*

इन्दस-घाटी पर फारसियों का शासन

दारा के उत्तराधिकारी और महान् विजेता साइरस ने ईसा से पूर्व ५२२ से ४८६ तक भारत के एक भाग पर—जिसमें पंजाब और सिन्ध की घाटी का प्रदेश सम्मिलित था—राज्य किया। उसके समय के कुछ लेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि उसने हिन्दू—अर्थात् पंजाब प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी।† हिन्दुस्तान फारस के साम्राज्य

---

* इन इतिहासकारों के ग्रन्थों से पता चलता है कि सुप्रसिद्ध असीरियन सम्राज्ञी सेमीरामी अपनी भारत-विजय के बाद गेड्रोशिया के मार्ग से ईरान लौटी थी। साइरस भी इसी मार्ग से वापिस लौटा था। साइरस ने उत्तरी भारत पर तो नहीं, लेकिन सिन्ध के पश्चिमी प्रदेश पर- जो उन दिनों भारत का सीमावर्ती प्रदेश था—अवश्य धावे बोले थे। ई० मेयर के कथनानुसार—"ऐसा प्रतीत होता है कि साइरस ने पारोपनिसस (हिन्दुकुश) की भारतीय जातियों पर अधिकार कर लिया था। काबुल की घाटी पर—विशेषकर गांधारियों पर—भी उसका अधिकार स्थापित हो गया था। खुद दारा भी सिन्ध तक बढ़ आया था।'

† ये लेख हैं—(१) बाहिस्तान शिला-लेख, काल ईसा से पूर्व ५२०-१८। तेईस अधिकृत प्रान्तों की जो सूची इसमें अंकित है उसमें भारत का उल्लेख नहीं है। (२) पर्सेपोलिस का शिलालेख—ई० पू० ५१८-५१५ में अंकित, जिसमें हिन्दू (पंजाब प्रदेश) का स्पष्ट उल्लेख है। (३) नक्शे रुस्तम में दारा के मकबरे पर अंकित लेख, ५१५ ई० पू०, जिसमें भारत का

का एक प्रान्त था और सिन्ध से मध्यसागर तक जितने भी प्रान्त थे, राज्य को सबसे अधिक आय इसी से होती थी। अपने एक समुद्री अफसर के नेतृत्व में दारा ने सिन्ध नदी के मार्ग की उसके दहाने तक जाँच-पड़ताल करने और फिर समुद्रतट के सहारे फारस की खाड़ी के सिरे पर लौट आने के लिए एक बेड़ा रवाना किया था। अपने अस्त्र-शस्त्रों के बल पर उसने सम्भवतः सिन्ध बेसिन से समुद्र तक के समूचे प्रदेश पर अधिकार जमा लिया था।

फारस के राज्य का अधिकार-क्षेत्र, प्रत्यक्षतः सिन्ध की घाटी तक सीमित था और अनेक पीढ़ियों—एक शती से अधिक तक—कायम रहा। न तो उसका विस्तार पूर्व के रेगिस्तानी प्रदेश तक हुआ, न गंगा की घाटी तक उसके पाँव फैल सके। लेकिन फारस के अन्य एशियाई प्रान्तों—हिरात, आर्कोशिया, गंधारिया (उत्तर-पश्चिमी पंजाब)—से यह भिन्न था। दारा तृतीय ने, जो एकेमीनियन राजवंश का अन्तिम राजा था—ईसा से पूर्व ३३० में, भारतीय सैनिकों को साथ लेकर सिकन्दर महान् के विरुद्ध युद्ध किया था। इस युद्ध में दारा तृतीय मारा गया और सिकन्दर की विजय हुई।

फारस का प्रभाव

पश्चिमी पंजाब और अफगानिस्तान के अधिकार में होने के कारण भारत में फारस का प्रभाव बढ़ गया। फारस के सोने के सिक्के—दारा के नाम पर जो दरिक कहलाते थे—और चाँदी के भी सिक्के, भारत में चलते थे। फारस की लिपि के प्रवेश के कारण भारत में एक नयी लेखन-शैली का चलन हुआ जो आधुनिक अरबी और फारसी की तरह दायें से बायें को लिखी जाती थी—पूर्व प्रणाली के अनुसार बायें से दायें को नहीं। इसकी वर्णमाला के अक्षर घुमावदार थे, इसलिए यह लिपि 'खरोष्टि' कहलाती थी।

फारस के भवन-शिल्पियों ने भारत की भवन-निर्माण कला पर अपना प्रभाव डाला। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक के काल

उल्लेख है। इन लेखों के अनुसार दारा की भारत विजय का काल ईसा से पूर्व ५१८ या इसके आस-पास होना चाहिए। देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ३३०-५)

में इस प्रभाव ने और भी उल्लेखनीय रूप धारण कर लिया। इस काल की कतिपय इमारतों को निश्चय ही ईरानी कारीगरों से बनवाया गया होगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि मौर्य-दरबारों की घटन ईरानी होती थी और एक विद्वान् का तो यहाँ तक कहना है कि मौर्य वंश, मूलतः; ईरानी और जरस्तू मत का अनुयायी था।

२—सिकन्दर का आक्रमण

ईसा से पर्व ३५० के लगभग फारस का साम्राज्य कमजोर हो गया। इसकी छत्रछाया में रहने वाले कितने ही प्रान्त अपने को मुक्त करने का बीड़ा उठा चुके थे। सिन्ध का पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश और पंजाब विभिन्न जातियों और राज्यों के आपसी संघर्ष का अखाडा बन गए थे। सिकन्दर ने दारा तृतीय पर विजय प्राप्त करने के बाद हिन्दुकुश के उत्तर में स्थित बैक्ट्रिया पर अधिकार जमा लिया और फारस के समूचे साम्राज्य का स्वामी बन गया। अपने नाम पर उसने, आज के दक्षिणी अफगानिस्तान के प्रदेश में, एक नगर की स्थापना को जो आज कंधार कहलाता है। यह यूनानी विजयों की पहली कड़ी थी जिसे सिकन्दर ने शुरू किया था। ईसा से पूर्व ३२९ में सिकन्दर ने यहीं से उस पहाड़ी दीवार—पर्वतमाला—को पार किया था जो उसके और काबुल की घाटी के बीच, बल्कि कहना चाहिए सिन्ध के प्रदेश के बीच—स्थित थी।

इसके बाद सिकन्दर ने हिन्दुकुश पर अपने अधिकार को दृढ़ किया, अपने पाँव अच्छी तरह से वहाँ जमाए, और काबुल की घाटी के उत्तर में स्थित पहाड़ी प्रदेश पर (ईसा से पर्व ३२८-२७) अपना जाल फैलाया। उसका अगला क़दम अब सिन्ध के प्रदेश की ओर बढ़ा।

पंजाब की स्थिति

पश्चिमी पंजाब पर उन दिनों दो शक्तिशाली राजा राज करते थे। एक तक्षशिला के राजा जो सिन्ध के उस पार तीन पड़ाव की दूरी पर स्थित था और दूसरा इन्डो-आर्य जाति का राजा पुरु जिसे यूनानी लोग पोरस कहते थे। पोरस का राज्य झेलम और चिनाब के बीच स्थित था।

सिकन्दर का मार्ग
जल मार्ग
थल मार्ग
कोशल
विदेह
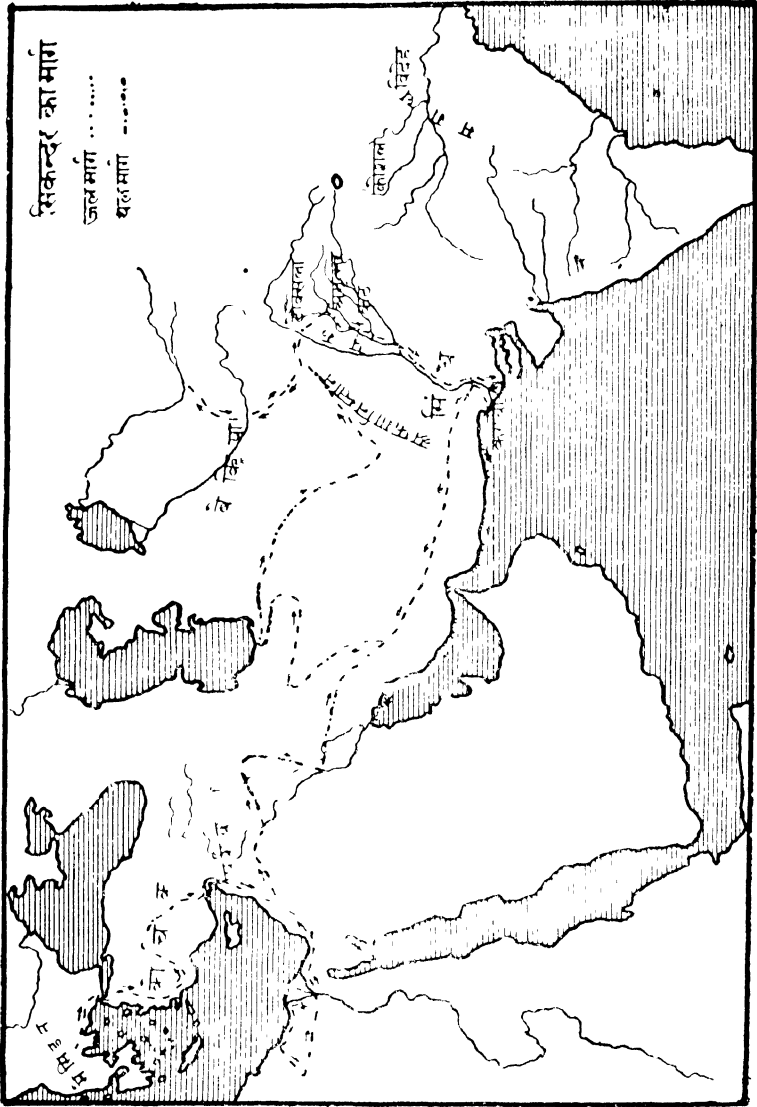
पाँचवाँ परिच्छेद

तक्षशिला का राजा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा पुरु से डरता था। अभिसार के पहाड़ी सरदार से भी वह दबा हुआ था। अभिसार का प्रदेश उत्तर दिशा में, स्वात की घाटी में, स्थित था। सिन्ध पार करने से पहले ही उसने सिकन्दर के सामने, अपनी जान बचाने के लिए, आत्म समर्पण कर दिया। ईसा से पूर्व ३२६ के प्रारम्भ में सिकन्दर तक्षशिला पहुँच गया। यहाँ के राजा ने गर्दन झुका कर उसका स्वागत किया, बल्कि रसद और हाथी भी उदारता के साथ उसको भेंट की।

तक्षशिला के बाद अभिसार के राजा ने भी आत्म समर्पण कर दिया। चिनाब के उत्तर में स्थित पौरवों के सरदार ने भी आत्म समर्पण के इसी रास्ते का अनुसरण किया। लेकिन राजा पुरु जम कर खड़ा हो गया। उसने निश्चय किया कि बिना युद्ध के वह सिकन्दर के आगे नहीं झुकेगा। झेलम के तट पर उसने अपना पड़ाव डाला और आक्रमणकारी से मोर्चा लेने की प्रतीक्षा करने लगा।

झेलम का युद्ध

सिकन्दर चतुर था। दूर पर, नदी के नुकीले मोड़ की आड़ में, वह चुपचाप दूसरी ओर निकल गया और पुरु से उसकी मुठभेड़ एक ऐसे मैदान में हुई जो काफी तंग था और जहाँ पुरु की सेना आसानी से पैंतरे नहीं बदल सकती थी। पुरु की सेना का प्रमुख भाग हाथियों की सेना का था और स्थान की तंगी के कारण वह घिराव में पड़ गया। शत्रु की अश्वारोही सेना दुर्भेद्य थी और उसके आक्रमणों ने पुरु की रथ और हाथियों से सुसज्जित सेना को त्रस्त-पस्त कर दिया। आठ घंटे तक घातक युद्ध चलता रहा। पुरु के सभी हाथी या तो मारे गए या पकड़ लिए गए। रथ नष्ट हो गए और तीन हजार घोड़सवार और १२००० पैदल सैनिक खेत रहे। पुरु अन्त तक युद्ध-क्षेत्र में डटा रहा और बन्दी बनाकर सिकन्दर के सामने ले जाया गया। उसकी बहादुरी और अद्भुत साहस से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उसे न केवल मुक्त कर दिया वरन् उसे उसका राज्य भी वापिस कर दिया। (झेलम का युद्ध, जुलाई, ईसा से पूर्व ३२६)*

---

* स्मिथ लिखित 'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया', (चौथा संस्करण) पृष्ठ

अब पंजाब में ऐसी कोई शक्ति नहीं रह गई जो आक्रमणकारी का युद्ध-क्षेत्र में खुल कर मुकाबिला करती। अभिसार पहले ही आत्म समर्पण कर चुका था। सिकन्दर का मार्ग अब साफ था। चिनाब के पूर्व की ओर पहाड़ियों के चरणों के निकट, वह बढ़ा और इसके बाद रावी के निकट उसने कथाईओई जाति के एक महत्वपूर्ण संघ-राज्य को परास्त किया। उनके दृढ़ मोर्चे शांगल पर, पुरु की सहायता से जो अब सिकन्दर को अपनी सेना आदि देकर मदद करता था, सिकन्दर ने अधिकार कर लिया।

व्यास से वापसी

जब सिकन्दर व्यास नदी के तट पर पहुँचा तो उसके सैनिकों ने और अधिक आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया और आक्रमणकारी को वापिस लौटना पड़ा (सितम्बर, ३२६ ई० पू०)। भारत में अपनी विजय-सीमा को इंगित करने के लिए सिकन्दर ने बारह महान् यूनानी देवताओं की पूजा में पत्थर की बारह बड़ी-बड़ी वेदियों का निर्माण किया और रावी तथा चिनाब को फिर से पार करके, छोटी नौकाओं के एक बेड़े के सहारे, सिन्ध नदी के मार्ग से, समुद्र में प्रवेश किया और घर की ओर चल दिया।

भारत के जिन प्रदेशों पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी, उन्हें वह अपने साम्राज्य का स्थायी अंग समझता था। झेलम और व्यास के बीच के समूचे विजित प्रदेश का शासन उसने पुरु के सुपुर्द कर दिया था। इस प्रदेश में सात जातियाँ बसती थीं। सिन्ध और झेलम के प्रदेश का शासक तक्षशिला के राजा को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार सब प्रबन्ध करने के बाद सिकन्दर ने भारत से बिदा ली।*

६६, ७४ और परिशिष्ट 'डी' और 'ई' (पृष्ठ ८२-६१)। युद्ध के दृश्य और विवरण तथा तिथिकाल के लिए देखिए।

* कथाईओई क्षत्रियों की तरह अपने साहस के लिए प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः यह नाम जाति के उस वर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है जो युद्ध-कुशल और रण-प्रिय होते थे।

सिकन्दर का इरादा, प्रत्यक्षतः, फिर से भारत आकर अपनी विजय-सम्बन्धी आकांक्षाओं की पूर्ति करने का था।

पाँचवाँ परिच्छेद

सिकन्दर के छोटी नौकाओं के बेड़े ने नदी-मार्ग से प्रस्थान किया। नदी के दोनों तटों पर, बेड़े के साथ-साथ, उसकी सेनाएँ, दो-दो पंक्तियाँ बना कर, चल रही थीं। बेड़े और सेनाओं की रक्षा का पूरा प्रबन्ध था। मल्लोई और सिबोई जाति के शक्तिशाली लोग, जो रावी और झेलम-चिनाब के संगम के ऊपरी भाग में रहते थे, बाहर निकल आए। गहरे युद्ध के बाद सिकन्दर की सेना ने उन्हें भागने के लिए बाध्य किया। अन्त में सिन्ध और पञ्चनदियों का संगम-स्थल आ पहुँचा। यहाँ पर सिकन्दर ने अपने नाम पर एक नगर की स्थापना की। इसके बाद, काफी आगे चल कर, ऊपरी सिन्ध में रहने वाली मुशिक जाति को सिकन्दर ने परास्त किया और सिन्ध नदी के डेल्टा-प्रदेश के राजा ने, जिसे यूनानी पाटलीन कहते थे, उसकी अधीनता स्वीकार की।

अब सिकन्दर पाटल नगर पहुँचा। यहाँ वह एक समुद्री पड़ाव का निर्माण करना चाहता था। नदी के पूर्वी और पश्चिमी दहाने की जाँच-पड़ताल करने के बाद सिकन्दर ने समुद्र में सन्तरण किया। अपनी स्थल-सेना के एक भाग को उसने पहले ही मुला दर्रे के सहज रास्ते से—उसी मार्ग से जो आज कलात से कंधार को जाता है—भेज दिया था। एडमिरल नीअरचस की अधीनता में उसने अपने समुद्री बेड़े को रवाना किया। यह बड़ा तट के सहारे फारस की खाड़ी के भग्न भाग की ओर रवाना हो गया। शेष सेना को अपने साथ लेकर ग्रेडोशिया, जो आज मकरान कहलाता है, जल विहीन रेगिस्तान के रास्ते प्रस्थान किया। यह रास्ता भी तट के समानान्तर जाता था। मार्ग की कठिनाइयों से सिकन्दर की साथी सेना का काफी भाग नष्ट हो गया। समुद्री बेडा जब ओर्मुज़ के जल-डमरू-मध्य में पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि काफी कठिनाइयों के बाद सिकन्दर फारस पहुँचा है। तिगारिस के दहाने पर सिकन्दर और एडमिरल की भेंट हुई।

प्राच्यों का राज्य

जब सिकन्दर पंजाब में था, उस समय प्राच्यों का शासक (यूनानी भाषा में प्रासिओई) पाटलिपुत्र का शक्तिशाली नन्द था। वह हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा सम्राट् था। यह संदेहास्पद है कि

नन्द को यूनानियों के आक्रमण की कोई सूचना मिल सकी थी या नहीं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसने पंजाब की विभिन्न जातियों और उनके सरदारों को, आक्रमणकारियों का मुकाबला करने के लिए, किसी प्रकार की कोई सहायता देने का प्रयत्न किया था अथवा नहीं।

यूनानी आधिपत्य का नाश

भारत में सिकन्दर के शासन का आधार उसके वेतन भोगी सैनिक थे। ये सैनिक उन नये नगरों में फैल गए थे जिनकी स्थापना सिकन्दर ने की थी। उस समय जब सिकन्दर अपनी वापिसी यात्रा के बीच में था, उसके नियुक्त किए हुए क्षत्रियों के साथ इन सैनिकों ने विश्वासघात किया और उन्हें मौत के घाट उतार दिया। जो कसर रह गई थी, उसे सिकन्दर की अकाल मृत्यु ने पूरा कर दिया। इस प्रकार भारत से विदा होने के तीन वर्षों के भीतर ही उसके सभी पदाधिकारी और सैनिक मारे गए और अधिकृत प्रदेशों से उसका राज्य समाप्त हो गया। उसकी मृत्यु के बाद, शीघ्र ही, उसका साम्राज्य कट-बँट गया और भारत की स्वतन्त्रता, सिन्ध की घाटी और पंजाब का शासक पुरु तथा तक्षशिला के राजा को नियुक्त करने के बाद, मान ली गई। यूनानी क्षत्रप हटा कर आर्कोशिया—सिन्ध नदी के पश्चिम में—भेज दिया गया, यद्यपि एक मेसीडोनियावासी पदाधिकारी, इसके बाद भी कुछ वर्षों तक, सिन्ध की घाटी में बना रहा।

इस प्रकार सिकन्दर के राज्य का प्रभाव भारत पर, वास्तव में, इतना और इसी रूप में रहा कि उसने बड़े पैमाने पर, काफी चतुरता के साथ, सफल आक्रमण किया था। घातक युद्ध के कुछ क्षत-विक्षत चिन्हों के अतिरिक्त भारत के भौतिक शरीर पर वह अपना और कोई चिन्ह नहीं छोड़ गया।*

* देखिए वी० ए० स्मिथ लिखित अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ११७। उस काल के भारतीयों पर विदेशी आक्रमणों का क्या और कैसा प्रभाव पड़ा, यह दिखाने के लिए मैथ्यू आर्नल्ड का निम्न पद्यांश बहुधा उद्धृत किया जाता है :—

"The East bowed low before the blast In patient deep

पाँचवाँ परिच्छेद

आक्रमण का प्रभाव

सिकन्दर के आक्रमण के कुछ राजनीतिक परिणाम अवश्य हुए। सब से पहला तो यह कि यहाँ की विभिन्न जातियों में जो आपसी संघर्ष और द्वन्द्व चलता रहता था, वह दूर हो गया। इस संघर्ष के कारण पंजाब में एकता स्थापित नहीं हो सकी थी और इस अनैक्य का फल यह हुआ कि चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना राज्याधिकार स्थापित करने में सहज ही सफलता मिली। इन स्वतन्त्र जातियों और छोटे-मोटे सरदारों के संघ-राज्य के अवशेष पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी इमारत खड़ी की और पंजाब के प्रदेश को महान् मौर्य साम्राज्य का अंग बना लिया।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि उत्तर-पश्चिमी भारत और यूनानी राज्यों—बैक्ट्रिया, सीरिया और पूर्वी मध्य सागर जो सिकन्दर के साम्राज्य के कट-बँट जाने पर स्वतन्त्र हो गए थे—के साथ राजनीतिक तथा अन्य सम्बन्ध स्थापित हो गए। इन सम्बन्धों के फलस्वरूप, समय के साथ-साथ, सांस्कृतिक सम्पर्क तथा आदान-प्रदान बढ़ा और भारत ने यूनानी कलाओं, विशेषकर स्थापत्य कला और यूनानियों के ज्योतिष शास्त्र से, बहुत कुछ ग्रहण किया।

"सीस्टन होकर सिकन्दर की सेना के सिन्ध से फारस तक निर्विरोध गमन ने एक नये स्थल-मार्ग की समस्या को बहुत कुछ हल कर दिया था। तट के सहारे-सहारे एडमिरल नीअरचस की यात्रा ने एक नये समुद्री मार्ग का निर्माण कर दिया था। उसकी अकाल मृत्यु न हो गई होती तो निश्चय ही भारत आने में सिकन्दर को विशेष कठिनाई न होती और पंजाब तथा सिन्ध पर राज्याधिकार बनाए रखने की वह कोशिश करता।" इन मार्गों ने व्यापारादि के सम्बन्धों को दृढ़ करने में बहुत मदद दी।

सिन्ध की घाटी को सिकन्दर यूनानी सभ्यता का केन्द्र बनाना चाहता था—ठीक वैसे ही जैसे प्टोलेमी के समय में मिश्र और सेल्युकि, के समय में सीरिया थे। लेकिन घटना चक्र ने उसके इरादे

---

disdain She let The legions thunder past And plunged in thought again"

को पूरा न होने दिया। उसके अधिकृत प्रदेश और उसके बनाए हुए नगर जड़ न पकड़ सके। इन प्रदेशों से इतनी दूर बैठकर वह इनका प्रबन्ध नहीं कर सकता था। फलतः जो होना चाहिए था, वही हुआ। अधिकृत भारतीय प्रदेश उसके हाथ से निकल कर स्वतंत्र हो गए।

———

छठा परिच्छेद

मौर्य साम्राज्य और तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियाँ

१—चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-काल

सितम्बर ३२६ ई० पू० तक सिकन्दर के पाँव व्यास नदी तक फैल गए थे और, कुछ काल के लिए, इस बात का खतरा उत्पन्न हो गया कि कहीं मध्य देश भी उसके हाथ में न चला जाए। उत्तरी भारत के लिए, सौभाग्यवश, इस तरह का कोई खतरा नहीं उत्पन्न हुआ। जो भी हो, यह खतरा केवल खतरा ही रहा और जितनी तेज गति से यह उत्पन्न हुआ था, उतनी ही तेजी से विलीन हो गया। विलीन न होता और सिकन्दर आगे बढ़ता तो इसमें संदेह है कि नन्द उसका लोहा लेने में सफल हो पाता। जून, ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के साथ-ही-साथ, शीघ्र ही, भारत तथा भारत-पार के उसके क्षत्रपों का भी ढेर हो गया, और उसकी मैसीडोनियन अधिकृत सेना सिन्ध की घाटी में खप गई—विदेशियों के प्रति भारतवासियों की घृणा और विद्रोह ने उसे कहीं का न छोड़ा।

इस प्रकार, ईसा से पूर्व ३१७ तक, सिकन्दर के यूनानी तथा मैसीडोनियन प्रतिनिधि, और उसके भारतीय मित्र-राजा—पुरु और तक्षशिला-सभी काल के गर्त में पहुँच गए। मैसीडोनियन आधिपत्य का जो थोड़ा-बहुत अवशेष था, चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व ने उसे भी उत्तर-पश्चिमी भारत से पाताल-लोक में पहुँचा दिया।

चन्द्रगुप्त मौर्य का अभ्युत्थान

चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म निम्न श्रेणी में हुआ था। नन्द-राज-वंश की एक रखेल के गर्भ से उसने जन्म लिया था। भारतीय विद्वानों का मत है कि उसका उपनाम मौर्य, मुरा नाम की रखेल से बना है। किन्तु पाली ग्रन्थ महावंश के अनुसार मौर्य शाक्य-जाति की एक उपशाखा थी। पिप्पहालीवान के मोरिय लोगों का उल्लेख हमें

मिलता है। सम्भव है, मौर्य उन्हीं का दूसरा रूप हो—या वही मौर्य हों।*

विदेशी राज्य के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया का—घृणा और विद्रोह का—चन्द्रगुप्त मौर्य ने नेतृत्व किया और विदेशी राज्य के चिन्हों का अन्त करने में उसने सफलता प्राप्त की। न केवल इतना ही, वरन् चन्द्रगुप्त ने नन्द के उस राज्य को भी समाप्त कर दिया जो संयोगवश सिकन्दर के हाथों नष्ट होने से बच गया था।

नन्द-राज्य का पतन

कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने नन्द राजा को, जिसके यहाँ वह सेना-नायक के पद पर नियुक्त था, अप्रसन्न कर दिया था। अप्रसन्नता का कारण सम्भवतः यह था कि नन्द से उसकी प्रजा असन्तुष्ट थी और असन्तोष के इस वातावरण में चन्द्रगुप्त ने मोरिय या मयूर जाति के लोगों को प्रोत्साहन और बढ़ावा देना शुरू कर दिया था।

नन्द के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए चन्द्रगुप्त को विष्णु गुप्त नामक एक ब्राह्मण ने उकसाया और प्रेरणा दी। यह वही ब्राह्मण था जो कौटिल्य और चाणक्य के नाम से प्रसिद्ध है। वह नन्द विरोधी ब्राह्मणों के असन्तोष का प्रतिनिधि था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहितों को नन्द यथोचित मान-प्रदान नहीं करता और चाणक्य के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार किया। यह भी कहा

* इसकी सम्भावना अधिक मालूम होती है कि मौर्य किसी प्राचीन जाति का नाम हो। यूनानियों में भी 'मोरिएइस' लोगों का उल्लेख मिलता है। यह महावंश के मोरिय जाति का ही यूनानी रूपान्तर हो सकता है। (देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ४७०)

एक मध्य कालीन अनुश्रुति के अनुसार मौर्य परिवार सूर्य वंशी क्षत्रियों में से था। एक जैन ग्रंथ में चन्द्रगुप्त को मयूर-पोषक नामक एक गाँव के अधिष्ठाता की कन्या पुत्र बताया गया है। अतः "यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय जाति का था—अर्थात् मोरिय या मयूर जाति में उसने जन्म लिया था।" दिव्यदान में चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र और पौत्र—विन्दुसार और अशोक को—क्षत्री बताया गया है। (देखिए राय चौधरी लिखित 'पोलीटिकल हिस्ट्री,' पृष्ठ ११७)

जाता है कि चन्द्रगुप्त ने इस इरादे से सिकन्दर से भेंट की थी कि नन्द के पतन में सहायता देने के लिये उसे तैयार किया जाए।* लेकिन यह देखकर कि यूनानी भी नन्द की तरह निरङ्कुश तथा क्रूर हैं, उसने दोनों के नाश का निश्चय कर लिया। पुराणों और जैन ग्रंथों में नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य के युद्ध के अनेक विवरण मिलते हैं जिनमें सेना की सामूहिक हत्या के साथ नन्द की पराजय का उल्लेख किया गया है।†

मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ से हमें अपने इतिहास का घटना तथा तिथि-बद्ध विवरण मिलता है।‡ चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के

---

* जस्टिन और प्लूटार्क के अनुसार सिकन्दर से भेंट करने के समय चन्द्रगुप्त निरा लड़का था और सिकन्दर ने, चन्द्रगुप्त की दुस्साहस पूर्ण वाणी से उत्तेजित होकर, उसका सिर उतार लेने की आज्ञा प्रदान कर दी थी।

† नन्द के पतन के लिए चन्द्रगुप्त ने अपना पहला प्रयास सिकन्दर के आक्रमण से पहले किया था। मुद्राराक्षस नामक संस्कृत नाटक के अनुसार (यह नाटक ईसा० ६ठी शती में या सम्भवत: इससे भी पहले लिखा गया था।) चन्द्रगुप्त एक गण-राज्य का अधिष्ठाता था और इस कार्य में पंजाब के हिमालय-प्रदेश के एक राजा ने उसकी सहायता की थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने मगध राज्य पर आक्रमण किया और नन्द की हत्या कर उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। चन्द्रगुप्त के प्रेरक चाणक्य के प्रयत्नों से नन्द के प्रमुख सहायक पर्वटक की मृत्यु हो गई, उसका पुत्र राज्य छोड़ कर चला गया, नन्द के स्वामीभक्त मन्त्री राक्षस ने आत्म-समर्पण कर दिया। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार पर्वटक या तो स्वयं पोरस अथवा उसका पुत्र भी हो सकता है, क्योंकि यह नाटक सच्ची घटनाओं और परम्परा पर आधारित है।

‡ मौर्य राजाओं के शासन-काल सम्बन्धी तिथियों का आधार निश्चित और असंदिग्ध है। सेल्यूकस जिसके समकालीन राजा सन्द्रोकोत्तो का यूनानियों ने उल्लेख किया है, चन्द्रगुप्त ही है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक और सेल्यूकस के पोते एन्टिओक सथियो की तथा चार अन्य यूनानी राजाओं की समकालीनता प्रामाणित हो चुकी है। मौर्य-तिथियों के निश्चित निर्धारण में इन प्रमाणों से विशेष सहायता मिली है।

महान् व्यक्तित्व और उनके महान् साम्राज्य के सम्बंध में तत्कालीन साहित्यिक तथा अन्य उत्कृष्ट सामग्री और पुष्ट प्रमाण जो आज उपलब्ध हैं, मौर्य-इतिहास और घटना क्रम को निश्चित आधार प्रदान करते हैं और साथ ही उसे अत्यन्त रोचक बनाते हैं।

चन्द्रगुप्त का विजय-विस्तार

नन्द के पतन और पंजाब के मुक्त हो जाने के बाद चन्द्रगुप्त ने अपनी उत्तर-भारत की विजय को सम्पूर्ण किया और उसके राज्य का विस्तार सौराष्ट्र—काठियावाड़ प्रायद्वीप—तक पहुँच गया। सिकन्दर के परखे हुए जेनरल सेल्यूकस निकेटर के विरुद्ध—जो समूचे पश्चिमी एशिया का स्वामी बन बैठा था और सीरिया स्थित एन्टिओक से जिसने राज करना शुरू कर दिया था— चन्द्रगुप्त ने युद्ध छेड़ा। इस संघर्ष में (३०३ ई० पू०) सेल्यूकस को, जो भारत तक बढ़ आया था, पीछे हटना पड़ा और काबुल की घाटी और अरियाना के एक भाग के अपने राज्याधिकार को चन्द्रगुप्त के सामने समर्पित करना पड़ा। डाक्टर स्मिथ के शब्दों में "सेल्यूकस ने जो प्रदेश चन्द्रगुप्त को समर्पित किए, उनमें अरियाना के चार क्षत्रपी प्रदेश—हिरात, आर्कोशिया (कंधार), ग्रेडोशिया (मकरान) और पारोपनीसदाई (काबुल)—सम्मिलित थे। यूनानी लेखकों ने इन दोनों सम्राटों के बीच विवाह-सम्बन्ध और भारतीय सम्राट् द्वारा ५०० हाथियों की भेंट का भी उल्लेख किया है।

दक्षिण पर विजय

समूचे उत्तरी भारत और सिन्ध नदी के उस पार के प्रदेशों की विजय के अतिरिक्त, संगम-काल के कुछ तामिल ग्रंथों में इस बात का उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त ने कोंकण से, पश्चिमी तट के मार्ग और कावेरी नदी की घाटी से होते हुए तिनेवल्ली की सुदूर पहाड़ियों तक, तामिल प्रदेश पर भी आक्रमण किया था।* मैसूर में

* मौर्य इतिहास की इस महत्वपूर्ण घटना के लिए डाक्टर एस० के० आयंगर लिखित दि बिगिनिंग आफ साउथ इन्डियन हिस्ट्री के दूसरे परिच्छेद को देखिए—आक्रमणकारियों के अग्रिम दस्ते में कोरसर जाति के रण-प्रिय लोग थे। आक्रमणकारियों के लिए 'वाम्ब मौर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

भी कुछ शिला-लेखों से यह प्रमाण मिलता है कि चन्द्रगुप्त ने उत्तरी मैसूर में राज्य किया था। प्लूटार्क के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का राज्य समूचे भारत पर स्थापित हो गया था जिसका अर्थ यह है कि प्रथम मौर्य सम्राट् ने विन्ध्य-भारत का अधिकांश भाग विजय कर लिया था।

मेगस्थनीज़ का भारत-वर्णन

यूनानी शासकों से चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध मित्रतापूर्ण था। सेल्यूकस की ओर से उसके दरबार में एक राजदूत—मेगस्थनीज़—आया था। मौर्य दरबार में मेगस्थनीज़ कई वर्षों तक रहा। तत्कालीन भारत के जीवन का उसने वर्णन किया है। यद्यपि उसका ग्रन्थ, अपने सम्पूर्ण रूप में, आज उपलब्ध नहीं है, लेकिन बाद के यूनानी लेखकों के ग्रंथों में उसके अनेक उद्धरण मिलते हैं। इन उद्धरणों के रूप में मेगस्थनीज़ का वह ग्रंथ आज जीवित है।*

मेगस्थनीज़ ने चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र का अच्छा वर्णन किया है। मौर्य शासन पद्धति का उसका वर्णन

---

* मेगस्थनीज़ में विवेक-बुद्धि की कमी थी। इसलिए उसके वर्णन में दूसरों से प्राप्त गलत सूचनाएँ भी काफी मिलती हैं। लेकिन जो बातें उसकी अपनी आँखों देखी हैं, उनका वर्णन उसने पूरी सच्चाई के साथ किया है।

मेगस्थनीज़ के व्यक्तित्व के बारे में प्राचीन सामग्री बहुत ही कम प्रकाश डालती है। उसकी 'इन्डिका' चार भागों में लिखी गई थी। लेकिन उसका एक भाग भी अपने पूर्ण रूप में आज उपलब्ध नहीं है। स्ट्राबो, एरियन, डिडोरस और प्लाइनी जैसे कुछ प्राचीन लेखकों ने मेगस्थनीज़ की 'इन्डिका' के उद्धरणों का उपयोग किया है, लेकिन इनमें से भी कुछ ने मूल ग्रंथ से उद्धरण नहीं लिए, न वे मेगस्थनीज़ को अधिक विश्वसनीय समझते थे। कितनी ही जगह पर इस यूनानी लेखक ने जन-कथाओं को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है, इसके सिवा यह भी सन्देह किया जाता है कि उसका वर्णन स्वयं अनुभूत नहीं है। वह थोड़े ही दिन भारत में रहा और इस अर्से में यह सम्भव नहीं था कि वह देश के लोगों के बारे में, उनके आचार-विचार और व्यवहार के बारे में, पूरी और सही जानकारी प्राप्त करता। पाटलिपुत्र वह सम्भवतः ईसा से पूर्व ३०२ और २९८ के बीच गया था। जो भी हो, मेगस्थनीज़ के वर्णनों का हम,

उपलब्ध है। राज दरबार के जीवन और आचार-व्यवहार का चित्र भी अच्छा खींचा है। उसमें जो प्रमुख त्रुटियाँ या अभाव रह गए हैं, उनकी पूर्ति कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हो जाती है।*

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य जो चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से प्रसिद्ध है, सम्राट् का मन्त्री था। उसने अपने काल की राज-व्यवस्था का सैद्धान्तिक विवेचन किया है। इन्हीं सिद्धान्तों पर चल कर उसने अपनी नीति को सफल बनाया होगा। इस ग्रंथ का अध्ययन एक दृष्टि विशेष से किया जा सकता है—यूनानी निरीक्षकों के वर्णनों से कहाँ तक और किस रूप में इसका मेल खाता है और कहाँ विरोध है, इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा।

चन्द्रगुप्त के शासन का अन्त

जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन था। उत्तर भारत में जब भारी और लम्बा अकाल पड़ा तो सिंहासन त्याग कर वह

अन्य प्रमाणों के साथ, आवश्यकतानुसार, उपयोग कर सकते हैं। (देखिए मैक्रिन्डल की भूमिका जो उन्होंने 'एन्शेन्ट इन्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एन्ड एरियन' नामक पुस्तक की लिखी है। साथ ही बी० आर० आर० कृत मौर्यन पालिटी, परिच्छेद पहला, खण्ड तीन भी देखिए।

*अर्थशास्त्र मानव के भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसमें राजनीति और शासन व्यवस्था का विवेचन किया गया है क्योंकि जन साधारण की भलाई इसी में है कि वह शान्ति के साथ रहे और अशान्ति उत्पन्न करने वालों को समाज से अलग कर दिया जाए अथवा दण्ड आदि देकर उनका सुधार किया जाए। राज की व्यवस्था के विभिन्न अङ्गों पर—राजा और उसके कर्त्तव्यों पर, मंत्री गण तथा अन्य पदाधिकारियों पर, शासन सम्बन्धी विभिन्न विभागों पर, न्यायालयों के सञ्चालन पर, कर के संग्रह और खर्च पर, एक राज्य के दूसरे राज्य के साथ सम्बन्धों पर, इस ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है और उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। मेगस्थनीज़ जब भारत में आया था, उस काल के राजनीतिक जीवन पर भी इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। दोष इसमें भी हैं—यहाँ तक कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हर प्रकार की तिकड़म और धोखा-धड़ी को इसमें जायज़ माना गया है, फिर भी इसकी अपनी उपयोगिता है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

भिक्षु हो गया और जैनों के महान् पुरोहित भद्रबाहु के साथ मैसूर के पठारी प्रदेश की ओर चला गया। वहाँ कुछ दिन जीवित रहा अन्त में, मृत्यु पर्यन्त अनशन कर, शरीर त्याग दिया—जैसा जैन-परिपाटी में निर्देशित है।

सम्भवतः ईसा से पूर्व २६८ के लगभग चन्द्रगुप्त का शासन-काल समाप्त हुआ और उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने—जो अमित्र घात के नाम से प्रसिद्ध हुआ—राज्य की बागडोर ग्रहण की। पुराणों के अनुसार उसने पच्चीस वर्ष तक राज्य किया। मिश्र और सीरिया के यूनानी शासकों से उसके सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे। सेल्यूकस के बाद सीरिया का शासक एन्टिओक सोटर था। उसने अपना राजदूत ठीक वैसे ही भारत भेजा था, जैसे सेल्यूकस ने मेगस्थनीज़ को भेजा था।

बिन्दुसार

बिन्दुसार की शासन-व्यवस्था और विजयों का कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि बिन्दुसार के समय में भी चाणक्य कुछ दिनों तक मन्त्री पद का निर्वाह करता रहा। तक्षशिला के राजा ने बिन्दुसार के शासन के प्रति विद्रोह

---

*चाणक्य कूटनीति और राजनीति शास्त्र का पंडित था। कुछ विद्वानों ने उसकी तुलना मैक्यावेली से की है। लेकिन यह तुलना कुछ अधिक संगत नहीं मालूम होती। कारण कि कौटिल्य के सिद्धान्तों का उसके बाद में भी अनेक युगों तक राजाओं तथा राजनीतिज्ञों द्वारा पालन होता रहा और चाणक्य का अर्थशास्त्र शासन कार्यों में उनके पथ-प्रदर्शक का काम करता रहा।

एक विद्वान् के मत में तो अर्थशास्त्र राजनीतिक ज्ञान का निचोड़ है। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध हुआ कि चाणक्य का नाम राजनीति-विशारद का पर्यायवाची हो गया। दक्षिण के एक 'राष्ट्रकूट' राजा को एक शिला-लेख में चतुर्मुखी चाणक्य के विशेषण से विभूषित किया गया है।

यह ग्रंथ बहुत दिनों तक दुर्लभ रहा। तीस वर्ष पूर्व इसकी एक प्रति का पता मैसूर के डाक्टर आर० शर्मा ने लगाया। उन्होंने इसका सम्पादन भी किया। तब से इस ग्रंथ को लेकर काफी साहित्य रचा जा चुका है। देखिए शर्मा कृत कौटिल्य अर्थशास्त्र ; एन० एन० लॉ कृत स्टडीज़ इन एन्शेन्ट

कर दिया। लेकिन बाद में बिन्दुसार के पुत्र अशोक ने उसे शान्त किया। जो भी हो, बिन्दुसार ने अपने पिता के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न नहीं होने दिया, अपितु उसने उसका दक्षिण तक विस्तार किया। डाक्टर स्मिथ के कथनानुसार २७३ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उसके पुत्र अशोक ने राज्य सिंहासन को सुशोभित किया।

२—अशोक महान्

धर्म विजयी अशोक और उसके सत्कार्यों से हम सभी परिचित हैं। देश की जनता के हृदय में उसने अपना स्थायी स्थान बना लिया है और उसका नाम आदर तथा श्रद्धा के साथ लिया जाता है। उसके व्यक्तित्व के चारों ओर तरह-तरह की कहानियाँ किम्वदन्तियाँ एकत्रित हो गई हैं। इन किम्वदन्तियों के और उसके अपने धर्म-लेखों और आदेश-पत्रों के सहारे हम उसके जीवन का विश्वसनीय वृत्तांत जान सकते हैं। इस सामग्री के द्वारा हम यह भी जान सकते हैं कि मानव-जीवन के सम्बन्ध में उसके क्या विचार थे, किन सिद्धान्त और आदर्शों का वह पालन करता था।

अशोक सम्बन्धी दन्तकथाएँ

सम्राट् अशोक के साथ सम्बद्ध आख्यानों के दो स्रोत हैं—एक सिंहलीय और दूसरा उत्तर भारतीय। ये आख्यान अधिकतर उसके प्रारम्भिक जीवन पर छाप हैं, लेकिन उनका घटाटोप बाहुल्य उसके अपने आदेश-पत्रों और धर्म-लेखों के प्रकाश के सम्मुख बहुत कुछ संतुलित हो जाता है और एक स्पष्ट चित्र हमारी आँखों के सामने मूर्त होने लगता है। इस प्रकार सम्राट् के रूप, उसके

पालिटी, जाली एन्ड शिमट संस्करण; और एन० सी० बन्दोपाध्याय कृत कौटिल्य, भाग १।

कीथ और विन्टर निट्ज जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों की धारणा है कि अर्थ-शास्त्र कौटिल्य के स्कूल से सम्बन्ध रखता है। इसे चन्द्रगुप्त के मन्त्री कौटिल्य की रचना समझना गलत होगा। इसका रचना काल, उनके कथनानुसार, ईसा स० की दूसरी या तीसरी शती हो सकता है। एक दूसरे विद्वान् जाली का कहना है कि कौटिल्य सम्भवतः आख्यायिका जगत की वस्तु है—उसका इस संसार में कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा।

जीवन और उसके कार्य स्पष्ट हो जाते हैं। जब कभी आख्यानों और उसके अपने धर्म-लेखों में विरोधाभास दिखाई देता है, तो यह प्रत्यक्ष है कि उसके धर्म-लेखों को हम अधिक प्रामाणिक समझेंगे। इस आधार-सूत्र का सहारा लेने की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि आख्यानों में—सिंहलीय और उत्तर-भारतीय—विरोधाभास दिखाई देता है।

अशोक का राज्यारोहण

सिंहल के आख्यानों के अनुसार अशोक ने अपने पिता की मृत्यु होने पर सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। अधिकार करने से पूर्व वह उज्जयिनी का शासक था। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उसका अपने सौ भाइयों से झगड़ा हुआ। उनका विरोध दूर कर और अपने बड़े भाई सुषीम या सुमन को पराजित कर उसने उज्जैन से सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

उत्तर-भारतीय अनुश्रुति के अनुसार अशोक तक्षशिला की राज-व्यवस्था को ठीक करने के लिए भेजा गया था। वहाँ का शासक उसका बड़ा भाई था और शासन-व्यवस्था ठीक न होने के कारण प्रजा ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह को शान्त करने और शासन-व्यवस्था को सँभालने के लिए अशोक तक्षशिला गया और इसके बाद, अपने पिता की मृत्यु होने पर, उसने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। बड़े भाई से अशोक का संघर्ष हुआ और इस संघर्ष में बड़ा भाई मारा गया।

इस प्रकार दोनों अनुश्रुतियों में भाइयों से अशोक के संघर्ष का उल्लेख मिलता है और हम इसे प्रामाणिक मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त अशोक के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से पूर्व के कूटनीति-पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुतियों में मतभेद मिलता है। सच तो यह है कि इन अनुश्रुतियों का स्रोत बौद्ध भिक्षु थे। अपने धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए उन्होंने अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पहले जीवन को काले रंग से चित्रित किया है और बाद के जीवन को ऊपर उठाया है। ऐसा करके उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध धर्म बुरे चरित्रों को सत्पथ पर ले जाने की कितनी क्षमता रखता है। उनके कथनानुसार यह बौद्ध धर्म का ही प्रताप था जो चण्ड-अशोक धर्म-अशोक में परिवर्तित हो गया।

अशोक के शासन-काल के मध्य के लेखों से पता चलता है कि अशोक अपने भाई और बहनों का भरसक ध्यान रखता था और अपने बच्चों को प्यार करता था—वह एक सहृदय सम्राट् था।

अशोक के शासन-काल का तिथि-क्रम

नवीनतम गणना के अनुसार सम्राट् अशोक के राज्यारोहण का समय २७३ ई० पू० से पहले होना चाहिए। लेकिन राज्याभिषेक उसके गद्दी पर बैठने के तीन-चार वर्ष बाद हो सका।* बौद्ध और ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार उसका राज्य ३६ या ३७ वर्ष तक रहा। सिंहलीय बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक का राज्याभिषेक बौद्ध की मृत्यु के २१८ वर्ष बाद—अर्थात् २१९ वें वर्ष में—हुआ। लेकिन यह एक ऐसा तथ्य है जो हमें बौद्ध के निर्वाण-काल का निर्णय करने में तो सहायता दे सकता है, अशोक के राज्याभिषेक-काल का निर्णय करने में नहीं। अशोक ने देवानामप्रिय और पियादासी या प्रियदर्शिका की उपाधि-ग्रहण की थी। एक को छोड़कर उसके जितने भी धर्म-लेख या आदेश-पत्र हैं, उन सब में सम्राट् का उल्लेख इन उपाधियों द्वारा हुआ है, अशोक नाम से नहीं।† राज्याभिषेक के

---

*बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल (१९१७) में के० पी० जायसवाल का लेख देखिए। अशोक के शासन-काल का आनुमानिक तिथि-क्रम का उल्लेख कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृष्ठ ५०३ पर भी किया हुआ है जिसका आधार यह है कि ई० पू० २५८-५७ में तेरहवाँ शिला-लेख अंकित किया गया था। इस शिला-लेख में पूर्वी मध्यसागर के पाँच समकालीन शासकों का उल्लेख है, इस आधार पर इस लेख का अंकन-काल अशोक के शासन का चौदहवाँ वर्ष भी हो सकता है। इस प्रकार अशोक का राज्यारोहण काल ई० पू० २७४ होना चाहिए। २७० अभिषेक-काल ; २६२-६१ कलिंग-विजय का काल और ई० पू० २५८-५७ चौदहवें शिला-लेख के अंकन का समय; २५३ ई० पू० में बौद्ध परिषद् का आयोजन और २३७-२६ में शरीर-त्याग।

†मसकी का शिला-लेख। यह सब से प्राचीन है और १९१५ में इसका पता चला था। इसमें देवानाम प्रिय उपाधि का प्रयोग हुआ है। इस शिला-लेख ने उस लम्बे विवाद का अन्त कर दिया जिसके अनुसार यह उपाधि अशोक के लिए नहीं वरन् उससे पहले माजाद के शासकों को इंगित करने वाली मानी जाती

बाद, आठ वर्षों तक, भारत के भीतर सम्राट् अशोक ने मौर्यों की साम्राज्य विस्तार की परिपाटी के अनुसार अपने राज्य का विस्तार किया और विदेशी शासकों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखा। कलिंग पर आक्रमण करने से पूर्व सम्भवतः उसे तक्षशिला आज के उड़ीसा और गंजम का प्रदेश का विद्रोह शान्त करना पड़ा। कलिंग नन्दों के शासन-काल में मगधराज्य का अंग था और उसका पतन आवश्यम्भावी था।

अशोक की कलिंग-विजय

कलिंग से अशोक का गहरा युद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप कलिंग एक स्वतंत्र प्रान्त बन गया और उसका शासक राजवंश का एक राजकुमार नियुक्त कर दिया गया। तोसली उसकी राजधानी बना। सम्राट् ने दो विशेष घोषणा पत्र प्रकाशित किए जिनमें कलिंग की प्रजा और सोमावर्ती प्रदेश में रहने वाली अन्य जंगली जातियों के साथ क्या और किस तरह का व्यवहार किया जाए, उनका शासन करते समय किन सिद्धान्तों का पालन किया जाए, यह बताया गया था। ये दोनों घोषणाएँ उड़ीसा में धौली (या तोसली) और गंजम में जौगढ़ की चट्टानों पर अंकित हैं।

सम्राट् के शासन-काल के आठवें वर्ष में, ईसा से पूर्व २६२ में, कलिंग विजय किया गया। बिम्बसार को अंग-विजय के बाद से मगध की ओर से आक्रमणों का जो दौर शुरू हुआ था, कलिंग विजय उस दौर की अन्तिम कड़ी सिद्ध हुआ। कलिंग-विजय के बाद शान्ति, सामाजिक उन्नति और धार्मिक अभ्युत्थान का नया युग शुरू होता है। लेकिन यह अभ्युत्थान एकांगी रहता है—अर्थात् यह अभ्युत्थान राजनीतिक स्थिति को साथ लेकर नहीं चलता। फलतः राजनीतिक क्षेत्र में शिथिलता आती है, ह्रासोन्मुखी हो जाता है, सैनिक व्यवस्था ठीक नहीं रहती और उपयुक्त व्यायाम तथा अभ्यास के अभाव में मगध का भौतिक अन्त प्रारम्भ हो जाता है।*

थी। सिंहल के समकालीन शासक तिस्सा को भी सम्भवतः सम्राट् अशोक का अनुकरण करके, देवानाम प्रिय उपाधि से सम्बोधित किया जाता था।

*देखिए एच० सी० राय चौधरी कृत 'पालीटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इंडिया, पृष्ठ १६१

धम्म-विजय

कलिंग-विजय के बाद सम्राट् अशोक निश्चित रूप से बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ जाते हैं ; युद्धजन्य हिंसा और रक्तपात से उन्हें घृणा होने लगती है और वे घोषणा करते हैं कि सबसे बड़ी विजय धम्म-विजय है। फलतः "युद्ध का भेरी-घोष धम्म-घोष का स्थान ले लेता है" और वातावरण उसी की प्रतिध्वनि से गूँजने लगता है। पड़ोसी-राज्यों की भूमि को अधिकृत करने के लोभ से मुह मोड़ कर सम्राट् उन्हें धम्म का उपदेश देते हैं और बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के लिए बौद्ध प्रचारकों को अपने पड़ोसी राज्यों में भेजते हैं।*

धार्मिक और सामाजिक स्थिति

पशुओं की बलि-प्रथा को अशोक घृणा की दृष्टि से देखते थे। किन्तु पुरातन पंथी ब्राह्मण और देवों के उपासक इस प्रथा के पोषक थे। समाज और जातीय समारोहों के अवसरों पर पशुओं की बलि दी जाती थी। मद्यपान और पशुओं के युद्ध इन अवसरों पर आमोद का साधन होते थे। अशोक ने इन प्रथाओं को बन्द कर जन-

---

* दक्षिण के तामिल राज्यों—चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सतीयपुत्र--से सम्राट् मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हैं। सिंहल के ताम्रपर्णि राज्य से भी उनका सौहार्द्र सम्बन्ध हो जाता है और वहाँ वह बौद्ध प्रचारकों को भेजते हैं। इसी प्रकार, तेरहवें शिला-लेख के अनुसार, ई० पू० २६१-२४६ में, सीरिया के एंटीओकस के यहाँ बौद्ध प्रचारकों को भेजा था। ई० पू० २८५-२४७ में मिश्र के प्टोलेमी द्वितीय, २५८ में उत्तरी अफ्रीका में साइरीन के मेगस, २७७-२३९ में मेसीडोनिया के एंटीगोनस और २५८ में एपिरोस के सिकन्दर के यहाँ अशोक ने बौद्ध प्रचारक भेजे थे। अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने पेगू (स्वर्णभूमि) में भी प्रचारक भेजे थे और प्राचीन खोतान में बौद्ध संस्कृति के प्रवेश के साथ भी अशोक का नाम सम्बद्ध है। हिमालय के सीमावर्ती प्रदेश, गांधार, और काबुल की घाटी में रहने वाले यवनों, भोज और पुलिन्द जाति के लोगों तथा विन्ध्या की पहाड़ियों और पश्चिमी घाटों में रहने वाली जातियों में सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा था।

छठा परिच्छेद

साधारण का नैतिक उत्थान करने के लिए अनेक शासन-सम्बन्धी सुधार किए, तत्सम्बन्धी आदेश जारी किए और अधिकारी व्यक्तियों द्वारा धर्म के उपदेशों का आयोजन किया, उदार तथा मुक्त हृदय से सत्कार्यों को सम्पन्न करने में सहायता दी। बौद्ध धर्म के केन्द्र स्थानों की उसने तीर्थ यात्राओं का भी आयोजन किया जिनमें दो का विवरण आज भी उपलब्ध है।* धर्म महामात्रों और धर्म-

---

* अशोक ने पहली धर्म-यात्रा सम्बोधित (बुद्ध गया) की, अपने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में, की थी। इसके बाद मथुरा के उपगुप्त के तत्वावधान में जो सम्राट् के धर्म-गुरु थे, कपिलवस्तु, बुद्ध-गया, सारनाथ, कुशिनगर और श्रावस्ती की यात्रा की। इनमें से प्रत्येक स्थान पर सम्राट् ने चैत्यों का निर्माण किया। बुद्ध के जन्म-स्थान रूम्मिनदेई में एक अशोक-स्तम्भ है जो भगवान् बुद्ध के जन्म का स्मृति-स्तम्भ होने के साथ-साथ सम्राट् की यात्रा की भी याद दिलाता है। नेपाल की तराई में निगीलव में एक और अशोक-स्तम्भ है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि सम्राट् ने कोणाकमण के स्तूप के आकार को, राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष में, दो गुना बड़ा कर दिया था। इन स्तम्भ लेखो तथा लौड़िया-अरराज, लौड़िया नन्दगढ़ और रामपुरवा के अन्य अशोक-स्तम्भों से हमें इस बात का पता चलता है कि अशोक ने विस्तृत धर्म-यात्रा की थी। यह यात्रा राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में हुई थी—और अपने यात्रा-मार्ग में अशोक स्तम्भों का निर्माण कराता गया था।

इसी प्रकार की यात्राएँ अशोक के उच्च पदाधिकारियों को भी करनी पड़ती थीं। महामात्रों और नगरव्यवहारकों के स्थायी कर्त्तव्यों में ये धर्म-यात्राएँ भी सम्मिलित थीं। कलिंग के शिलालेख और तीसरे अशोक-स्तम्भ के लेख में इस तरह की यात्राओं का स्पष्ट उल्लेख है। दूर स्थित प्रान्तों की नियमित यात्राओं का भी आयोजन किया जाता था जो तीन वर्ष में एक बार होती थीं। राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में यात्राओं का यह क्रम और भी विस्तृत तथा व्यवस्थित कर दिया गया ताकि समूची प्रजा के नैतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युत्थान की देख-भाल हो सके। न केवल इतना ही वरन् पश्चिमी सीमा के राष्ट्रों तथा दक्षिण की पुरानी जातियों के नैतिक उत्थान का भी सम्राट् ने आयोजन किया। सम्राट् के अधिकारी, महामात्र आदि इन प्रदेशों की नियमित यात्रा करते थे। सम्राट् के तत्सम्बन्धी प्रज्ञापन तीन स्तम्भ-लेखों में आज भी उपलब्ध हैं।

युक्तों के रूप में उसने नये पदों का निर्माण किया। इन पदों पर नियुक्त व्यक्ति धर्म का प्रचार करते थे, अन्याय को रोकते थे और सरकार के दान-कोष-विभाग की देख-रेख करते थे। संक्षेप में उनका काम जनता की भलाई के कामों को आगे बढ़ाना होता था। उसने पशुओं की बलि-प्रथा को बन्द कर दिया। अपनी भोजनशाला में भी उसने कढ़ी आदि बनाने के लिए पशु-पक्षियों का बध वर्जित कर दिया। राजाओं के प्रमुख आमोद आखेट को भी उसने बन्द कर दिया और जन साधारण को सख्त ताकीद कर दी कि भोजन में माँस का प्रयोग न किया जाए।

अशोक के जीवन और शासन में परिवर्तन

कलिंग-युद्ध से पूर्व अशोक बौद्ध धर्म का उपासक था। लेकिन कलिंग-विजय के बाद तुरन्त ही उसने बौद्ध संघ से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया और बौद्ध धर्म का उत्साही प्रचारक बन गया। इस प्रकार उसके निजी और सार्वजनिक जीवन में आमूल परिवर्तन हुआ। ई० पू० २६० में उसने अपना पहला शिला-लेख अंकित कराया और अपनी पहली धर्म-यात्रा प्रारम्भ की। इस पहले शिला-लेख में अशोक ने घोषणा की कि "इतिहास को चिरस्थिति के लिए यह सन्देश शिला पर अंकित किया गया है और जहाँ कहीं भी शिला-स्तम्भ उपलब्ध हों, उन पर भी यह अंकित किया जाए।"

सम्राट् के दृष्टि-परिवर्तन का प्रभाव उसके निजी जीवन और आचार-विचार पर तो पड़ा ही, उसके सार्वजनिक जीवन और शासन-नीति को भी इसने प्रभावित किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर एक ओर उसने जहाँ मृगया तथा अन्य आमोद-प्रमोद के साधनों को छोड़ा, अपनी पाकशाला में जीव-हत्या को बन्द किया, वहाँ दूसरी ओर अपने एक उत्कीर्ण लेख में यह घोषित किया कि सीमावर्ती प्रदेशों में रहने वाली जंगली जातियों के लोग उससे न डरें, उस पर विश्वास रखें। कितने ही अविजित राज्यों और जातियों को उसने आक्रमण के भय से मुक्त कर दिया और यह इच्छा प्रकट की कि उसके पुत्र और पौत्रों में से कोई भी विजय की आकांक्षा अपने मन में न रखे। इस प्रकार अशोक ने सभी छोटे-बड़े राज्यों की समानता के सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया और यह स्वीकार किया कि उनकी स्वतन्त्रता और सत्ता सुरक्षित रहनी चाहिए। जीव-हत्या निषेध के मानवीय सिद्धान्त के अतिरिक्त रोगियों की सेवा-शुश्रूषा का प्रबंध और छायादार राजमार्गों का निर्माण करके अशोक ने लोकहित के साधन में सहायता दी। जंगली जाति के लोगों में धार्मिक वृत्तियों को जगाने के लिए उसने आर्य देवताओं को प्रचारित तथा प्रसिद्ध किया, सैनिक तथा अन्य ऐहिक प्रदर्शनों के स्थान पर विभिन्न देवताओं के उपलक्ष्य में मेलों तथा रथ के जलूसों—रथ-यात्राओं—की परिपाटी चलाई।* ये जलूस देवताओं की मूर्तियों के होते थे। इन जलूसों में बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों का उपयोग नहीं किया जा सकता था क्योंकि तब तक बौद्ध मूर्तियों का उदय नहीं हुआ था। विस्तृत रूप से बौद्ध-मूर्तियों का चलन बाद में हुआ। जो भी हो, जलूसों में प्रयुक्त होने वाली उन मूर्तियों से उस काल की मूर्तिकला के अस्तित्व का आभास मिलता है।

सिंहल में बौद्ध-धर्म का प्रचार

तेरहवें शिला-लेख में धर्म-विजय के लिए भेजे गए सम्राट् अशोक के दूतों का वर्णन किया गया है। इन दूतों ने मध्य सागर के विदेशी प्रदेशों में जाकर प्रचार किया; अपने ही देश में दक्षिण के तामिल प्रदेशों में ये दूत गए चोड़, पाण्ड्य और ताम्रपर्णि (सिंहल) में जाकर इन्होंने धर्म का प्रचार किया।

इन शिला-लेखों से हमें अशोक के पुत्र महेन्द्र की सिंहल-यात्रा के संबंध में कुछ पता नहीं चलता, यद्यपि इस सम्बंध में प्रचलित दन्त-कथाओं की संख्या कम नहीं है। सिंहल के राजा तिस्सा ने बौद्ध धर्म के प्रचारकों के लिए इच्छा प्रकट की थी। इस इच्छा की पूर्ति के लिए सबसे पहले राजकुमार महेन्द्र को भेजा गया। दूसरी बार सम्राट् ने अपनी कन्या संघमित्रा को सिंहल भेजा। वह अपने साथ गया के बोधि-वृक्ष की एक शाखा भी ले गई थी। यह शाखा, सम्राट्

---

* ये देवता ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही होते थे। सम्राट् अशोक को रथ-यात्राओं का जन्मदाता भी हम कह सकते हैं। बौद्ध राजधानी पाटलिपुत्र में ये जलूस फाहियान के समय तक निकाले जाते रहे—ईसा के बाद पाँचवीं शती तक। देखिए आर० के० मुकर्जी लिखित 'अशोक', पृष्ठ २४-२५

के शासन-काल के अठारहवें वर्ष में, सिंहल में आरोपित की गई। इसके उपरान्त कुछ बौद्ध स्मृति-चिन्ह भेजे गए जो सिंहल-द्वीप के एक स्तूप में सुरक्षित हैं। अजन्ता की गुफा के फ्रेस्को चित्रों में से एक में तिस्सा को भेजे गए धर्मोपदेशकों का अंकन किया गया है। इन धर्म-यात्राओं का काल ही सिंहल के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का काल माना जाता है। इनके फलस्वरूप मगध और सिंहल के बीच आदान-प्रदान बहुत कुछ बढ़ गया था।

लोकहित के कार्य

यात्रियों तथा जन साधारण के लिए अशोक ने सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाए, वृक्ष लगवा कर उन्हें छायादार बनाया। अस्पतालों का आयोजन भी सम्राट् ने किया था जिनमें आदमियों तथा पशुओं दोनों के लिए जड़ी-बूटियों का बिना-मूल्य वितरण किया जाता था। वे जन साधारण को सादा तथा सच्चा जीवन बिताने का उपदेश देते थे। उनकी शिक्षा का सार यह था कि अपने माता-पिताओं और बुजुर्गों की इज़्ज़त करो, भिक्षुओं और संन्यासियों को आदर की दृष्टि से देखो, सबके साथ उदारता तथा सहानुभूति के साथ व्यवहार करो।

सम्राट् अशोक का हृदय अत्यन्त उदार था। सभी सम्प्रदायों का वह आदर करते थे और अपनी प्रजा को इस बात की शिक्षा देते थे (जैसा बारहवें शिला-लेख से प्रकट है) कि वह पर-धर्म-निन्दा से बचे। अशोक अपने से भिन्न धर्म वालों का आदर करते थे और उनकी सारवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते थे। व्यक्तिगत रूप से सम्राट् बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, किन्तु एक मत के अनुसार वह जैन धर्म के अनुयायी थे।*

---

* देखिए शाह लिखित 'जैनिज़्म इन नार्थ इंडिया', पृष्ठ १४३। उन लेखकों में जो यह मानते हैं कि सम्राट् अशोक बौद्ध नहीं थे, एम सेनार्ट का कहना है कि उसके धर्म में ऐसा कुछ नहीं है जो निरा बौद्ध कहा जा सके। कर्न कहता है कि "एकाध अपवाद को छोड़कर उसके शिला-लेखों में ऐसा कुछ नहीं है जो विशेषरूप से बौद्ध कहा जा सके (मैनुअल आफ इंडियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ ११२)। फ्लीट के मतानुसार उसके शिला-लेखों का उद्देश्य बौद्ध या अन्य किसी धर्म का प्रचार नहीं था, वरन् अपनी प्रजा का न्याय पूर्ण ढंग से,

छठा परिच्छेद

अशोक का निजी धर्म

सम्राट् अशोक के शिला-लेखों से बौद्ध धर्म के प्रति उनकी क्रमिक प्रगति का पता चलता है। एक शिला-लेख में (माइनर शिला-लेख १) सम्राट् ने स्पष्ट शब्दों में अपने को शाक्य—बौद्ध शाक्य—घोषित किया है। बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की सम्राट् ने यात्राएँ की थीं, बौद्ध दिवसों पर राज-कार्य बन्द रहता था—लोग बौद्ध छुट्टियाँ मनाते थे। बौद्ध संघ के हितों की रक्षा के लिए सम्राट् ने अपने धर्म महामात्रों को आदेश दे रखे थे। ये सब बातें सम्राट् के बौद्ध धर्म के अनुयायी होने का समर्थन करती हैं। यह बात अवश्य है कि वह संघ के सम्मुख एक दम नत मस्तक नहीं हो जाते थे, यद्यपि इस तरह की अनेक दन्त-कथाएँ मिलती हैं जिनमें दिखाया गया है कि सम्राट् ने अपना राज्य तक संघ को दान दे दिया था और उसे फिर से, तीन बार, सम्राट् ने बौद्ध भिक्षुओं से खरीदा था।

सम्राट् के शिला-लेखों से इस बात का भी पता चलता है कि बौद्धों में वह फूट और भेद-नीति के सख्त विरोधी थे और अपने पदाधिकारियों के द्वारा संघ पर पूरा नियन्त्रण रखते थे। भाब्रू-शिला-लेख में (जो राजपूताना में बैराट की पहाड़ी में स्थित विहार के ध्वंसावशेषों में मिला है) बौद्ध संघ के नाम सम्राट् का अधिकार पूर्ण आदेश है जिसमें कुछ बौद्ध सिद्धान्तों का और विशेष रूप से संघ का ध्यान आकर्षित किया गया है और जिसमें सम्राट् ने घोषित किया है कि बौद्ध त्रिदेव में उसका दृढ़ विश्वास है। सारनाथ, साँची और कौसाम्बी के तीन स्तम्भों पर सम्राट् का एक शासनादेश अंकित मिला है जिसमें फूट डालने वाली नीति के दमन का प्रयत्न किया गया है। सिंहल के इति-वृत्तों के अनुसार (दीपवंश और महावंश)

सत्पथ पर चल कर शासन करना था जिससे सभी को अपने-अपने धर्म के अनुसार अपना विकास करने का अवसर मिला। वह एक धर्मप्रिय सम्राट् था और ऐसे सम्राट् को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उन्हीं का इन शिला-लेखो में उल्लेख है। जे० एम० मैकफ़ेल ने अपने ग्रन्थ अशोक (पृष्ठ ४८) और फादर एच० हेरास और एस० जे० ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

अशोक के समय में बौद्ध धर्म दो प्रमुख दलों और विभिन्न उप-दलों में विभाजित हो गया था।

अशोक में इतना आग्रह नहीं था कि अपने धर्म को मनवाने के लिए अपनी प्रजा को बाध्य करते। वह विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी धर्मों और सम्प्रदायों के बीच सन्तुलन रखते थे। गया के निकट बाराबर की अनेक पहाड़ी गुफाओं को सम्राट् ने आजीवकों को प्रदान कर दिया था। आजीवक बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन-धर्म के अधिक निकट थे। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के बीच मेल रखने का भी वे प्रयत्न करते थे। बौद्ध संघ में जब कभी फूट या विभाजन की प्रवृत्ति दिखाई देती तो बड़े उत्साह के साथ उसे रोकने का वे प्रयत्न करते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने राज्याभिषेक के अठारहवें वर्ष में सम्राट् ने एक बौद्ध महासमिति का आयोजन किया था। इस महासमिति ने बौद्ध संघ के कर्तव्यों की स्पष्ट व्याख्या की थी। बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में यह महासमिति बहुत बड़ी घटना का स्थान रखती है। यह समिति अपने ढंग की तीसरी समिति थी और ईसा से पूर्व २५२ में, तिस्स के राजा मोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में, हुई थी। बौद्ध ग्रंथों में इस समिति का एक-दूसरे से विपरीत वर्णन मिलता है। जो भी हो, इस तरह के अनेक प्रयत्नों से सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म को, स्थानिक भारतीय सम्प्रदाय की हैसियत से ऊपर उठा कर, विश्व के एक महान् और व्यापक धर्म के स्थान पर बैठा दिया।

व्यक्तित्व और चरित्र

हिन्दू परिपाटी के अनुसार शासक को धर्म-रक्षक होना चाहिये। प्रजा के गुणों के विकास में सहायक होना उसका कर्त्तव्य है। सम्राट् अशोक ने इन दोनों को नयी शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। उनका पैतृक शासक होने के नाते ही नहीं, वरन् एक उदार और दानप्रिय व्यक्ति होने के नाते भी उसने प्रजा के नैतिक विकास में योग दिया। स्वयं बौद्ध मतावलम्बी होते हुए भी वह साम्प्रदायिक अनुदारता से दूर था। धार्मिक अनुष्ठानों और सिद्धान्तों में कट्टरता का वह पक्षपाती न था—"वह किन्हीं विशेष नियमों और व्रतों का यंत्रवत, केवल दिखावे के लिए,

पालन नहीं करता, वरन् वास्तविक और भीतरी तथ्य की ओर ध्यान देता था—ऐसा तथ्य जो आत्मा को ऊँचा उठाता है, जिसमें वास्तविक विकास के बीज निहित होते हैं।* धर्म-यात्रा करते समय जन साधारण के सम्पर्क में आने का उसे अवसर मिलता था। वह घोषणा-पत्र जारी करता था जिन्हें उसके पदाधिकारी शिलाओं और स्तूपों पर खुदवा कर प्रज्ञापित करते थे। ये शिला-लेख सम्राट् के व्यक्तित्व और चरित्र, उसकी शासन-व्यवस्था और आचार-पद्धति के सम्बन्ध में बहुमूल्य सूचनाओं के आगार हैं।

नैतिक क्षेत्र में सम्राट् अशोक ने जितनी सफलता प्राप्त की, उतनी भौतिक क्षेत्र में नहीं। बौद्ध संघ से अशोक के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण और घनिष्ठ थे, किन्तु वह संघ का दास नहीं था। अपनी प्रजा को वह सत्याचरण के लिए प्रेरित करता था और उसके सभी शिला-लेखों में—शुरू से लेकर अन्त तक—तत्सम्बन्धी निर्देश मिलते हैं। अशोक आचरण का नैतिकता से कुछ अधिक महत्व देता था। अपने शासन-सम्बन्धी कर्त्तव्यों के प्रति वह कितना जागरूक था, कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था, इन कर्त्तव्यों के साथ उसका यह इस बात का प्रमाण है। जनता के आचरण को वह अपना आचरण समझता था। उसके अन्य आदर्शों का सबसे अच्छा परिचय हमें उसके शिला तथा स्तम्भों पर खुदे हुए लेखों से मिलता है। शिला-लेखों की यह प्रथा, कुछ विद्वानों के मतानुसार, अशोक की अपनी सूझ न होकर विदेशों से ली गई थी। फारस के डेरिन इस प्रथा का प्रयोग कर चुके थे।

अशोक के शिला-लेख

इन महत्वपूर्ण शिला-लेखों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) चौदह शिला-लेख जो पेशावर ज़िला से गंजम तक सात विभिन्न स्थानों में पाए गए हैं। इनमें अशोक के शासन और नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों का अंकन हुआ है। प्रत्येक लेख एक ही विषय से सम्बन्ध रखता है। ये शिला-लेख

* डी० आर० भण्डारकर लिखित 'अशोक' (कलकत्ता, १९२५), पृष्ठ ८८।

पेशावर ज़िला के शहबाजगढ़ी में, उसके निकट मानसेरा में, मसूरी के निकट हिमालय की पर्वत श्रेणियों में स्थित कालसी में, काठियावड़ के गिरिनार में, बम्बई के उत्तर में स्थित थाना जिला के सोपारा में, उड़ीसा के धौली और गंजम ज़िला के जौगढ़ नामक स्थान में पाए गए हैं। ये सब चट्टानों में खुदे हुए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अभी तक आविष्कृत नहीं हो सके हैं। इनका स्थान अशोक-साम्राज्य के सीमावर्ती प्रान्त में अनुमान किया जाता है।

(२) दो कलिंग लेख—इनका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। ये जौगढ़ और धौली के लेखों की साधारण श्रेणी में आते हैं।

(३) लघु शिला-लेख—इनमें लेख १ बिहार और मध्यप्रान्त से मैसूर के चित्ताल दुर्ग जिला के सात स्थानों में पाया जाता है। लेख २ जिसमें अशोक के धर्म का सारांश दिया हुआ है, लेख १ के साथ-साथ मैसूर के तीन स्थानों में पाया गया है। इनका एक खण्डित रूप निज़ाम-राज्य के मास्की नामक स्थान में पाया गया है।

(४) तीन शिला-लेख गया के निकट बाराबर नाम की पहाड़ी में पाए गए हैं।

(५) भाब्रू-शिला-लेख—इनका ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

(६) सात स्तम्भ-लेख—अपने पूर्ण रूप में ये ईसा से पूर्व २४२ में प्रज्ञापित किए गए थे। इन्हें अशोक के चौदह लेखों का परिशिष्ट माना जा सकता है। क्योंकि इनमें भी अशोक के शासन तथा नैतिक सिद्धान्तों का पोषण किया गया है। ये लेख ६ स्तम्भों पर अंकित मिले हैं जिनमें से दो देहली में पाए गए हैं। (चौदहवीं शती में दिल्ली का सुलतान शाह फिरोज़ तुगलक इन्हें ले आया था।) एक स्तम्भ इलाहाबाद में है जो मूलतः कोसाम्बी में था। शेष तीन उत्तरी बिहार के चम्पारन ज़िले में पाए गए हैं। इनमें केवल दिल्ली का स्तम्भ ऐसा है जिसमें सातों लेख खुदे हुए हैं। शेष स्तम्भों में ६ लेख अंकित हैं। चम्पारन के स्तम्भ सम्भवतः पाटलिपुत्र से नेपाल की ओर जाते समय अशोक ने बनवाए थे।

(७) लघु स्तम्भ-लेख—इलाहाबाद के लघु-स्तम्भ में दो लघु-लेख अंकित हैं। इनमें से एक उन लोगों के विरुद्ध है जो संघ में फूट या विभाजन उत्पन्न करना चाहते थे। यही लेख साँची के खण्डित स्तूप पर भी अंकित है। सारनाथ के स्तम्भ पर भी यह अंकित है। नेपाल की तराई में, बुद्ध के जन्म स्थान लुंबिनीवन के स्तम्भ पर बुद्ध के जन्म की सूचना अंकित है कि "यहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ।" इसके निकट एक और स्तम्भ है। इस स्तम्भ पर भी स्मृति-सूचना अंकित है।*

अशोक का निर्माण-कार्य

दन्त-कथाओं से पता चलता है कि अशोक ने बहुत से स्तूप भी बनवाए।† पाटलिपुत्र का महान् महल अशोक ने बनवाया

---

* ये लेख चट्टानों, पत्थर के स्तम्भों या सिलों पर खुदे हुए हैं। चौदह शिला-लेख और सात स्तम्भ-लेख 'धम्मलिपि' कहलाते हैं। १ से ६ तक के स्तम्भ लेख अशोक के शासन-काल के २६ वें वर्ष में लिखे गए थे। सातवाँ स्तम्भ लेख इनके एक वर्ष बाद लिखा गया था। विभिन्न शिला-लेखों की विभिन्न तिथियाँ मिलती हैं। ये शासन के तेरहवें वर्ष से पहले नहीं लिखे गए होंगे और जो, भण्डारकर के मतानुसार, स्तम्भ-लेखों से पहले लिखे गए थे। इस मत का प्रमुख आधार यह है कि दूसरे, तीसरे और तेरहवें शिला-लेख में अशोक के सीमा प्रान्तीय तथा मध्यसागर के प्रदेशों में किए गए प्रचार कार्य का उल्लेख मिलता है जब सातवें स्तम्भ-लेख में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता। डा० मुकर्जी ने इस मत का विरोध किया है। उनकी धारणा है कि (अ) धौली और जौगढ़ के शिला-लेख (ब) तीसरा शिला-लेख (क) पाँचवाँ शिला-लेख और (ख) सातवाँ शिला-लेख एक-दूसरे के बाद रचे गए हैं—चट्टानों पर खोदवा कर इन्हें चाहें इसी क्रम से प्रकाशित न भी किया हो। लघु-शिला-लेख १ सबसे पहला है। इन लेखों में जो तिथियाँ हैं, वे इनकी खोदाई की तिथि न होकर लेखों में वर्णित प्रसंग की तिथि हैं। देखिए, भण्डार-कर लिखित अशोक, पृष्ठ, २६५-८ और मुकर्जी कृत अशोक परिशिष्ट 'बी'। अशोक के लेखों के अध्ययन के लिए उनके विकास का संक्षिप्त विवरण भण्डारकर ने दिया है—पृष्ठ २७०-२। सेनार्ट, बुहलर, बरुआ और हुल्श के अनुवादों को भी इस सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

† स्तूपों में किसी सन्त के अवशेष रखे रहते हैं। किसी घटना की स्मृति

जिसे देखकर, ईसा के बाद पाँचवीं शती में, चीनी यात्री फाहियान मन्त्र-मुग्ध रह गया था। इसके अतिरिक्त उसने गुफाएँ भी खोदवाई
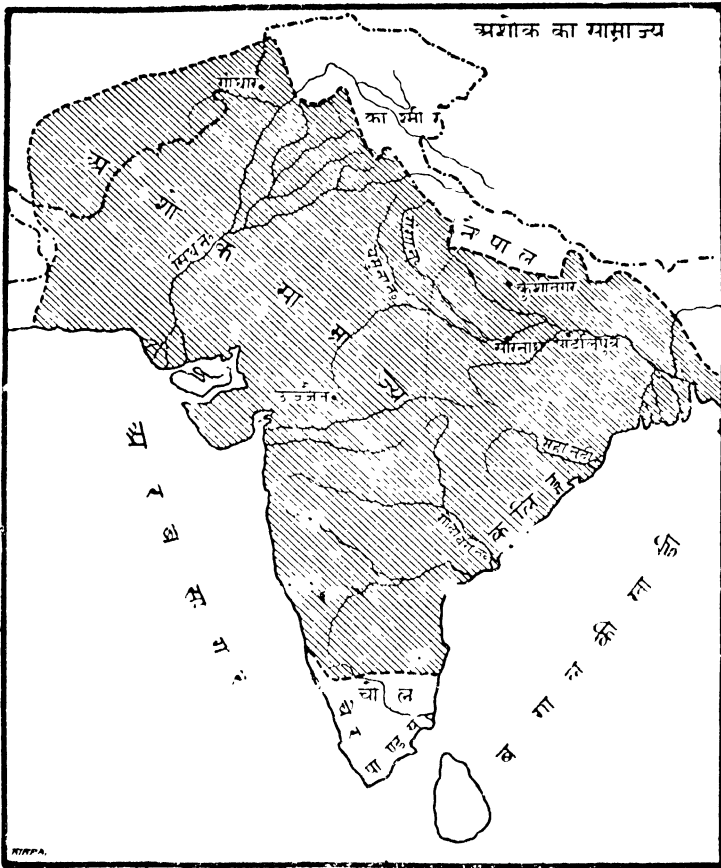
और पत्थर के बने अनेक स्तम्भ खड़े किए जो उस काल की इंजीनियरिंग को उत्कृष्टता के परिचायक हैं। इन स्तम्भों के सिरों

को जीवित रखने के लिए भी उनका निर्माण किया जाता है। ये भीतर से ठोस होते हैं। ये अर्द्ध गोलाकार बनाये जाते हैं। ऊपर के शिरोभाग में प्रस्तर की छतरियाँ लगी वेदी बनी होती हैं। चारों ओर वेष्टिका होती है। वेष्टिका पर खोदाई का काम रहता है।

पर एक विशेष प्रकार के गणनायंत्र, एक सिंह या बैल की मूर्ति या चार सिंह एक-दूसरे की ओर पीठ किए हुए, स्थापित हैं। हाल में पाटलिपुत्र में जिस बड़े महल के अवशेष आविष्कृत हुए हैं, वह अशोक का ही बनवाया हुआ माना जाता है। चन्द्रगुप्त ने अपने समय में कठियावाड़ में सुदर्शन झील के जिस बाँध का निर्माण आरम्भ किया था, उसे अशोक ने सम्पूर्ण किया। काश्मीर का श्रीनगर और नेपाल का देवपाहन अशोक की ही देन माने जाते हैं।

अशोक के स्तूपों और स्तम्भों को आज भी देखा जा सकता है। उसके लेखों से पता चलता है कि निगलीव के स्तूप का आकार उसने दो गुणा बड़ा बनाया था। आजीवकों के लिए गया के निकट बाराबर पहाड़ी में, गुफाओं के तीन सेट भी उसने बनवाए थे। साँची के वर्तमान महान् स्तूप का मध्य भाग उसी का बनवाया हुआ प्रतीत होता है। भरहुत के स्तूप का निर्माण उसी ने किया था। इसके चारों ओर सुन्दर वेष्टिका है जिस पर अशोक का लेख खोदा हुआ है। एक ही पत्थर काट कर बने हुए उसके अनेक स्तम्भ आज भी मौजूद हैं। इनमें से दो दिल्ली में हैं, एक साँची और एक सारनाथ में और नेपाल की तराई में हैं। इनमें से कुछ स्तम्भ सम्भवतः अशोक से पहले के बने हुए हैं। अशोक के समय की कला की कुछ अपनी देशज विशेषताएँ थीं, यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार उस पर विदेशी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। यह विदेशी प्रभाव सम्भवतः ईरान से लिया गया है।

साम्राज्य का विस्तार

अशोक के शासन में उसका साम्राज्य सुसंगठित और अखंडित रहा। उसके विस्तार का अनुमान अशोक के शिला-लेखों से लगाया जा सकता है जो अफगानिस्तान से उड़ीसा और मैसूर तक फैले हुए हैं। काश्मीर और नेपाल उसके साम्राज्य के अभिन्न अंग थे। सिन्ध नदी पार के चार प्रान्त—एरिया, आर्कोशिया, गेड्रोशिया और पारोपनीसदाई—जिन्हें चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस से प्राप्त किया था, उसके शासन-काल में मौर्य-साम्राज्य के अंग बने रहे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने अशोक स्तूपों को काफ़रिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के विभिन्न स्थानों में देखा था। प्राचीन बंगाल के सुप्रसिद्ध

बन्दरगाह ताम्रलिप्ति में अशोक के स्तूप का चीनी यात्री ने उल्लेख किया है। अशोक के चौदह शिला-लेख सीमावर्ती प्रान्तों के प्रमुख स्थानों में अंकित किए गए थे। लघु शिला-लेख ऐसे स्थानों पर मिलते हैं जो अशोक के साम्राज्य की सीमाओं को अन्य स्वतंत्र या अर्द्ध स्वतन्त्र पड़ोसी राज्यों की सीमा से अलग करते हैं। अशोक के साम्राज्य में समूचा भारत सम्मिलित था, केवल दक्षिणी ओर के उस भाग को छोड़ कर जो मद्रास के निकट पुलीकट से मैसूर के चिताल दुर्ग तक रेखा खींचने से बनता है।

अशोक की शासन-व्यवस्था

इतने बड़े साम्राज्य का शासन, अनिवार्यतः बहु केन्द्रीय, अनेक प्रान्तीय शासकों के अन्तर्गत, विभाजित था। अधिक दूरवर्ती प्रान्तों का शासन वाइसराय के हाथ में रहता था। निकट के भीतरी प्रान्तों का शासन गवर्नर करते थे जिनकी नियुक्ति सीधे राजधानी से होती थी। अनेक दन्त-कथाओं में अशोक के वाइसरायों के नामों का उल्लेख है। बाद के अंकित एक शिला-लेख में एक ईरानी वाइसराय तुशासफ का उल्लेख है। यह पश्चिमी प्रान्तों का वाइसराय था। इनके अलावा अशोक द्वारा नियुक्त उपराजाओं का भी उल्लेख है। उनके कर्तव्य प्रधान मन्त्री के समान होते थे। वाइसरायों के अपने मन्त्री होते थे और न्याय-कार्य तथा अनुसंधान—निरीक्षण के लिए महामात्रों के समान-पद के अधिकारियों की नियुक्ति का उन्हें अधिकार होता था।

बड़े प्रान्तों के वाइसराय राज घराने के व्यक्ति नियुक्त किए जाते थे। राज घराने के वाइसरायों का उल्लेख तक्षशिला, उज्जयिनी, तोषली और दक्षिण में सुवर्णगिरि के शिला-लेखों में मिलता है। ये कुमार और आर्यपुत्र कहलाते थे। छोटे जिलों के शासक राजुक कहलाते थे। प्रादेशिक इनके सहायक होते थे और अनुसंधान द्वारा इनकी देख-भाल, तथा नियंत्रण किया जाता था। विभागों के अध्यक्ष महामात्र कहलाते थे। नगरों की देख-भाल उन्हीं के हाथ में थी। कुछ महामात्रों को सम्राट् के आदेशों को सीधे स्वीकार करने का अधिकार होता था और एक जिले या प्रान्त का पूरा अधिकार उन्हें दे दिया जाता था। ये प्रादेशिक

महामात्र कहलाते थे। राजुकों को सम्राट् ने काफी अधिकार दे रखे थे। कानून और न्याय के संचालन में वे व्यवहारतः पूरी तरह स्वतन्त्र होते थे।

सम्राट् ने धर्म-कार्यों के लिए एक अलग विभाग खोल दिया था और इसके लिए विशेष रूप से धर्म महामात्रों को नियुक्त किया जाता था। शिला-लेखों में धर्म और भूमिकर का उल्लेख मिलता है जो पैदावार का आठवाँ भाग होता था। शासन के मूल सिद्धान्तों तथा प्रान्तीय शासकों की नीति का निर्धारण सम्राट् स्वयं करता था। धर्म का विभाग सीधे सम्राट् के अधीन था। लोकहित के बड़े-बड़े निर्माण कार्य उसी से सम्बन्ध रखते थे। निरीक्षण-कार्य में सहायता देने के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किए जाते थे जो प्रतिवेदक कहलाते थे। एक मंत्री-परिषद् भी इस कार्य में सम्राट् की सहायता करती थी। सम्राट् के शासन-संबंधी आदेश किस प्रकार जारी किए जाते थे, एक शिला-लेख में इसका भी उल्लेख है।

ऊँचे, नीचे और मध्य स्तर के पदाधिकारियों का सम्राट् ने व्यवस्थित क्रम रखा था। सीमावर्ती प्रदेशों का शासन-भार अन्त-महामात्रों को सौंपा जाता था। इनके कर्तव्यों में आयात-निर्यात कर जमा करना भी था।

अशोक की शासन-व्यवस्था और पद्धति की प्रमुख विशेषताओं का परिचय इन सब बातों से हमें मिलता है। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था की नींव पर ही अशोक की शासन-व्यवस्था खड़ी हुई थी। मौर्य शासन-पद्धति पर विशेष रूप से आगे चल कर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा।

अशोक का इतिहास में स्थान

इतिहास में अशोक का स्थान बहुत ऊँचा है, यद्यपि उसका सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जो सहज ही उसे प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचा देती हैं। अपनी प्रजा के नैतिक तथा भौतिक उत्थान के लिए अशोक ने अथक परिश्रम किया जिससे उसकी महानता में बहुत वृद्धि हुई। बौद्ध धर्म के इतिहास में, इस धर्म के प्रवर्तक के बाद, अशोक का ही नाम आता है। उसके

समकक्ष भारतीय शासकों में किसी को रखा जा सकता है तो केवल अकबर महान् को। देश के दूरवर्ती भागों को आर्य संस्कृति के निकट लाने में अशोक ने सफलता प्राप्त की थी। कला-कौशल, उद्योग-धन्धों और व्यावसायिक उन्नति को भी उसने बहुत प्रोत्साहित किया था। लेकिन इन सबसे बड़ा काम जो उसने किया वह "वसुधैव कुटुम्बकम्"—मेल-मिलाप और विश्वबन्धुत्व—का आदर्श है। अशोक का यह आदर्श मानव जाति से ही नहीं, वरन् प्राणी मात्र से—प्रत्येक जीव से—सम्बन्ध रखता था।*

३—प्रारम्भिक मौर्य-काल में देश की सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति

सामाजिक और देश की भूमि

जहाँ तक भूमि का सम्बन्ध है, हम इसे तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) जंगल (२) चरागाह (३) जिसमें फसल उत्पन्न होती है। वन्य प्रदेशों में देश के वे भाग थे जो दुर्गम थे और जिनमें जंगली जातियाँ रहती थीं। इन वन्य प्रदेशों में शिकारी शिकार के लिए जाते थे, बहेलिये पशु-पक्षियों को फँसाने के लिए जाते थे या ये वन्य प्रदेश हाथियों के लिए और राजाओं के शिकार के लिए सुरक्षित रहते थे।

---

* ऊँचे दर्जे का धर्म-राज्य स्थापित करने वाले शासकों में अशोक की तुलना इसराएल के डेविड और सॉलोमन से की जाती है। डेविड और सॉलोमन का काल स्वर्ण-काल था। अशोक का काल भी उतना ही सम्पन्न और समृद्ध था। स्थानिक और सीमित बौद्ध धर्म को अशोक ने विश्व धर्म का रूप देने में सफलता प्राप्त की थी, इसलिए अशोक की तुलना ईसाई-धर्म को ऊपर उठाने वाले कान्स्टनटाइन से भी की जाती है। दर्शन के क्षेत्र में अशोक को ऑरेलियस के समकक्ष रखा जाता है। साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से चार्लेमैन का सहज स्मरण हो आता है। शासन के क्षेत्र में उसके शिला-लेख "कठोर, भद्दे, जटिल और पुनरावृत्ति दोष" से युक्त होते हुए भी शैली की दृष्टि ऑलिवर क्रामवेल के भाषणों की याद दिलाते हैं···और सबसे अन्त में अशोक की तुलना ख़लीफा उमर और अकबर महान् से की जाती है, क्योंकि इनमें और अशोक में अनेक समानताएँ पाई जाती हैं।

चरागाहों पर गोपालों और गड़रियों का अधिकार होता था जो दूसरी जगह रहते थे, लेकिन पशुओं को चराने के लिए चरागाहों में लाते थे। प्रत्येक ग्राम की अपनी निश्चित सीमाएँ होती थीं और प्रत्येक की एक अपनी ग्राम समिति तथा स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था थी। राजा के उपयोग के लिए कुछ प्रदेश अलग कर दिए जाते थे—वैसे समूची भूमि का अन्तिम अधिकार शासक में ही निहित होता था—"वह भूमि-कर वसूल करने का अधिकारी था और जो भूमिकर नहीं दे पाता उसकी भूमि छीन कर शासक किसी दूसरे को दे सकता था।" परित्यक्त और नयी भूमि पर खेती करने के लिए वह बराबर प्रोत्साहन देता था। पदाधिकारियों और गोपालों को ग्राम के कर और उपज का कुछ भाग पाने का अधिकार था।

सड़कों और द्रुतगामी दूतों के आवागमन का वर्णन भी सुनने में आता है। कस्बों की संख्या काफी थी जो छोटी-मोटी हाटों (सामग्रहण) से लेकर नगर और बन्दरगाह (पाट्टण) तक विस्तरित थे। इनके अतिरिक्त सैनिक महत्व के स्थानों पर दुर्ग बने थे। गढ़-बन्दी की कला काफी विकसित थी जैसा मेगस्थनीज़ द्वारा पाटलिपुत्र के वर्णन से पता चलता है।

पाटलिपुत्र

यूनानी लेखक मेगस्थनीज़ के वर्णन के अनुसार यह प्रमुख नगर समबाहु चतुर्भुज के आकार का था। यह नौ मील लम्बा और डेढ़ मील चौड़ा था। इसके चारों ओर एक खाई थी जिसमें नगर के गंदे पानी का निकास होता था। नगर के चारों ओर भारी शहतीरों से बना काठ का परकोटा था। इस परकोटे में तीर छोड़ने के लिए छेद बने हुए थे। सूसा और एकबटाना के राजमहलों के मुकाबले में पाटलिपुत्र का राजमहल बहुत भव्य और सुन्दर था—अंगूर की बेलों और रुपहले पत्तियों से सुसज्जित उसके सुनहरी स्तम्भ, आलंकारिक वृक्षों और पौधों से सुसज्जति उसका विस्तृत उद्यान, बीच-बीच में बने जल-कुण्डों में तैरती हुई रंग बिरंगी मछलियाँ अद्‌भुत सौन्दर्य का संचार करती थीं।

पाटलिपुत्र और राजमहल के विस्तार में अशोक ने बहुत योग दिया था। नदी के तट पर स्थित काठ की गढ़-बन्दियों का

मेगस्थनीज़ ने उल्लेख किया है। समुद्र-तट पर भी इस तरह की गढ़-बन्दियाँ मेगस्थनीज़ ने देखी थीं। फौजी महत्व के प्रमुख स्थानों पर ईंट और गारे के गढ़ बनाए गए थे।

जनता की विभिन्न श्रेणियाँ

यूनानी राजदूत ने जनता की सात प्रमुख श्रेणियों का उल्लेख किया है—दार्शनिकों की श्रेणी जिसमें ब्राह्मण और संन्यासी होते थे; इसी प्रकार खेतिहरों, गड़रियों और शिकारियों, व्यवसाइयों और कारीगरों, और युद्ध में भाग लेने वाले लोगों की श्रेणियाँ थीं। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था से ये श्रेणियाँ, आंशिक रूप में ही, मेल खाती थीं। पदाधिकारियों और निरीक्षकों—सरकारी लोगों—को मेगस्थनीज़ ने एक अलग श्रेणी में रखा है। ब्राह्मणों (संन्यासियों), श्रमणों और पाखण्डियों की महत्वपूर्ण धार्मिक श्रेणियाँ और थीं। इन श्रेणियों के लोग परस्पर विरोधी विभिन्न मतों और दलों के अनुयायी थे। इनमें निर्ग्रन्थ (जैन) और आजीवक प्रमुख थे। अशोक ने इन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान की थीं। गृहस्थों की अलग श्रेणी थी। इस श्रेणी के लोगों में ब्राह्मणों, वैश्यों, सैनिकों और उनके नायकों, दास और किराये के मजदूरों का उल्लेख है। ये सब विभिन्न श्रेणियाँ और वर्ग साम्राज्य के सभी प्रान्तों में पाई जाती थीं—केवल सिन्ध-पार के प्रदेश को छोड़कर जहाँ हिन्दू धर्म का प्रभाव नहीं पहुँच सका था, अथवा अपनी छाप नहीं छोड़ सका था।

सभी प्रकार के, सभी मतों के, संन्यासियों का मान-आदर किया जाता था। पाप, पुण्य, परलोक और स्वर्ग में सभी विश्वास करते थे। उस काल की बौद्ध-धर्म-अनुयायी जनता बुद्ध की उपासना करती थी जैसा अशोक की कोणकमण यात्रा और वहाँ के स्तूप की मरम्मत कराने से पता चलता है। विभिन्न दलों के अलग-अलग मठ और बिहार थे जिनमें उनके अपने-अपने दल के दर्शन के अध्ययन को प्रोत्साहित किया जाता था। इन मठों के साथ उनकी शिक्षण-संस्थाएँ सम्बद्ध थीं। इन संस्थाओं के द्वारा, बूँद-बूँद करके, ज्ञान और संस्कृति का सार जनता तक पहुँचता था। साक्षरता का उस काल की जनता में अपेक्षाकृत अधिक प्रचार था।

यह इस बात से पता चलता है कि अशोक ने अपने प्रज्ञापनों (लेखों) को, नागरी या खरोष्ठी लिपि में, जनता की बोलियों में, खुदवाया था जिससे उसका सन्देश जनता तक पहुँच सके, अपनी ही बोली में पढ़ कर जिसे लोग आसानी से हृदयंगम कर सकें।*

कारीगर और उद्योग-धन्धे

कारीगरों और मजदूरों के लिए काम-धन्धों की कमी नहीं थी, विशेषकर उनके लिए जो बहुमूल्य धातुओं और कपड़े के कारीगर थे। ऊँची श्रेणी के विद्वतापूर्ण पेशों में डाक्टर, गायक, नृत्यकार, कत्थक और भविष्य-वक्ता थे। पूर्व-युग की तरह इस काल में भी उद्योग-धन्धों के संगठन थे। इन संगठनों के मुखिया होते थे। सम्पन्न व्यवसायी श्रेष्ठिन् या सेठ कहलाते थे।

अशोक काल में व्यापार गतिशील था; बाज़ार-हाट की कमी न थी; सीमा पार करके आने-जाने वाले सामान पर कर लगता था। सड़कों और नगर के प्रवेश-द्वारों पर चुंगी ली जाती थी। वस्तुओं के मूल्य की सार्वजनिक घोषणा की जाती थी और यदि व्यापारी मूल्य बढ़ाने के लिए किसी प्रकार का गठ-बन्धन करते तो उन्हें दण्ड दिया जाता था। मूल्य, वज़न और नाप-तौल का निर्धारण सरकार करती थी। स्वयं शासक भी बड़े पैमाने पर व्यापार करता था—"सिक्के ढालने का अधिकार शासक अपने लिए सुरक्षित रखता था। सोने-चाँदी का व्यापार भी शासक द्वारा नियुक्त अधिकारी, उन लोगों की ओर से जो कच्ची धातु लाते थे, खुद करते थे।"†

जाति, वर्ग तथा अन्य संगठन

इस काल में वर्ण-व्यवस्था पहले से अधिक जटिल हो जाती है। पेशे और उद्योग-धंधों के आधार पर श्रेणी और वर्गों का विभाजन अस्तित्व में आ जाता है। विभिन्न वर्गों के बीच अन्तर्विवाह अभी तक

---

* देखिए मुकर्जी की पुस्तक पृष्ठ १०२; वी० ए० स्मिथ ने लिखा है—"मेरे विचार में अशोक-काल की बौद्ध जनता आज के ब्रिटिश भारत के मुकाबले में अधिक साक्षर थी।'

† कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ४७६

होता था। अधिकांश जनता सादा जीवन बिताती थी। साधारण खाना और साधारण पहनना उसका नियम था। लेकिन इस सादगी के साथ-साथ बहुमूल्य भड़कीले वस्त्रों, आमोद-प्रमोद के स्थानों, सराय और भोजनालयों का भी उल्लेख मिलता है। विधवाओं को पुनर्विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी। संयुक्त परिवार की प्रथा, अधिकांशतः, प्रचलित थी। निर्धन और असहायों के लिए, आहत या मृत सैनिकों के परिवारों के लिए, अकाल मृत्यु अथवा काम करते समय दुर्घटना का शिकार होने वाले कारीगरों के लिए राज्य की ओर से व्यवस्था की जाती थी। दास-प्रथा प्रचलित थी। युद्ध में पकड़े हुए बन्दियों और अपराधी वर्ग में से दासों की भर्ती की जाती थी।

लेखन-कला

लेखन-कला का सर्व साधारण में प्रचार था। अधिकांश जनता लिख पढ़ सकती थी जैसा अशोक के शिला-लेखों की प्रथा से प्रकट है। संस्कृत ब्राह्मणों और विद्वानों की भाषा थी। देशी भाषा में रचे गए जन-काव्य का भण्डार भरा-पुरा था। राज-कार्यों में देशी भाषा का प्रयोग होता था। बौद्ध और जैन ग्रंथ जनता की भाषा में लिखे जाते थे। सच तो यह है कि पाली, जो आगे चल कर बौद्धों की धर्म-भाषा बन गई, मूल रूप में, देशज भाषा थी।

इस काल के देवता

ब्राह्मणों के देवताओं में शिव और विष्णु की अधिक उपासना होती थी। ये दोनों देवता सबसे प्रिय थे। शिव के साथ-साथ युद्ध के देवता स्कन्द या विशाख ने भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। बौद्ध ग्रंथों में ब्रह्म और इन्द्र का बहुधा उल्लेख मिलता है। जैन धर्म अधिकांशतः बिहार और उज्जयिनी के आस-पास तक सीमित था, लेकिन अशोक के समय में बौद्ध धर्म ने व्यापक रूप धारण कर लिया था।

शासन-व्यवस्था और उसकी रूप-रेखा

ग्रामों की शासन-व्यवस्था पूर्ण—स्वायत्त—होती थी। ग्राम की व्यवस्था का अधिष्ठाता ग्रामणी कहलाता था। ग्रामों के एक समूह का अधिष्ठाता गोप होता था और सबसे बड़ा स्थानिक

अधिकारी राजुक कहलाता था। प्रान्तों और उनकी शासन-व्यवस्था का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। प्रत्येक प्रान्त अनेक ज़िलों में—आहारों में—विभाजित होता था। ये ज़िले या आहार ग्रामों में विभाजित होते थे और गोप इनकी देख-भाल करते थे। गोपों का काम प्रमुखतः माल गुज़ारी वसूल करना तथा खेती सम्बन्धी हिसाब-किताब रखना था। गोप के ऊपर अन्य पदाधिकारी—निरीक्षक और कमिश्नर आदि—नियुक्त होते थे जो उसका नियंत्रण करते थे।

कसबों और नगरों का प्रमुख अधिकारी नागरिक होता था। शान्ति बनाए रखना उसका काम था। सभी घरों और निवासियों की गणना भी वह करता था। रोग और महामारियों तथा अग्निकाण्डों की रोक-थाम वही करता था। बड़े नगर अनेक भागों में विभाजित होते थे और प्रत्येक भाग का एक प्रमुख अधिकारी होता था।

प्रमुख नगर पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था का मेगस्थनीज़ ने विस्तृत वर्णन किया है। तीस कमिश्नरों की एक संस्था इस नगर का प्रबन्ध करती थी। ये कमिश्नर पाँच-पाँच की संख्या में ६ कमेटियों में विभाजित थे। इन कमेटियों का काम क्रमशः(१)औद्योगिक कलाओं (२) विदेशियों की सुख-सुविधा और आतिथ्य (३) जन्म-मृत्यु का लेखा (४) क्रय-विक्रय, वज़न और नाप तौल का निरीक्षण (५) तैयार माल का निरीक्षण जिसकी बिक्री का प्रबन्ध सरकारी घोषणा के अनुसार होता था और (६) खाद्य सामग्री के मूल्य का दशमांश वसूल करना होता था।

सामूहिक रूप में सभी कमेटियों के कमिश्नर साधारण देख-भाल का समूचा काम करते थे। सार्वजनिक विभागों और संस्थाओं की देख-भाल, वस्तुओं के मूल्यों की व्यवस्था, बाजार-हाट का सुप्रबन्ध, बन्दरगाह और मन्दिरों का निरीक्षण आदि वही करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बड़े नगरों की व्यवस्था के सम्बन्ध में इसी प्रकार के निर्देश दिए गए हैं।

शासकों और राजुकों के अतिरिक्त मंत्री और महामात्र होते थे। सच तो यह है कि पदाधिकारियों और निरीक्षकों की इस व्यापक सेना के साथ मौर्य साम्राज्य ने पुराने सामन्ती ढाँचे के स्थान

पर नियम-बद्ध—ब्यूरोक्रेटिक—शासन की इमारत खड़ी कर दी थी। विदेशी प्रभाव और प्रथाएँ—विशेष कर ईरानी—मौर्य दरबार का बहुत कुछ अंग बन गई थी, और मौर्य दरबार पर उनकी काफी छाप दिखाई देती थी।

राज्य की आय और खर्च

राज्य की आय भूमि और सिंचाई के कर से, खाद्य-सामग्री और तैयार माल पर लगे महसूल तथा चुंगी से, सिक्के ढालने में होने वाले मुनाफे से, उद्योग-धन्धों के लिए कारीगरों को दिए जाने वाले लाइसेंस के शुल्क से, व्यापारियों और आमोद-प्रमोद की संस्थाओं पर लगे कर से और अपराधियों पर किए गए जुरमानों की रक़म से होती थी। आय के अन्य साधन भी थे—जैसे सम्पन्न लोगों से भेंट के रूप में धन वसूल करना आदि। खर्च के प्रमुख मद थे—सेना और अधिकारियों का पूरा वर्ग। सड़कें, सिंचाई के लिए नहरें आदि बनाना, अनाथालयों का निर्माण करना आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में भी काफी खर्च होता था।

प्रजा की सम्पत्ति और जन्म-मृत्यु का पूरा ब्योरा रखा जाता था। मेगस्थनीज़ ने इस ब्योरे का उल्लेख किया है और कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस पर विशेष रूप से जोर दिया है। केन्द्रीय सरकार अनेक विभागों में विभाजित थी जिनमें माल गुजारी और सेना के विभाग प्रमुख थे। धर्म-दान और सहायता देने के लिए अशोक ने एक अलग विभाग का आयोजन किया था। मंत्रियों की एक अन्तरंग समिति सम्राट् की सहायता करती थी। सम्राट् के अनेक अंग-रक्षक थे और उसका दरबार बहुत शानदार होता था।

सैन्य-विभाग

मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि सैन्य-विभाग का संचालन तीस सदस्यों द्वारा होता था। ये सदस्य, पाँच-पाँच की संख्या में, ६ कमेटियों या पञ्चायतों में विभाजित थे। ये सदस्य समुद्री मामलों की देख-भाल करते थे, आवागमन और यातायात का प्रबन्ध इन्हीं के हाथ में था। रथ, हाथी, घोड़सवार और पैदल-सेना का नियन्त्रण ये करते थे। मौर्य-सम्राट् की स्थायी सेना काफी बड़ी

थी। उसे अच्छा वेतन मिलता था और अपने कार्य में कुशल तथा सक्षम थी। सैनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहते थे। इनकी भर्ती कुछ तो सामन्ती प्रथा के अनुसार होती थी, कुछ किराये के सैनिक होते थे, कुछ जंगली जातियों से आते थे और कुछ विभिन्न संघों से प्राप्त होते थे। सेना साम्राज्य का प्रमुख आधार थी। शान्तजन युद्ध में आहत नहीं किए जाते थे, रोगियों और आहतों का विशेष ध्यान रखा जाता था। सैनिकों के व्यायाम तथा अन्य आवश्यक ट्रेनिंग की विस्तृत तथा नियमबद्ध व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया था।

अर्थशास्त्र

उपर्युक्त विवरण के अधिकांश का अर्थशास्त्र से भी पोषण हो जाता है। शासक के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में लिखा है कि वह सामाजिक शान्ति का रक्षक होता है। अपने साम्राज्य और राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिए वह सदा जी-जान से चेष्टा करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजा छल-कपट—सभी प्रकार के साधनों का उपयोग कर सकता है।

अर्थशास्त्र एक साधारण राज्य की शासन-व्यवस्था को सामने रख कर लिखा गया था, जब मौर्य-साम्राज्य बहुत बड़ा था और उसके सुव्यवस्थित शासन के लिए अनेक उप राजाओं और वाइसरायों की आवश्यकता पड़ती थी। जो भी हो, अर्थशास्त्र का रचयिता कौटिल्य, सम्राट् और साम्राज्य-निर्माता के रूप में ही सिद्ध नहीं है, वरन् वह शासन-सम्बन्धी कला का महान्तम भारतीय आचार्य, प्रवर्त्तक, माना जाता है।

सातवाँ परिच्छेद

मौर्य साम्राज्य का ह्रास-काल

१. परवर्ती मौर्य शुंग, कण्व और आंध्र

हम देख चुके हैं कि सम्राट् अशोक का साम्राज्य हिन्दू कुश से तामिल प्रदेश की सीमाओं तक फैला हुआ था। लेकिन, उसकी मृत्यु के बाद, ह्रासोन्मुखी वृत्तियों ने सिर उठाना शुरू कर दिया। एक-एक करके दूरवर्ती प्रान्त अपनी स्वाधीनता घोषित करने लगे। इतना ही नहीं वरन् एक विदेशी जाति, साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रवेश द्वार से, भीतर घुस आई। सम्राट् अशोक की मृत्यु हुए अधिक समय न बीता था कि एक यूनानी सेना ने, हिन्दू-कुश को पार कर, मौर्य-साम्राज्य के प्रदेश में पाँव रखने में सफलता प्राप्त कर ली।

बाद के मौर्यों के इतिहास का स्पष्ट सुनिश्चित विवरण नहीं मिलता। अशोक के उत्तराधिकारियों का पुराणों तथा बौद्ध ग्रंथों में जो उल्लेख और वर्णन मिलता है, वह परस्पर-विरोधी है। अशोक के शिला-लेखों में उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख मिलता है। उसका नाम तीवर था। लेकिन तत्कालीन साहित्य में अशोक के तीन पुत्र बताए गए हैं—कुणाल, जालौक और महेन्द्र। अन्तिम पुत्र महेन्द्र के बारे में यह निश्चित नहीं है कि वह सम्राट् का पुत्र था या भाई। जो भी हो, सम्राट् की मृत्यु के बाद के घटना क्रम के सम्बन्ध में जो विवरण और तथ्य प्राप्त हैं, वे नीचे दिए जाते हैं। इन्हीं से हम सम्राट् की मृत्यु के बाद के इतिहास का कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी

सम्राट् की मृत्यु होते ही राजघराने के लोग विद्रोह की हवा में बहने लगे और मनमानी करने पर उतर आए। अशोक के एक पुत्र जालौक ने काश्मीर पर अधिकार कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। दूसरा पुत्र कुणाल सम्भवतः साम्राज्य का नाम-

मात्र का अधिकारी था। लेकिन वह अंधा था और उसका प्रिय पुत्र—सम्प्रति—शासन-कार्य की देख-भाल करता था। जैन और बौद्ध लेखकों ने सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी बताया है। जैन-धर्म के पोषक के रूप में इन लेखकों ने उसका उल्लेख किया है।

अशोक के एक पौत्र का नाम दशरथ था। मत्स्य और विष्णु पराण में उसे सम्प्रति का पूर्वाधिकारी बताया गया है। सम्भवतः वह सम्प्रति का भाई था। आजीवकों को प्रदत्त नागार्जुनी की पहाड़ी गुफाओं की दीवारों पर अंकित समर्पण-लेखों में उसका उल्लेख मिलता है। इन लेखों में उसे देवानामपिय कहा गया है। सम्प्रति का शासन पाटलिपुत्र पर ही नहीं वरन अवन्ती और साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर भी था। डाक्टर स्मिथ का मत है कि अशोक की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य दो भागों में विभाजित हो गया था। पूर्वी भाग पर दशरथ शासन करता था और पश्चिमी पर सम्प्रति।

अशोक के उत्तराधिकारी केवल नाम के राजा थे। इनमें से एक कुटिल और झगड़ालू प्रकृति का था—"सत् पथ पर चलने का उपदेश देते हुए भी जो असत् पथ पर चलता था।" इनमें सब से अन्तिम, वृहद्रथ को, उसके प्रमुख सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने हत्या कर, ईसा पूर्व १८५ में एक नये शुंग राजवंश की नींव डाली। इस हत्या के बाद राज्य-शक्ति के रूप में मौर्यों का लोप हो गया। छोटे-छोटे मौर्य सरदार, फिर भी, मगध और पश्चिमी भारत में बहुत दिनों तक राज्य करते रहे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने, जो सातवीं शती में भारत आया था, मगध के एक मौर्य राजकुमार का उल्लेख किया है। चालुक्य और यादवों के प्रारम्भिक शिला-लेखों में भी इन मौर्य सरदारों का उल्लेख मिलता है।

मौर्य-शक्ति के ह्रास के कारण

मौर्य-साम्राज्य के ह्रास के कारणों पर अब हम विचार करेंगे। इनमें से कुछ तो स्वयं अशोक की नीति में ही निहित हैं। अशोक ने अस्त्रों पर—हिंसा पर—कभी भरोसा नहीं किया। फलतः प्रजा की सैनिक वृत्ति कुंठित हो गई। कलिंग-विजय के बाद सेना की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इतना बड़ा साम्राज्य, जिसका निर्माण अशोक के पूर्व-राजाओं ने किया, केवल शासन-सम्बन्धी

शुभ सिद्धान्तों और आदर्शों के सहारे नहीं टिक सकता था। उसके पीछे तलवार के बल की भी ज़रूरत थी। स्थानिक राजाओं को एक तरह से पूर्णरूपेण स्वतंत्र छोड़ देना साम्राज्य के राजानीतिक स्थायित्व के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। कलिंग और आंध्र जैसे अर्द्ध-विजित राज्यों का साम्राज्य के अन्तर्गत होना राजनीतिक कमजोरी का एक कारण था। दक्षिण और उत्तर-पश्चिम की ओर उत्तरोत्तर विस्तार होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि केन्द्रीय शक्ति को संगठित किया जाए। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। फलतः प्रान्तीय शासकों ने मनमानी की और उनकी शासन-व्यवस्था में अनेक दोष पैदा हो गए। कलिंग, तक्षशिला और उज्जयिनी में, इस मनमानी के फल स्वरूप, जनता पर अनेक अत्याचार हुए और शासन-व्यवस्था ठीक न रह सकी। दूरवर्ती प्रान्तों की जनता पर और भी अधिक अत्याचार हुए—शासकों की मनमानी का उसे और भी अधिक शिकार होना पड़ा। स्वयं अपने शासन-काल में अशोक को इस प्रकार के अनेक आदेश इन प्रान्तों के शासकों को देने पड़े थे कि वे जनता के साथ सहानुभूति का व्यवहार करें। इन शासकों में से कुछ ने बिन्दुसार और अशोक के समय में ही विद्रोह कर दिया था। समुचित नियंत्रण के अभाव में प्रान्तों की जनता में भी सम्भवतः असन्तोष बढ़ गया था और वह मौर्यों के शासन से मुक्त होने की प्रतीक्षा करने लगी थी।

कुछ विद्वानों ने मौर्य-साम्राज्य के ह्रास के कुछ अन्य कारण भी बतलाए हैं। उनके मतानुसार उदार होते हुए भी अशोक की बौद्ध शासन-नीति ने ब्राह्मणों में कटुता उत्पन्न कर दी थी और उन्हें भय था कि कहीं उनका धर्म इस प्रकार खतरे में न पड़ जाए। अनेक सुविधाओं से ब्राह्मण वंचित हो गए थे। लेकिन अशोक के उत्तराधिकारियों और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष के कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। अशोक ने अपने शिला-लेखों में ब्राह्मणों के प्रति उदार-भाव प्रकट किए हैं और कल्हण के अनुसार अशोक के पुत्र जालौक का व्यवहार, ब्राह्मणों के साथ विशेष रूप से, मित्रतापूर्ण था।

अन्तिम आघात

मौर्य-वंश का अन्त निकट लाने में अशोक के उत्तराधिकारियों

की अपनी कमजोरियों और अक्षमता ने बहुत योग दिया। जो कसर रह गई थी उसे उत्तरी प्रान्तों के साम्राज्य से निकल जाने और बैक्ट्रिया के यूनानियों के आक्रमण ने पूरा किया। जालौक की अधीनता में काश्मीर अपनी स्वतंत्रता घोषित कर ही चुका था। वीरसेन की अधीनता में गंधार ने भी काश्मीर का अनुसरण किया। ईसा से पूर्व २०६ में सीरिया के अन्तियोक महान् के भारत पर आक्रमण करने के समय वीरसेन का उत्तराधिकारी गंधार पर शासन कर रहा था। इस प्रकार मौर्य-साम्राज्य, पुष्यमित्र के अन्तिम आघात देने से पूर्व ही, पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया था।*

शुंग साम्राज्य (ई० पू० १२४ से ७२ तक)

पुष्यमित्र के शुंग-वंश के मूल स्रोत का ठीक से पता नहीं चलता। कुछ का कहना है कि शुंग ईरानी थे और सूर्य की उपासना करते थे। कुछ का विचार है कि वे ब्राह्मण थे। व्याकरण के सुप्रसिद्ध आचार्य पाणिनि का मत है कि शुंग सुपरिचित भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे। यह सही है तो इस ब्राह्मण-वंश के उत्थान के राजनीतिक कारणों को खोज करना आवश्यक है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनमें ब्राह्मणों ने शास्त्रों का अध्ययन छोड़ कर तलवार का आश्रय लिया है। दकन के कदम्ब ब्राह्मण-वंशोत्पन्न थे और परिस्थितियों ने उन्हें शासन-सूत्र संभालने के लिए बाध्य कर दिया था।

शुंग-राज्य का विस्तार

शुंग-राज्य का विस्तार दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था। गंगा की घाटी के सभी प्रदेश सम्भवतः उसमें सम्मिलित थे। पंजाब उसके राज्याधिकार से बाहर था। संस्कृत नाटक मालविकाग्निमित्र (कालिदास-रचित) के अनुसार पुष्यमित्र का पुत्र, राजकुमार अग्नि-

---

* "ईसा पूर्व २०६ से मौर्य-शक्ति का जो ह्रास शुरू हो गया था, उसकी गति को यवनों के आक्रमण ने और भी तेज़ कर दिया। गार्गी संहिता और पातञ्जलि के महाभाष्य में इस आक्रमण का उल्लेख मिलता है। अन्तिम आघात पुष्यमित्र शुंग ने दिया और मौर्य शक्ति का लोप हो गया।" (राय चौधरी लिखित पोलीटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इन्डिया, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २५०)

मित्र, विदिशा—मध्य भारत के ग्वालियर राज्य में स्थित भीलसा का प्रदेश—पर शासन करता था। पुष्यमित्र-काल की प्रमुख घटनाएँ यवनों का आक्रमण और मगध तथा खारवेल के बीच युद्ध था। इस युद्ध का श्रीगणेश खारवेल ने किया था।

यूनानियों का आक्रमण

ईसा से पूर्व दूसरी शती के प्रारम्भ से भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बैक्ट्रिया के यूनानियों का आधिपत्य था। इन यूनानियों के सम्बन्ध में विस्तार के साथ हम अगले परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे। पातञ्जलि और कालिदास—जो समकालीन थे—दोनों ने यूनानियों के आक्रमण का उल्लेख किया है। पातञ्जलि ने संदिग्ध भूत काल का प्रयोग करते हुए इस तरह लिखा है—"इस आक्रमण से और सभी लोग भिज्ञ थे, लेकिन स्वयं पातञ्जलि ने उसे नहीं देखा था—यह भी हो सकता है कि उसने देखा हो।"

साकेत और मध्यमिका पर यूनानियों के आक्रमण और आधिपत्य का इस प्रकार, संदिग्ध शैली में, पातञ्जलि ने उल्लेख किया है। यूनानी आक्रमणकारी के नाम के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कौन था; किन्तु वह बैक्ट्रियन था इसमें कोई सन्देह नहीं है। बैक्ट्रिया के यूनानियों ने अपने राज्य का विस्तार भारत में कर लिया था। स्ट्राबो और जस्टिन जैसे सिद्ध-लेखकों ने युथिदेमो के पुत्र दिमित्रियस की सिंध घाटी में विस्तृत विजयों का उल्लेख किया है। आस-पास के अन्य प्रदेशों पर भी उनके अधिकार का इन लेखकों ने वर्णन किया है। 'भारतीयों का सम्राट्' बैक्ट्रिया का यह यूनानी शासक कहलाता था और ईसा से पूर्व दूसरी शती के मध्य तक शासन करता रहा। यह बहुत सम्भव है कि वह पुष्यमित्र का इन्डो-यूनानी समकालीन रहा हो। कुछ का यह भी अनुमान है कि पंजाब में सागल (या शाकल) का मिनान्दर ही उपर्युक्त यूनानी आक्रमणकारी हो।

कलिंग के खारवेल

यूनानियों के आक्रमण के समय में ही मगध पर शक्तिशाली पड़ोसी राज्य कलिंग के शासक खारवेल ने आक्रमण कर दिया था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट, उदयगिरि की हाथी गुम्फ नामक

गुफा के अभि-लेख में खारवेल का उल्लेख मिलता है। चेदि वंश के गौरव को ऊपर उठाने में उसने बहुत सफलता प्राप्त की थी। बारहवें वर्ष में ही उसका राज्याभिषेक हो गया था। दक्षिण के आंध्र-वंशी राजा श्री शातकर्णि की उपेक्षा कर उसने अपनी सेना को पश्चिमी प्रदेशों पर धावा करने के लिए भेज दिया और राष्ट्रिकों तथा भोजकों को उसने अपने अधीन कर लिया। गया के निकट बाराबर की पहाड़ी गोरठगिरि पर भी उसने आक्रमण किया और इसके बाद राजगृह पर ,अपना दबाव डाला। यवन राजा को मथुरा तक पीछे ढकेलने में भी उसने सफलता प्राप्त की। बाद में उसने मगध पर आक्रमण किया और उसके शासक बृहस्पति मित्र को अपने सम्मुख नतमस्तक होने के लिए बाध्य किया। दक्षिण के राज्यों के विरुद्ध भी उसने विजय प्राप्त की।

हाथी गुम्फ अभि-लेख में इस बात का संकेत मिलता है कि खारवेल ने जैन भिक्षुओं की महासभा का आयोजन किया था। इस अभि-लेख का विवरण अपूर्ण है और उससे खारवेल के शासन-काल के अन्त तक का वर्णन प्राप्त नहीं होता। आंध्र के सातवाहन वंश के राजा शातकर्णि का वह समकालीन था। दैमित्रियस—युथिदेमी का पुत्र, और प्रारम्भिक शुंग भी उसके समकालीन थे।*

अश्वमेध यज्ञ

इसी बीच खारवेल का उत्तराधिकारी राजकुमार विदर्भ के राजा के विरुद्ध युद्ध में अपने कौशल का परिचय दे रहा था। विदर्भ का राजा मौर्य-मंत्री का सम्बन्धी था और शुंग-परिवार के मौर्य-राज्य पर अधिकार करने के विरुद्ध था। शुंग राजकुमार के सामने उसे मुँह की खानी पड़ी। इस तथा इसी तरह की अन्य विजयों से उत्साहित होकर पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किए। अश्वमेध यज्ञ करने का उद्देश्य विदर्भ और यवनों पर प्राप्त अपनी विजय-उत्सव मनाना था। मौर्य-काल में अश्वमेध यज्ञ की प्रथा बंद हो गई थी। उसके फिर से जीवित हो उठने से ब्राह्मणों के फिर से अभ्युत्थान का संकेत मिलता है। लेकिन शुंग अनुदार नहीं थे और विभिन्न धर्मों के अपना विकास करने के मार्ग में बाधा नहीं डालते थे।

---

* देखिए एपिग्राफिया इण्डिका, भाग २०, खण्ड ५, पृष्ठ ७१-८९। इसमें जायसवाल और बनर्जी द्वारा प्रस्तुत हाथी गुम्फ अभि-लेख दिया हुआ है।

अन्तिम शुंग

पुष्यमित्र के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र गद्दी पर बैठा। वह एक साहसी योद्धा था। विष्णु पुराण में अग्निमित्र के बाद आठ राजाओं के नाम मिलते हैं। इनमें से एक उसका पुत्र वसुमित्र था। अपने दादा पुष्यमित्र के समय में ही उसने यवनों पर विजय प्राप्त की थी और उन्हें मध्य भारत की एक नदी सिंधु-तट पर पराजित किया था।

शुंग राजाओं ने पंजाब के यवनों के साथ मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। बेसनगर (विदिशा) में एक अभि-लेख है जो भागभद्र के चौदहवें वर्ष में अंकित किया गया था। इस अभि-लेख से पता चलता है कि राजा अन्टलिखिद की ओर से तक्ष शिला का हेलियोदोर राजदूत बन कर आया था। यूनानी होते हुए भी यह राजदूत अपने को विष्णु का भक्त और भागवत धर्म का अनुयायी कहता था—और वसुदेव की पूजा में उसने एक गरुड़-स्तम्भ बनवाया था।

सर जान मार्शल के कथनानुसार भागभद्र शुंग-वंश का पाँचवाँ राजा था। नवाँ राजा भागवत था। उसने काफी दीर्घ समय तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी देवभूति को उसके मंत्री वसुदेव कण्व ने अपदस्थ कर दिया और खुद राजा बन बैठा। इस प्रकार कण्व राजवंश का प्रारम्भ हुआ। आंध्रों के उत्थान तक शुंग राज-कुमार मध्य भारत में शासन करते रहे। लेकिन आंध्रों के सामने उनके पाँव न टिक सके और उनकी रही-सही शक्ति भी लोप हो गई। ये शुंग राजकुमार बहुत कमजोर थे और अपने ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ की कठपुतली बने रहते थे। इनमें से कई तो सम्भवतः युवावस्था में ही काल का ग्रास हो गए थे। अन्तिम राजा देवभूति अनेक व्यसनों में फँस गया था। अन्त में उसके मंत्री वसुदेव कण्व ने उसकी हत्या की और उसके सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया।

शुंग-काल की उल्लेखनीय घटना यह है कि यवनों को अपनी आक्रमण-नीति छोड़ कर पीछे हटना पड़ा। पातञ्जलि का उदय और भागवत धर्म का प्रचार इसी काल में हुआ।

सातवाँ परिच्छेद

गुप्त-काल की अपेक्षा इस काल में धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्र में काफी उन्नति हुई। विदिशा अपनी कला के लिए प्रसिद्ध थी। भरहुत के स्तूपों की सुन्दर वेष्टिकाएँ इसी काल की देन हैं।

कण्व राजाओं का काल

पुराणों के अनुसार इस वंश के प्रवर्तक वसुदेव के बाद तीन राजा और हुए। ये राजा शुंग-भृत्य कहलाए। कुल मिला कर पैंतालीस वर्ष तक इन तीनों ने राज्य किया। इनका जीवन-वृत्त पूर्ण और निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं है। अनुमान किया जाता है कि ये परवर्ती शुंगों के समकालीन थे—जो सर्वथा पंगु हो गए थे लेकिन पुराणों में यह स्पष्ट वर्णित है कि वसुदेव ने अन्तिम दस शुंग राजाओं को मार डाला था और इसके बाद कण्व राजा पैंतालीस वर्ष तक राज्य करते रहे। इस प्रकार शुंग शासन-काल के ११२ वर्ष बाद कण्वों का शासन-काल आता है। उनका शासन सम्भवतः ईसा से पूर्व ७२ से २८ तक चला। यह भी सम्भव है कि कुछ शुंग राजकुमार कण्वों के काल में भी राज्य करते रहे हों और उनका लोप आंध्रों से पराजित होने पर हुआ हो।

आंध्र राजा

आंध्रों का सर्व प्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इस ग्रंथ की रचना ईसा पूर्व ५०० से बहुत पहले हुई थी। उस सुदूर अतीत में दस्यु जातियाँ आर्य बस्तियों से बाहर—छोर पर—रहती थीं। ये जातियाँ अनार्य थीं और धीरे-धीरे आर्यों का उनपर प्रभाव पड़ रहा था। दक्षिण के उत्तर-पूर्वी भाग में ये रहती थीं और उनके पास काफी शक्ति थी। ईसा के बाद प्रथम शती के विद्वान् प्लाइनी ने आंध्रों का एक शक्तिशाली जाति के रूप में वर्णन किया है—"जिसके पास अनेक गाँव और तीस नगर थे जो चारों ओर परकोट और बुर्जों से सुरक्षित थे। इनके शासक के पास १००,००० पैदल सेना, २००० घुड़सवार और १००० हाथी थे।"

प्लाइनी की सूचनाओं का आधार मेगस्थनीज का भारत-वर्णन था। उसके काल में आंध्र जाति और उसकी शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान था। अशोक के तेरहवें शिला-लेख में अनेक स्वतंत्र और सामन्ती राजकुमारों के साथ-साथ आंध्रों के शासक का भी उल्लेख

है। इन सब को अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भेजा था। इस लेख से यह भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि आंध्रों ने मौर्य-सम्राट् की प्रजा बनना स्वीकार कर लिया था। यह चाहे चन्द्रगुप्त के काल में हुआ हो चाहे अशोक के। अशोक ने अपने समय में केवल एक ही विजय प्राप्त की थी। वह थी कलिंग-विजय। इसलिए इन दोनों के काल में आंध्रों की अधीनता स्वीकार करने की घटना हो सकती है।

पुराणों से यह भी पता चलता है कि आंध्र जाति के शिशुक या शिमुख ने न केवल कण्वों को बल्कि शुंग-वंश का जो कुछ अवशेष था, उसे भी नष्ट कर दिया था। इस प्रकार शिमुख का काल कण्वों के बाद होना चाहिए। लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है कि आंध्रों का राज्य साढ़े चार शतियां तक चलता रहा। और शिमुख का जीवन काल ईसा से पूर्व तीसरी शती का अन्तिम पक्ष था। अशोक की मृत्यु के बाद शीघ्र ही आंध्रों ने भी सिर उभारा, अपना शासन उन्होंने स्थापित किया जो ईसा के बाद तीसरी शती तक चलता रहा।* यदि यह ठीक है तो शिमुख ईसा से पूर्व तीसरी शती की अन्तिम चौथाई में राज्य करता था। मौर्यों के आधिपत्य से उसने अपने को मुक्त किया और अपने राज्य का दूर-दूर तक—दकन पर्यन्त तक—विस्तार करने में सफलता प्राप्त की।

सातवाहन वंश

पुराणों में आंध्रवंश के जिन राजाओं के नाम दिये गये हैं, वे ही नाम सातवाहन-वंश के कुछ राजाओं के शिला-लेखों में भी मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि ये दोनों वंश एक ही थे।

सातवाहनों का विवरण, सर्वप्रथम, दक्षिण के उत्तरी भाग में

---

* एक पौराणिक कथा के अनुसार इस वंश में १९ राजा थे जिन्होंने ३०० वर्ष तक शासन किया। एक दूसरी कथा के अनुसार इस वंश में तीस राजा हुए जिन्होने ४०० वर्ष तक राज्य किया। सम्भवतः १९ राजा वंश की प्रमुख शाखा के थे और तीस राजा, जिनका मत्स्य पुराण में उल्लेख मिलता है, प्रमुख शाखा के राजाओं के अलावा उस वंश के राजाओं में सम्मिलित हैं जो कुन्तल (कर्नाटक) के प्रदेश पर कदम्बों से पहले राज्य करते थे। (राय चौधरी, पृष्ठ २७७-९)

मिला था। इनका मूल जन्म-स्थान मध्य देश के दक्षिण में स्थित था। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये बेलारी ज़िला के आस-पास से आए थे। इस स्थान का नाम शिला-लेखों में सातवाहनी-आहार और सातहनी रट्ठ दिया हुआ है। कुछ विद्वानों के अनुसार इनका सम्बन्ध सतीय-पुत्रों से था। "राजाओं के लिए आंध्र शब्द का प्रयोग सम्भवतः बाद में होने लगा जब वे अपनी उत्तरी और पश्चिमी भूमि से वञ्चित हो चुके थे और विशुद्ध रूप से आंध्र शक्ति रह गए थे—जब उनके अधिकार में केवल कृष्णा नदी के दहाने का प्रदेश था।"*

शातकर्णि राजा

पुराणों में प्रथम तीन राजाओं का शासन-क्रम ठीक मिलता है—पहले शिमुख, दूसरे उसके भाई कृष्ण और तीसरे उसके पत्र शातकर्णि। नासिक की गुफा में एक अभि-लेख है जिसमें यह बताया गया है कि कृष्ण के शासन-काल में किस प्रकार इसे खोद कर निकाला गया। शातकर्णि के सम्बन्ध में भी शिला-लेख मिले हैं जिनमें उसे दक्षिणपथ का सर्वशक्तिशाली राजा बताया गया है। इन लेखों से यह भी पता चलता है कि शातकर्णि और उसकी रानी ने अनेक कलि-यज्ञ—जिनमें दो अश्वमेध यज्ञ सम्मिलित हैं—किये थे। इन यज्ञों से पता चलता है कि वह सर्वोपरि राजा था और उसकी सत्ता स्वतंत्र थी। खारवेल के हाथी गुम्फ वाले अभि-लेख से

---

* एक मत के अनुसार इस वंश का जन्मस्थान बेलारी के निकट था। सातवाहनों के सम्बन्ध में राय चौधरी का निम्न मत उल्लेखनीय है—

"अनेक कारणों से यह विश्वास किया जा सकता है कि आंध्रभृत्य या सातवाहन राजा ब्राह्मण थे, लेकिन नाग-रक्त का कुछ मिश्रण लिए हुए। द्वात्रिंशत्पुत्तलिका में सातवाहनों का वर्णन ब्राह्मण और नागों का रक्त मिश्रित ब्राह्मणों के रूप में किया गया है। नागों का यह सम्बन्ध सातवाहनों के स्कन्दनाग शतक जैसे नामों से प्रतीत होता है। उनके ब्राह्मण होने का प्रमाण एक शिला लेखसे भी मिलता है। गौतमीपुत्र शातकर्णि की नासिक में जो प्रशस्ति है, उसमें उसे निराला ब्राह्मण कहा गया है।" (पोलीटिकल हिस्ट्री आफ इन्डिया पृष्ठ २८०-१) इस सम्बन्ध में कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया—भाग १ और जे० आर० एस (१६२६) पृष्ठ ५१६ भी देखिए।

पता चलता है कि कलिंग के पश्चिम में समूचे प्रदेश पर वह राज्य करता था। साँची में प्राप्त विवरण से पता चलता है कि पूर्वी मालवा पर भी उसका अधिकार था। शातकर्णि और खारवेल के शासन की समकालीनता के आधार पर विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आंध्र वंश का प्रारम्भ अन्तिम कण्व राजा की मृत्यु (लगभग ईसा पूर्व २७) के बाद से होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।*

यह प्रत्यक्ष है कि प्रारम्भिक राजाओं के राज्य में समूचा बरार, हैदराबाद और मध्य प्रान्त सम्मिलित था। विदर्भ के प्रदेश में इनका शुंगों से युद्ध हुआ था। उस काल के सिक्कों और अभि-लेखों से पता चलता है कि उनका राज्याधिकार मालवा, उज्जयिनी और विदिशा तक—ईसा पूर्व दूसरी शती में—हो गया था। सम्भवतः उज्जयिनी जैसी राजनगरी पर अधिकार ने ही उन्हें सम्राट् की हैसियत प्रदान कर दी और उनकी गणना पुराणों में वर्णित मौर्य और शुंग राज्य-वंशों के साथ होने लगी थी।

इस राज्य वंश के प्रारम्भिक तथा बाद के—परवर्ती—अभि-लेखों के बीच दीर्घ कालिक अन्तर दिखाई पड़ता है। इस अन्तर काल में उनके सम्बन्ध में शून्य के सिवा और कुछ नहीं सुनाई पडता। यह शून्य उस समय भंग होता है जब इस वंश का एक राजा, कुन्तल स्वातिकर्ण, मगध पर आक्रमण करके अन्तिम कण्व शासक की हत्या कर डालता है।† इस वंश का सातवाँ राजा हाल साहित्यिक अभिरुचि रखता था। उसने कामुकता पूर्ण पद्यों का एक संकलन—सप्तशतक—तैयार किया था। यह प्राचीन बोली महाराष्ट्री में लिखा गया था। इस वंश के कुछ राजाओं ने प्राकृत साहित्य को प्रोत्साहन तथा पोषण दिया था।

---

*शातकर्णि की यह तिथि (ईसा पूर्व १७१) नानाघाट के अभि-लेख से भी पुष्ट होती है। इस अभि-लेख में शिमुख और कृष्ण के बारे में इस तरह का समान विवरण दिया हुआ है। (वी० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इंडिया, पृष्ठ ११४)

† जैसा हम बता चुके हैं, एक मत यह है कि इस वंश को कण्वों के बाद शक्ति प्राप्त हुई थी। यह मत, जहाँ तक आर्यावर्त पर अधिकार का प्रश्न है, सही हो सकता है। डा०डी० आर० भण्डारकर का कहना है कि ईसा पूर्व

सातवाँ परिच्छेद

क्षहरात शक्ति

गौतमी पुत्र शातकर्णि का शासन-काल प्रारम्भ होने से पहले, विदेशियों के एक नये वंश ने—क्षहरात क्षत्रियों ने—राजपूताना और मालवा पर अपना अधिकार जमा लिया था। इनके एक राजा नहपान का उल्लेख अनेक गुफा-लेखों में मिलता है। सातवाहनों के हाथ से महाराष्ट्र को इन विदेशियों ने छीन लिया था। नहपान का पूर्वाधिकारी राजा भूमक था। यह भी क्षहरात जाति का क्षत्रिय था। कुछ मुद्रा-सम्बन्धी अभि-लेखों में भी उसका उल्लेख मिलता है। लेकिन यह नहीं प्रतीत होता कि उसने महाराष्ट्र पर शासन किया था। नहपान के बहनोई उषवदात का भी कुछ शिला-लेखों में उल्लेख मिलता है कि उसने लोकहित के अनेक कार्य किए थे। इन शिला-लेखों के अनुसार वह ब्राह्मण धर्म का दृढ़ समर्थक था।

---

७५ में इस वंश ने शक्ति ग्रहण की थी और इस वंश के तीसरे राजा शातकर्णि के शासन का अन्त ईसा सं० १६ में हो गया था क्योंकि सभी पुराणों ने, एक मत से, प्रथम तीन राजाओं का शासन-काल ८६ वर्ष बताया है। और फिर, ११७ वर्ष के अवकाश के बाद—इस अवकाश-काल का एक भी ऐसा शिलालेख नहीं मिलता जिसमें इस वंश के किसी राजा का उल्लेख हो—गौतमी पुत्र शातकर्णि ईसा सं० १३३ में सिंहासन पर बैठता है। उसके समय के शिला-लेखों से पता चलता है कि एक विदेशी शक्ति ने उत्थित होकर, कुछ समय के लिए, सातवाहनों को अंधेरे में डाल दिया था। यह विदेशी शक्ति क्षहरात थे (देखिए 'दकन आफ सातवाहन पीरियड' पृष्ठ ७१-२। यह लेख 'इंडियन एन्टीक्वेरी,' भाग ४७ में प्रकाशित हुआ है।)

डॉ० राय चौधरी का मत है कि प्रथम तीन राजाओं का शासन-काल ईसा पूर्व दूसरी शती में नहीं हो सकता। उनके मतानुसार शातकर्णि का शासन-काल ईसा पूर्व पहली शती में होना चाहिए जो हाथी गुम्फ अभि-लेख का भी काल है। (नन्द राजा के ३०० वर्ष बाद) इसके अलावा शातकर्णि की पत्नी नागनिका के नानाघाट शिला-लेख मे वर्णित राजाओं का काल पुराणों के अनुसार कण्वों से पहले नहीं सिद्ध होता—अर्थात् प्रथम शती ईसा से पूर्व। फिर शातकर्णि द्वारा पूर्वी मालवा पर अधिकार की घटना का भी, दूसरी शती में उसके इतिहास के बारे में जो कुछ मालूम हो सका है, उससे विरोध नहीं उत्पन्न होता—दोनों ठीक-ठीक बैठ जाते हैं। (देखिए पोलीटिकल हिस्ट्री, पृष्ठ २८२)

साथ ही वह बौद्धों का भी संरक्षण करता था। क्षहरात उन प्रथम दो क्षत्रप-कुलों के थे जिन्होंने पश्चिमी भारत पर शासन किया था। क्षत्रप शब्द सम्भवतः फारसी के उस प्राचीन शब्द का संस्कृत रूपान्तर है जिसका अर्थ 'राज्य का रक्षक' होता है। ईरानी प्रान्तों के शासकों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता था।

नहपान का राज्य विस्तृत क्षेत्रों में फैला हुआ था जैसा उसकी मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों और उसके बहनोई द्वारा निर्मित लोकहित की संस्थाओं से मालूम होता है। उत्तर में यह अजमेर तक फैला हुआ था और इसमें काठियावाड़, पश्चिमी मालवा, दक्षिणी गुजरात और महाराष्ट्र का कुछ भाग सम्मिलित था। उसके शासन-काल की तिथि के सम्बन्ध में तरह-तरह के और विभिन्न अनुमान लगाए गए हैं। इन अनुमानों का विस्तार ईसा से पूर्व प्रथम शती के अन्त से लेकर ईसा संवत् की दूसरी शती तक फैला हुआ है। सम्भवतः विदेशी क्षत्रपों और आंध्र-सातवाहनों के बीच गहरा और दीर्घ कालिक संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष की प्रतिध्वनियाँ हमें उज्जयिनी के विक्रमादित्य और उसके नगर से शकों के बहिष्कृत किये जाने से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं में मिलती हैं।

गौतमी पुत्र शातकर्णि

आंध्रवंश का गौतमी पुत्र शातकर्णि २३ वाँ राजा था। क्षहरात क्षत्रपों का नाश करने में उसने सफलता प्राप्त की थी और उनके राज्य को उसने अपने अधिकार में कर लिया था। एक अभि-लेख में इसका वर्णन है कि उसने "क्षहरातों को नष्ट कर सातवाहन कुल के गौरव को फिर से ऊँचा उठाया था।" ईसा स० दूसरी शती के प्रारम्भ में वह गद्दी पर बैठा था। उसके बाद उसके पुत्र वाशिष्ठिपुत्र श्री पुलुमावी ने ईसा स० १२८ के लगभग राज्य की बागडोर सँभाली।*

* एक मत के अनुसार एक युद्ध में स्वयं नहपान गौतमी पुत्र शातकर्णि द्वारा मारा गया था। एक दूसरे मत के अनुसार नहपान ईसा पूर्व प्रथम शती में हुआ था और वह तथा उसके उत्तराधिकारी अपनी विजित भूमि पर लगभग एक शती तक राज्य करते रहे। पुलुमावी ने भी इस राज्य का उपभोग किया। (देखिए जे० आर० ए० एस (१९२६) पृष्ठ ६६२ और 'दि इंडियन एन्टीक्वेरी १९१८ पृष्ठ १४१। गौतमी पुत्र और वाशिष्ठिपुत्र के परस्पर सम्बन्ध

सातवाँ परिच्छेद

गौतमी पुत्र के राज्य-विस्तार का वर्णन नासिक की गुफा नम्बर तीन के विस्तृत अभि-लेख में मिलता है। पुलुमावी अपने पिता के साथ संयुक्त शासक के रूप में सहयोग करता था। उसका शासन-क्षेत्र सम्भवतः महाराष्ट्र था जब उसका पिता सातवाहनों के पैतृक भू-क्षेत्र का शासन करता था।

पुलुमावी ने करीब तीस वर्ष तक शासन किया। उसने उज्जयिनी के शक क्षत्रप रुद्रदमन की कन्या से विवाह किया था। शक क्षत्रपों के उस दूसरी शाखा से सम्बन्ध रखते थे जिसने पश्चिमी भारत पर राज्य किया था। क्षहरात परिवार के विनाश के बाद चश्टाना ने—जो कि नये वंश का संस्थापक था—जहाँ तक उसके लिए सम्भव हुआ, नहपान के क्षेत्र को फिर से अपने अधिकार में कर लिया। उसकी मुद्राओं से पता चलता है कि उसके राज्याधिकार में, महाराष्ट्र को छोड़ कर, शेष सभी क्षहारात-भू-क्षेत्र आ गया था। चश्टाना का शासन-काल ईसा स० १२० से पूर्व हो सकता है जब उसके पौत्र, रुद्रदामा का शासन प्रारम्भ हुआ। ये क्षत्रप, ऐसा मालूम होता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के महान् कुषाण शासकों के अधीन थे।

यज्ञश्री

रुद्रदामा ने अपने बहनोई पुलुमावी को दो बार युद्ध में परास्त किया और उसके राज्य का अधिकांश भाग—जिसे पुलुमावी के पिता ने क्षहरातों से छीना था—अपने अधिकार में कर लिया। अन्त में पुलुमावी को रुद्रदमन से शान्ति करने के लिए बाध्य होना पड़ा। रुद्रदमन ने अपनी कन्या का विवाह सातवाहन से किया था। उसके राज्य के पश्चिमी भाग के हाथ से निकल जाने का संकेत इस बात से भी मिलता है कि सातवाहन को अपनी राजधानी को स्थान-न्तरित कर निजाम-राज्य के पैठान नामक स्थान में ले जाना पड़ा था। यज्ञश्री ईसा स० १७३-२०२ में हुआ था। आंध्र-कुल का वह अन्तिम राजा था और अपने कुल के अतीत गौरव को उसने बहुत

और सातवाहनों के विदेशी शक क्षत्रपों के प्रति व्यवहार का श्री के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने जे० आर० एस (अक्टूबर १९२६) पृष्ठ ६४४-६५५ में सुलझा हुआ और स्पष्ट विवेचन किया है।

कुछ बनाए रखा था। क्षत्रपों के सिक्कों के अनुकरण पर उसने अपने नाम के सिक्के बनवाए थे। ये सिक्के उसने उन प्रदेशों में चालू करने के लिए बनवाए थे जिन्हें उसने क्षत्रपों से जीता था। उसके कुछ सिक्कों पर नौका की छाप भी मिलती है जिससे पता चलता है कि उसकी शक्ति केवल स्थल भाग तक ही सीमित नहीं थी। उसके उत्तराधिकारी, कम से कम उसके राज्य के पूर्वी भाग में, शासन करते रहे। इनके नाम थे—विजयश्री, चन्द्रश्री और पुलुमावी चतुर्थ। अपने कुल के ये अन्तिम राजा थे। इस कुल का अन्त ईसा स० १२५ में हुआ। इस प्रकार, यज्ञश्री के बाद, आंध्रों की शक्ति बहुत छिन्न-भिन्न और क्षीण होकर नष्ट हो गई।

ह्रास के कारण

आंध्रों के ह्रास के क्या कारण थे, उनका ठीक पता लगाना कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि श्री पुलुमावी के बाद राज्य के शासन की बागडोर जिन उप-शासकों (वाइसरायों) के हाथ में थी, वे अधिकांशतः सैनिक थे। साम्राज्य के अन्तिम दिनों में इन उप-शासकों ने, अपने-अपने प्रदेश में, स्वतंत्र राज्यों की घोषणा कर दी। ये सैनिक उपशासक, अधिकतर, नागवंशी थे और महारथी, नाग और चूतू कहलाते थे। इन उप-शासकों में सब से महत्वपूर्ण चूतू था। यह बनवासी राज्य पर शासन करता था। यह अपने को शातकर्णि भी कहता था। आगे चलकर पल्लवों ने, वनवासी के चूतू से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर के, पूर्व आंध्र साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों को प्राप्त कर लिया।

आंध्र साम्राज्य के ह्रास के कारणों में ईसा संवत् दूसरी शती में होने वाले विदेशियों के आक्रमण भी थे। जैसे शक और गड़रियों की जाति आभीरों के आक्रमण। पुलुमावी के परवर्ती शासन-काल में आंध्र-सातवाहनों की शक्ति ने पतनोन्मुखी दिशा ग्रहण कर ली थी और रुद्रदामा की विजयों ने पतन की गति को और भी तेज कर दिया था। ईसा स० १५० में उत्तरी महाराष्ट्र, कोंकण और गुजरात उनके हाथ से निकल गए। यज्ञश्री के शासन-काल में यद्यपि उन्होंने फिर से कुछ जीवन प्राप्त किया, लेकिन उनके साम्राज्य का दक्षिण-पश्चिम-प्रदेश स्थायी रूप से उनके हाथ से

निकल गया—उत्तरी भाग क्षत्रपों के हाथ में चला गया और दक्षिण पर चूतू ने कब्जा कर लिया। कुछ दिनों तक और सातवाहनों की शक्ति पूर्वी दक्षिण में अपनी अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा करती रही और अन्त में इक्ष्वाकु तथा पल्लवों के उत्थान के सामने वह सदा के लिए लोप हो गई।*

२. धार्मिक और साहित्यिक अवस्था

उत्तरी भारत और आंध्रों के दक्षिण के राजनीतिक इतिहास का वर्णन हम कर चुके हैं। अब हम, तेज गति के साथ, बुद्ध के समय से लेकर ईसा संवत् की दूसरी शती तक, जनता के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जैनियों की स्थिति

ईसा से पूर्व पाँचवीं और चौथी शती में तीन प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी धर्म थे जो आगे आने का प्रयत्न कर रहे थे—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म। इन तीनों में ब्राह्मण धर्म सब से प्राचीन था और इसे महावीर वर्धमान और बुद्ध दोनों ने काफी आघात पहुँचाया था। महावीर और बुद्ध दोनों ने प्रचार के आधार पर अपने धर्म का संगठन किया था और उनके भिक्षु देश-भर में घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करते थे। जैनियों ने अनेक संघों का संगठन किया था और विभिन्न प्रदेशों की बोलियों को उन्होंने सीख लिया था। दक्षिण भारत और सिंहलद्वीप के निवासियों में उन्होंने अपने नये धार्मिक संदेश का प्रचार किया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक तामिल राजा जैन-धर्मावलम्बी हो गए। मदुरा और रायनद जिला में जो प्रारम्भिक ब्राह्मी शिला-लेख मिलते हैं, वे उन जैन भिक्षुओं की देन बताये जाते हैं जो ईसा पूर्व दूसरी शती में, यहाँ की पहाड़ी

---

* अन्तिम सातवाहन राजाओं के सिक्के केवल मध्य प्रान्त में पाए गए हैं। आंध्र देश में भी वे मिले हैं। किन्तु पश्चिमी दक्षिण में कतई नहीं मिले। जगैयापेटस्तूप पर खुदे हुए तीन लेख मिले हैं—जो इक्ष्वाकु वंशी श्री वीरपुरुषदत्त के काल के हैं। इन लेखों की लिखावट और बनावट तीसरी शताब्दी के समय की आंकी गई है जब इक्ष्वाकुओं ने सातवाहनों को अपदस्थ कर अपना अधिकार जमा लिया था (इन्डियन एन्टीक्वेरी, भाग ४७, पृष्ठ १५६)

गुफाओं में रहते थे। उत्तर भारत में उनका प्रचार इसलिये आगे नहीं बढ़ सका कि सम्राट् अशोक बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और बौद्ध धर्म के पोषण तथा प्रचार में उन्होंने बड़े उत्साह के साथ योग दिया था। जैन और ब्राह्मण धर्म के प्रति भी, इसमें सन्देह नहीं, अशोक का व्यवहार उदार था, लेकिन प्रज्ञापनों का जो क्रम अशोक ने जारी किया और जिस जोश के साथ पदाधिकारियों ने प्रज्ञापनों का कार्य करना शुरू किया, उसने जैन धर्म के प्रसार में अवश्य ही बाधा पहुँचायी होगी। सच तो यह है कि जैन धर्म को दक्षिण-पूर्वी भागों में—विशेष कर कलिंग के राज्य में जहाँ का राजा पक्का जैन था—शरण लेने के लिए बाधित होना पड़ा। कलिंग से लेकर हर्ष के समय तक (ईसा संवत् सातवीं शती) जैन धर्म फलता-फूलता रहा।*

जैन धर्म का पुनरुत्थान

अशोक की मृत्यु और तज्जन्य उसके साम्राज्य के पतन ने जैन धर्म को उत्तर भारत में पनपने का अवसर प्रदान किया। ईसा के बाद दूसरी शती के जो लेख मथुरा में मिले हैं, उनसे पता चलता है कि ईसा स० प्रथम शती के पहले से मथुरा जैन धर्म का केन्द्र बन गया था। मालवा में भी जैन मतावलम्बियों की संख्या काफी थी। उज्जयिनी के राजा विक्रम के जैन धर्म ग्रहण करने की गाथा से भी इस बात की पुष्टि होती है। तामिल महाकाव्य शिलप्पादिकरम

---

* परवर्ती मौर्य शासकों में सम्प्रति ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया था और जम्बूद्वीप में अनेक जैन मन्दिरों का उसने निर्माण किया। दक्षिण भारत में प्रचार करने के लिए उसने जैन भिक्षुओं को भेजा था। कलिंग में जैन और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रचार था—खण्ड और उदयगिरि की गुफाओं में दोनों मतों के भिक्षु रहते थे। इन गुफाओं में से कई ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शती में खोदी गई थीं। उनकी दीवारों पर बौद्ध कथाओं और जैन तीर्थंकरों के चित्र अंकित मिलते हैं। हुएन्त्साङ्ग ने—जो ईसा संवत् ६२९ और ६४५ के बीच कलिंग आया था—लिखा है कि देश में निर्ग्रन्थों की संख्या काफी अधिक थी। (देखिए सी० जे० शाह कृत जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया, परिच्छेद ४ और 'जैनिज्म इन कलिंग देश, ओ-मैली के डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ पुरी, पृष्ठ २४ भी देखिए।

में, जो ईसा संवत् की प्रारम्भिक शतियों में रचा गया था और जिसका रचयिता एक जैन था, तामिल देश में स्थित अनेक जैन विहारों का वर्णन मिलता है। जो भी हो, बौद्ध धर्म के मुकाबले जैन धर्म का प्रसार कम था। जैन धर्म की इस धीमी प्रगति के कारण थे—(१) जैन-संघ का, प्रारम्भ में ही, श्वेताम्बर और दिगम्बर में विभाजित हो जाना (२) प्रतिद्वन्द्वी और समान आदर्श वाले अन्य मतों का अस्तित्व—जैसे गोशल द्वारा संस्थापित आजीवक; गोशल पहले महावीर का ही शिष्य था (३) बौद्ध धर्म का राज्य शक्ति द्वारा पोषित होना और (४) शुंग और कण्वों के आश्रय में ब्राह्मण धर्म का फिर से नया जीवन तथा चेतना ग्रहण करना।

बौद्ध धर्म का राष्ट्रव्यापी रूप

जैन धर्म के मुकाबले में बौद्ध धर्म का जीवन, उसके जन्म-काल से ही, उज्ज्वल रहा। एक तो गौतम बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व, दूसरे बौद्ध धर्म के सीधे तथा स्पष्ट सिद्धान्त—बौद्ध धर्म ने बुद्ध के जीवन-काल में ही सर्वप्रिय स्थान प्राप्त कर लिया और उसके अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गई। बुद्ध की मृत्यु के बाद, उसके ५०० अनुयायियों ने राजगृह में एक महासभा का आयोजन किया जिसमें बौद्धधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों तथा बौद्ध भिक्षुओं के अनुशासन की व्यवस्था पर विचार किया गया। बौद्धों की दूसरी महासभा का अधिवेशन, अशोक के शासन से पूर्व, वैशाली में हुआ था। इस अधिवेशन में उग्र और नर्म बौद्ध अनुयायियों के भेद और विरोध से उत्पन्न समस्याओं पर विचार किया गया। विनय का पाठ फिर से ठीक किया गया। यह अधिवेशन बौद्धों के दो दलों में विभाजित होने से पूर्व हुआ था। तीसरा अधिवेशन पाटलिपुत्र में, अशोक के राज्याभिषेक के अठारहवें वर्ष में हुआ। कहा जाता है कि यह अधिवेशन महाशंगिकों के बड़े दल की अपनी सभा थी। तिस्स मोग्गलिपुत्त ने इसकी अध्यक्षता की थी। पड़ोसी देशों में उपदेशक भेज कर बौद्ध धर्म का प्रचार तिस्स मोग्गलिपुत्त ने ही शुरू किया था। लेकिन इस कार्य को सफलता तक पहुँचा कर बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी रूप अशोक ने दिया। अशोक ६४,००० उपदेशकों और भिक्षुओं को सहायता

देता था और उसने ८४,००० भवनों तथा स्मारकों का निर्माण किया था। राजकीय धर्म सदैव फलते-फूलते हैं और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बौद्ध धर्म, अशोक के शासन-काल में चरमोन्नति के शिखर पर पहुँच गया। अशोक का साम्राज्य भारत के सभी राज्यों से बड़ा था। फलतः अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में जो प्रेरणा दी, उसके लिए जो प्रयत्न किये, उनका फल भी काफी मिला। सिंहल और उत्तर पश्चिमी चीन (खोतान, कासगर आदि) निश्चयात्मक रूप से बौद्ध मतावलम्बी हो गए। भारत से बाहर के देशों के धार्मिक विचारों पर बौद्ध धर्म का अच्छा प्रभाव पड़ा—जैसे सीरिया और मिश्र में, जिनसे भारत का निरन्तर आदान-प्रदान रहता था।

लेकिन इस राजकीय प्रश्रय की प्रतिक्रिया भी आरम्भ हुई और इस प्रतिक्रिया के चिन्ह अशोक की मृत्यु से पूर्व ही दिखाई पड़ने लगे थे। बौद्ध धर्म के मुकाबले में अन्य धर्म अनायास ही उपेक्षित हो गये और इस उपेक्षा की प्रतिक्रिया होना आवश्यक था। अशोक आँखें बंद करके बौद्ध संघों को दान देते थे जिस पर उसके मंत्री अपनी नजर रखने लगे थे। अशोक के जो उत्तराधिकारी हुए, वे कट्टर बौद्ध नहीं थे और उनमें से एक, दशरथ, ने आजीवकों को गुफाएँ देने के लिए तीन बार स्वीकृति दी थी।

मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म

अशोक की मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म को राज्य की ओर से सहायता मिलनी बन्द हो गई। हम देख चुके हैं कि अशोक के उत्तराधिकारियों में से एक शिव का उपासक था। अशोक का एक पौत्र सम्प्रति, जो पश्चिमी प्रान्तों पर शासन करता था, जैन हो गया था। अशोक के प्रज्ञापनों—शिला-लेखों—का ब्राह्मणों पर जो असर पड़ा था, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। शुंग-राज्य के संस्थापक पुष्यमित्र ने बौद्ध संघ के विरुद्ध कड़े उपाय काम में लाना शुरू कर दिया था और इस प्रकार ईसा से पूर्व दूसरी शती के बाद बौद्ध धर्म का सूर्य अस्त होना आरम्भ हो गया। भारत के सुदूर स्थित भागों में—जैसे सिंहल, पंजाब और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में—बौद्ध धर्म के अभी तक अनुयायी शेष थे, लेकिन अशोक के शासन-काल में इस धर्म ने जो राष्ट्र-व्यापी रूप धारण किया

था, वह अब समाप्त हो चुका था। इतना ही नहीं, ईसा की दूसरी शती के लगभग बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा मौलिक परिवर्तन हुआ। बौद्ध के विदेशी अनुयायियों ने, जो वर्ण और श्रेणी विहीन थे, उसे एक नया रूप दे दिया। ये विदेशी शक और युहेचि जाति के थे जो उत्तर-पश्चिमी भारत के कुशन वंश की ही एक शाखा थे। वर्ण-बद्ध हिन्दू समाज में अपने प्रवेश को कठिन पाकर उन्होंने बौद्ध धर्म को—जो वर्ण-भेद को नहीं मानता—अपना लिया था और बुद्ध की वे, एक देवता के रूप में, उपासना करने लगे थे।

यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन था जो बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक रूप से भिन्न था। चीनियों ने इन पूजक-बौद्धों को महायान सम्प्रदाय का नाम दिया और पुराने बौद्ध हीनयान कहलाने लगे। महायान सम्प्रदाय के बौद्ध भक्ति पर अधिक जोर देते थे, जो तत्कालीन भारतीय भाव-धारा के अनुकूल था। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उस काल की जनता ने इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में बहुत वृद्धि। इन अनुयायियों के लिए संस्कृत में नये धर्म-ग्रंथ लिखे गए। ये ग्रंथ बहुत बड़े-बड़े थे और त्रिपिटकों के अंश, जैसे-के-तैसे, इनमें उठा कर रख दिए गए थे। कुशन सम्राट् कनिष्क के शासन काल में जालंधर में बौद्धों की महासभा का आयोजन किया गया। इस सभा के बाद इस सम्प्रदाय ने अपना एक अलग स्थान बनाने में सफलता प्राप्त कर ली। जिसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ अगले परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे।

ब्राह्मण धर्म

अब तक जो कुछ हम कह आए हैं उससे इतना स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व छठी शती में ब्राह्मण धर्म पर बौद्ध और जैन—दोनों ओर से आघात पहुँचा। लेकिन फिर भी ब्राह्मण धर्म का देश से लोप नहीं हुआ। ब्राह्मण धर्म कभी भी—प्रचारकों और उपदेशकों का धर्म नहीं रहा। इसके प्रतिकूल ब्राह्मण धर्म अन्तर्मुखी था। अशोक की उदार हृदयता से 'लाभ' उठा कर उस काल के कई महान् व्यक्ति हिन्दू दर्शन के अध्ययन और विकास में बराबर लगे

रहे। अशोक की सब धर्मों के प्रति सम-भावना की नीति ने उन्हें कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, बल्कि धीरे-धीरे उनकी उपेक्षा होती गई।

पुष्यमित्र के सिंहासन पर अधिकार करने के बाद से ब्राह्मण धर्म ने फिर ऊपर उठना शुरू किया। यज्ञादि का युग फिर से शुरू हुआ और जनप्रिय धार्मिक साहित्य भारी मात्रा में रचा गया। इस जनप्रिय धार्मिक साहित्य में सभी प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त सम्मिलित थे। जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कितने ही प्रचलित अंध विश्वासों को भी इस साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया। शैवमत और वसुदेव की उपासना ने फैलना शुरू कर दिया—जैसा सातवाहन काल के अभि-लेखों से पता चलता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म ने जनप्रिय व्यावहारिक धर्म का रूप धारण किया—ऐसा धर्म जिसकी भुजाएँ बहुत दूर-दूर तक फैली थी और जिसने प्रतिद्वन्द्वी धर्मों की शुभ बातों को अपने में समा कर, उन्हें अपने रंग में रंग कर, अपना बना लिया था।

प्राकृत और संस्कृत

ब्राह्मण-धर्म के विकास में संस्कृत के उत्तरोत्तर विस्तार ने बहुत सहायता पहुँचायी। संस्कृत देशज भाषाओं का सुसंस्कृत साहित्यिक रूप थी। वेद प्राचीन संस्कृत में, जिसका रूप इससे भिन्न था, लिखे गए थे। इस भाषा को व्यवस्थित रूप तथा मान प्रदान करने का श्रेय व्याकरण के महान् आचार्य पाणिनि को है। पाणिनी ईसा से पूर्व चौथी शती में हुए थे। परिष्कृत संस्कृत का यह रूप केवल ऊंची श्रेणी के लोगों के लिए बोधगम्य था। इसका फल यह हुआ कि वेदों की ऊँची शिक्षा से जनसाधारण वंचित रह गए। वे उसे समझ नहीं पाते थे।

इसके प्रतिकूल गौतम बुद्ध ने देशज भाषा प्राकृत को अपनाया था। प्राकृत के द्वारा ही, प्रमुख रूप से, वे अपने विचारों को जन-साधारण तक पहुँचाते थे। यही कारण था जो तेजी के साथ उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गई और बौद्ध धर्म ने जन-प्रिय रूप धारण कर लिया।

सातवाँ परिच्छेद

जैनियों ने अपने धार्मिक साहित्य के लिए प्राकृत के ही एक रूप अर्द्ध मागधी को अपनाया था। कुछ जैन ग्रंथ लोकोपयोगी थे—गाथाएँ और रोमांस, ज्योतिष तथा भौतिक विज्ञान आदि उनके विषय थे। अशोक के शिला-लेखों तथा अन्य परवर्ती लेखों में—साधारणतया ईसा को दूसरी शती तक—प्राकृत का ही प्रयोग हमें मिलता है, संस्कृत का नहीं; क्योंकि जनसाधारण के हृदय को प्राकृत सीधे स्पर्श करने की क्षमता रखती थी। किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से संस्कृत जितनी समर्थ थी, उतनी प्राकृत नहीं। यही कारण था जो प्राकृत में अधिक लोकोपयोगी साहित्य नहीं लिखा गया। केवल लोकरंजक साहित्य—दन्तकथा आदि—ही प्राकृत में अधिक रचा गया। ऊँची श्रेणी के साहित्य के लिए संस्कृत माध्यम बनी, जो देशज तथा स्थानिक प्रभाव से सर्वथा मुक्त थी और सभी सुसंस्कृत तथा शिक्षित व्यक्ति उसे समझ सकते थे।*

मौर्य साम्राज्य के अन्त के बाद संस्कृत ने फिर से जोर पकड़ा और हिन्दू दर्शन तथा नीति शास्त्र सम्बन्धी अनेक अच्छे ग्रंथ रचे गए। प्राकृत का प्रचार और प्रभाव अपेक्षाकृत कम हो गया। यहाँ तक कि ब्राह्मणों के अनुकरण में कितने ही बौद्ध और जैन ग्रंथ भी संस्कृत में ही लिखे गए। आर्यासुर की जातक माला, जिसमें बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ वर्णित हैं और ईसा से पूर्व दूसरी शती के एक और ग्रंथ महावस्तु, पूर्णतया संस्कृत में ही रचे गए थे। संस्कृत के इस उत्थान का यह प्रभाव था कि जैनियों ने अपनी साहित्यिक कृतियों के लिए इसे ही अपनाया। इस प्रकार संस्कृत का, विरोधी बौद्ध और जैन धर्मों द्वारा अपनाया जाना, ब्राह्मणों की विजय का द्योतक था।†

सातवाहन-काल में धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

आंध्र-सातवाहन शासन-काल में भी बौद्ध धर्म, दक्षिण में, पनपता रहा। गुफाएँ खोद कर अनेक चैत्य-गृह (बौद्ध मन्दिर) और

---

* देखिए ए० बी० कीथ लिखित क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ११

† डी० आर० भण्डारकर लिखित "दि दक्खन आफ सातवाहन पीरियड," पृष्ठ ७७-८३ और इन्डियन एन्टीक्वेरी १९१९ देखिए।

लयनास (बौद्ध भिक्षुओं तथा संन्यासियों के निवास गृह) इस काल में बनाए गए। ब्राह्मण धर्म भी इतनी ही समृद्ध अवस्था में था। बलि-प्रदान करने की प्रथा, जैसा हम देख चुके हैं, फिर से शुरू हो गई थी। वैदिक देवताओं में से कितने ही अब भी पूजे जाते थे। वरुण, इन्द्र, वासुदेव, शिव और स्कन्द इसी काल के उपास्य देवता थे। कितने ही विदेशी भी ब्राह्मण या बौद्ध—दोनों में से किसी न किसी के अनुयायी हो गए थे। बौद्ध या ब्राह्मण धर्म अनुयायी विदेशियों के—जैसे उषवदात—अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस काल की धार्मिक वृत्तियों में उदारता का भाव पाया जाता था। उषवदात ब्राह्मण धर्म का दृढ़ अनुयायी था, लेकिन साथ ही बौद्ध भिक्षुओं की सहायता के लिए उसने कार्ले में एक गाँव भी प्रदान कर दिया था। इसी प्रकार गौतमी पुत्र और उसके पुत्र ने बौद्धों को मुक्त हृदय से अनेक प्रकार से सहायता दी थी।

जनता की श्रेणियाँ

समाज में सब से ऊँची श्रेणी सामन्ती सरदारों की थी जो महाभोज, महासेनापति आदि कहलाते थे। इनके बाद राजकीय पदाधिकारी थे। इन्हीं के समकक्ष श्रेणी के लोग व्यापारी तथा उनके मुखिया होते थे। निम्नस्तर के लोगों में खेतिहर, वैद्य, स्वर्णकार, आदि थे। मध्यवित्त के लोग गृह, कुल और कुटुम्ब में विभाजित थे। मातृपक्ष के कुल और गोत्र के अनुसार ही वंश चलते थे और राजा उसी के अनुसार अपना नाम तथा उपाधि धारण करते थे—जैसे वशिष्ठिपुत्र श्री पुलुमावी। व्यापारियों के संगठन के अध्यक्ष नगर-प्रबंध के कार्यों में बहुत बड़ा हाथ रखते थे। स्वर्ण और रजत कर्षपणों की मुद्राओं का चलन था। ताम्र के सिक्के भी चलते थे। सूद पर ऋण देने की प्रथा प्रचलित थी। सूद पर रुपया जमा करने वाली सहयोग समितियों तथा इसी तरह की अन्य संस्थाओं के उदाहरण मिलते हैं। विभिन्न उद्योग-धंधों के अपने संगठन थे जो श्रेणी कहलाते थे—जैसे तेलियों, कुम्हारों, बुनकारों, अन्न बेचने वालों की श्रेणियाँ। देश के विभिन्न भागों के बीच काफी अच्छा व्यापार होता था। यात्री भी इस भाग से उस भाग में आते-जाते थे—उदाहरण के लिए

पश्चिमी तट पर स्थित वैजयन्ती (बनावसी) से नासिक के बीच यात्रियों का आवागमन होता था। विदेशों से भी खूब व्यापार होता था और भड़ौंच ऐसे सम्पन्न बन्दरगाहों का अस्तित्व था। देश में अनेक मंड्डियाँ थीं—जैसे पैठान और तगर में।* इन मंडियों में अधिकतर रुई, सुलेमानी पत्थर तथा अन्य वस्तुओं का व्यापार होता था।

---

* निजाम राज्य में स्थित तैर का ही यह दूसरा नाम है।

आठवाँ परिच्छेद

विदेशी आक्रमण और उनका भारत पर प्रभाव

[१]

इन्डो-यूनानी राजवंश

सेल्युसीडियन साम्राज्य, जो सीरिया से बैक्ट्रिया तक फैला हुआ था और जिसका निर्माण इतने परिश्रम से सेल्युकस निकेटर ने किया था, शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया और इस साम्राज्य के दो अंगों ने—हिन्दूकुश के उत्तर में बैक्ट्रिया और पार्थिया ने—अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। पार्थिया को यह स्वतंत्रता उसके राष्ट्रीय विद्रोह का परिणाम थी जिसका नेतृत्व एक सरदार ने किया था। इस सरदार का नाम आर्सेकस था। ईसा से पूर्व २५० में उसने अपनी राज-परम्परा की स्थापना की जो लगभग पाँच शतियों तक चलती रही।

बैक्ट्रिया की राजधानी बल्ख में मध्य एशिया के सभी बड़े वणिक्-पथ आकर मिलते थे। पहले यह साइथियन प्रदेश था, लेकिन बाद में जब ईरानियों का आधिपत्य हुआ तो वह उत्तरी ईरान में सम्मिलित हो गया। ईरानी सम्राट् बैक्ट्रिया का, आक्सस के उस पार रहने वाली साइथियन जातियों के धावों के विरुद्ध, सीमास्थित अड्डे के रूप में प्रयोग करते थे। भारत पर आक्रमण करने के लिए सिकन्दर ने भी इसे अपना अड्डा बनाया और उसके शासन-काल में इसने एक महत्त्वपूर्ण मेसोडोनियन उपनिवेश का स्थान प्राप्त कर लिया था।

बैक्ट्रिया का शासन यूनानी गवर्नर दिओदोतस के हाथों में था। सैनिकों को भड़का कर उसने अपनी ओर कर लिया और अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी। इस प्रकार दिओदोतस ने एक सैनिक राज्य की स्थापना की। उसकी शक्ति मेसोडोनिया के

निवासियों का—जो यहाँ आकर बस गए थे—बाहुबल था। इस राज्य का जीवन अनेक बाधाओं से ग्रस्त रहा—बहुधा विद्रोह और क्रान्तियाँ उसे अस्त-व्यस्त करती रहीं और इसके शासक, बजाय इसके कि अपने राज्य की उत्तरी सीमा की लुटेरी जातियों के आक्रमण से रक्षा करते, हिन्दूकुश के दक्षिणी प्रदेश तथा भारत पर आक्रमण करने के प्रयत्नों में अपनी शक्ति को क्षीण करते रहे।

भारत पर यवनों के आक्रमण

दिओदोतस के पुत्र को युथिदेमो ने, जो उसी प्रकार का दुस्साहसी व्यक्ति था, अपदस्थ कर दिया। युथिदेमो ने सीरिया के सेलिउक सम्राट् अन्तियोक महान् से—जो सिकन्दर महान् को मात करना चाहता था और जिसने ईसा से पूर्व २०८ में भारत पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया था—युद्ध किया।* अन्तियोक ने बैक्ट्रिया के चारों ओर सैनिक घेरा डालने का प्रयत्न किया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। अन्त में उसे युथिदेमो के स्वतंत्रता के दावे को स्वीकार करना पड़ा और उसके साथ उसने विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किया। बदले में युथिदेमो ने उसे युद्ध में काम आने वाले हाथियों की एक सेना भेंट की।

भारत के सीमा-प्रदेश में अन्तियोक के प्रवेश को कुछ लोग भारत पर दूसरे यूनानी हमले का स्थान देते हैं। युथिदेमो ने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार अफगानिस्तान के निचले (लोअर) भाग तक कर लिया था। युथिदेमो के पुत्र और अन्तियोक के बहनोई देमित्रियस ने कुछ काल के लिए बैक्ट्रिया पर अपने अधिकार सुरक्षित कर भारत विजय की ओर ध्यान दिया—यहाँ तक कि उसने ईसा से पूर्व लगभग १९० में काबुल की घाटी, पंजाब और सिंध के एक भाग पर अधिकार प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। लेकिन इसी बीच बैक्ट्रिया पर उसका अधिकार शिथिल हो गया और उसके सिंहासन पर एक साहसी व्यक्ति युक्रेतिद ने, ईसा पूर्व लगभग १७५ में, अपना अधिकार जमा

* कहा जाता है कि अन्तियोक ने भारतीयों के राजा सोभागसेक्स से अपनी मित्रता को फिर से स्थापित कर लिया था जिसके फलस्वरूप भेंट में उसे कुछ हाथी भी मिले थे।

लिया। देमित्रियस ने, फिर भी, भारत की विजित भूमि पर अपना अधिकार पूर्ण बनाए रखा। यूरोप की गाथाओं में उसका उल्लेख 'भारत के राजा' के रूप में मिलता है।*

युक्रेतिद् ने भी, ईसा पूर्व १६२ में, काबुल की घाटी और पश्चिमी पंजाब के एक भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। यह भी सम्भव है कि ईसा पूर्व १६० में देमित्रियस उत्थानशील युक्रेतिद् के साथ संघर्ष में मारा गया हो। युक्रेतिद् के बारे में कहा जाता है कि उसने बैक्ट्रिया पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था और यह घटना ठीक उस समय हुई जब मित्रादित प्रथम ने पार्थिया पर अपना शासन स्थापित किया था (ईसा पूर्व १७१ के लगभग)।

युक्रेटाइडेस के सिक्कों का चलन अधिक था। इससे उसके राज्य की सम्पन्नता का पता चलता है। पार्थिया राज्य का वह कट्टर शत्रु था। यूनानी ग्रंथों से पता चलता है कि पार्थियनों ने युक्रेटाइडेस और साइथियनों को पराजित कर बैक्ट्रिया के कुछ भाग को अपने राज्य में मिला लिया था। इस अधिकृत भाग में हिन्दूकुश के दक्षिण में स्थित एरिया और आर्कोशिया के प्रदेश सम्मिलित थे।

बैक्ट्रिया के यूनानियों का पृथक्करण

पार्थिया, जिसका विस्तार तीव्र गति के साथ हुआ था, बैक्ट्रिया के ग्रीक और युफ्रात-पार सीरिया के यूनानी राज्य के बीच एक बहुत बड़ी खाई के रूप में पड़ा हुआ था। इस कारण दोनों आपस में एक-दूसरे से न मिल सके और बैक्ट्रिया वासी पूर्ण रूप से पृथक् हो गए। वे और उनके राजा युक्रेतिद् को शक्तिशाली पार्थियनों ने पश्चिम की ओर से घेर लिया और उत्तर की ओर से साइथियन जाति के समूहों का उन पर दबाव पड़ा।

---

* देमित्रियस का जीवन रोमाञ्चपूर्ण था। कनिंघम के कथनानुसार उसके जीवन की स्मृति—सुदूर अतीत की वह प्रतिध्वनि—चौसर के चित्रमय वर्णन में मिलती है कि वह महान् था, भारतीयों पर उसने शासन किया था। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १, पृष्ठ ४४४) हिन्दूकुश के दक्षिणी प्रदेश पर उसके अधिकार की पुष्टि उसके सिक्कों से होती है जिन पर यूनानी और खरोष्ठी दोनों लिपियों का प्रयोग है।

इनके अतिरिक्त बैक्ट्रिया ने अपनी शक्ति को भारत के सीमावर्ती प्रदेश को विजय करने के सतत प्रयत्नों में बहुत कुछ क्षीण कर लिया था। इन आक्रमणों में फँसे रहने के कारण उत्तरी प्रदेश की खाना-बदोश जातियों को मनमानी करने की छूट मिल गई। चीनी ग्रंथों से पता चलता है कि यूहचि जाति ने, जिसे हूणों ने पश्चिम की ओर ढकेल दिया था, शकों को अपने स्थान से ढकेल कर दक्षिणी बैक्ट्रिया में शरण लेने के लिए बाध्य किया। यह ईसा पूर्व १६५ की बात है। बीस या तीस वर्ष के भीतर शकों का बैक्ट्रिया पर अधिकार हुआ और इसके बाद, शीघ्र ही, यूहचि जाति के लोगों ने उनका स्थान ले लिया और यूहचि, आक्सस को पार कर, दक्षिण में हिन्दूकुश तक, समूचे देश पर छा गए।

इससे पूर्व कि युक्रेतिद अपनी भारत-विजय के प्रयत्नों से छुट्टी पाकर लौटता, उसकी हत्या कर दी गई। हत्या करने वाला स्वयं उसका पुत्र और उत्तराधिकारी हेलियोक्लीज़ था। वह भारत का अन्तिम यूनानी शासक था। उसके सिक्के हिन्दूकुश के उत्तरी प्रदेश में पाए गए हैं। उसके शासन-काल में ही सम्भवतः ईसा पूर्व १३५ में, बैक्ट्रिया पर शकों का अधिकार हो गया और यूनानियों को भारत-विजय के प्रयत्नों तक ही अपने को सीमित रखना पड़ा।

देमित्रियस और युक्रेतिद का शासन, उनके अपने-अपने भारतीय प्रदेशों पर, चलता रहा। देमित्रियस पूर्वी पंजाब पर अपनी राजधानी शागल से शासन करता था और युक्रेतिद सिंध पार के प्रदेश और कम्बुल की घाटी—तक्षशिला, पुष्कलवती और कपिसा पर शासन करता था।

युक्रेतिद के कुछ सिक्कों में उसे कपिसा का शासक लिखा गया है। सिक्कों के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है कि इस वंश के कितने ही राजाओं ने राज्य किया था। इनमें से एक अन्तलिखिद था। वह विदिशा के शुंग राजा भागभद्र का सम-कालीन था। वह ईसा पूर्व तीसरी शती के तीसरे पक्ष में हुआ था। उसके राज्य में तक्षशिला और कपिसा सम्मिलित थे। उसके अस्तित्व का पता हमें बेस नगर के एक विचित्र शिला-लेख से चला

है।* उसके बाद उसका राज्य अनेक भागों में विभाजित हो गया जो धीरे-धीरे आक्रमणकारी शकों के हाथ में चले गए।

युथिदेमो और देमित्रियस वंश के राजाओं के सिक्के काफी मात्रा में मिलते हैं। इन सिक्कों से देमित्रियस की भारत-विजय की पुष्टि होती है। उसके राज्य के विस्तार का पता अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत के उन विभिन्न नगरों से चलता है जिनका नाम स्वयं उसके या उसके पिता के नाम पर रखा गया है। एक मत के अनुसार वह पुष्यमित्र शुंग का समकालीन था। यदि यह ठीक है तो पतञ्जलि और कालिदास ने जिस यवन आक्रमणकारी का उल्लेख किया है, वह यही था।

अपोलोदोतस और मिनान्दर

अपोलोदोतस और मिनान्दर दो शक्तिशाली राजकुमार थे जिन्होंने देमित्रियस के बाद शासन किया और जो उसीके समय में हुए थे। सम्भवतः अपोलोदोतस के शासन-काल में पूर्वी अफगानिस्तान उनके राज्य से निकल गया था। मिनान्दर का सम्बन्ध पूर्वी पंजाब से था। भारतीय साहित्य में उसकी ख्याति इसलिए है कि वह बौद्ध ग्रंथ 'मिलिन्द पन्हों' में मिलिन्द के रूप में वर्णित हुआ है। वह शागल से शासन करता था। उसका शासन साहस तथा बुद्धिमत्ता से पूर्ण था। उपर्युक्त बौद्ध ग्रंथ कथोपकथन

---

* मध्य भारत में विदिशा के निकट बेस नगर में एक प्रस्तर स्तम्भ मिला है जिस पर अंकित है कि इसे वसुदेव (कृष्ण) के सम्मान में यवन दूत होलियोदोरस ने स्थापित किया था। यह यवन दूत दियो का पुत्र और तक्षशिला का निवासी था। वह महाराज अन्तलिखिद की ओर से राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ—उसके शासन के चौदहवें वर्ष में—आया था। इस शिलालेख से यवन शासकों के भारत के भीतरी भाग के राजाओं के साथ आदान-प्रदान होने की सूचना मिलती है। इससे यह भी पता चलता है कि कुछ यवनों ने भारतीय धर्मों को अपना लिया था—जैसे हेलियोदोरस अपने को भागवत कहता था (जे० आर० ए० एस, १९०९-१०)।

युक्रेतिद के प्रदेश में अनेक राज्य—जैसे तक्षशिला, पुष्कलवती और कपिसा जिन पर इन राज्यों के पैतृक अधिकारी राजा शासन करते थे—सम्मिलित थे। इनके अपने-अपने सिक्के भी होते थे।

के रूप में लिखा हुआ है जिसमें राजा और एक बौद्ध भिक्षु के प्रश्नोत्तर दिए हुए हैं। इस बौद्ध भिक्षु का नाम नागसेन था और उसने मिनान्दर को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर मिलिन्द बना लिया था।

मिनान्दर के सिक्के काबुल की घाटी, पंजाब और यहाँ तक कि सुदूर पूर्व में भी मिलते हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसके शासन-काल और नेतृत्व में ही यवनों ने पुष्यमित्र के मध्य देश पर आक्रमण किया था। उसका राज्य दीर्घ काल तक रहा। उसके शासन में जनता सम्पन्न और समृद्ध थी। अपनी न्यायप्रियता के लिए वह प्रसिद्ध था।* मिनान्दर के बौद्ध-धर्म ग्रहण करने की घटना से इस बात का पता चलता है कि विदेशी किस प्रकार भारत की संस्कृति का अंग बन कर उसमें समाते गए।

मिनान्दर के उत्तराधिकारी उतने शक्तिशाली नहीं थे। उनमें कुछ तो केवल अपने सुन्दर सिक्कों के लिए उल्लेखनीय हैं। दक्षिण से शकों का उन पर दबाव पड़ रहा था। शकों ने आर्कोशिया और सिंध की निचले (लोअर) घाटी में अपना आधिपत्य पहले ही जमा लिया था। ईसा पूर्व ५० तक शकों ने उन्हें अपदस्थ कर पूर्वी पंजाब पर पूरी तरह अधिकार जमा लिया।

तक्षशिला में यूनानी शक्ति का अन्त

हम देख चुके हैं कि युक्रेतिद का राज्य कई भागों में विभाजित हो गया था और बढ़ते हुए शकों का उनपर बराबर दबाव पड़ रहा था। सिंध शकों का अड्डा था। वहाँ से वे इन्दस की घाटी को पार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। कुछ समय बाद उन्होंने गांधार के यवनों को शागल के यवनों से अलग कर दिया। ईसा पूर्व ७५ के करीब शकों ने युक्रेतिद से छीन कर पुष्कलवती और तक्षशिला को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद शकों ने शागलों के राज्य को मिलाया और अन्त में, ईसा पूर्व ४० के करीब, उन्होंने युक्रेतिद-राज्य के अन्तिम अवशेष काबुल की घाटी के ऊपरी (अपर) भाग पर अधिकार कर लिया।

---

* एक मत है कि वह ईसा पूर्व प्रथम शती में हुआ था, न कि दूसरी शती में, क्योंकि उसका शासन-काल बुद्ध के निर्वाण से ५०० वर्ष पहले बताया जाता है।

हर्मियस अन्तिम यूनानी राजा था जिसने काबुल की घाटी पर शासन किया। चारों ओर वह दुश्मनों से घिरा था—पूर्व और दक्षिण-पूर्व में शकों और पेशावर और कंधार के पह्लवों से, उत्तर में यूह्चि से जो बैक्ट्रिया में बस गए थे और कुषाणों के नेतृत्व में एक बहुत बड़ी शक्ति बन गए थे। हर्मियस का शासन-काल ईसा पूर्व ४० से कुछ पहले से कुछ बाद तक रहा होगा।

[२]

भारत में साइथियन और पार्थियन

साइथियनों (शकों) और पार्थियनों (पह्लवों) का भारतीय ग्रंथों में सदा एक साथ उल्लेख मिलता है और जहाँ कहीं यवनों का जिक्र होता है, शक और पह्लव अपने-आप आ जाते हैं। फारस, चीन और ग्रीक-रोम सामग्री से हमें इनके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। शक बंजारा जाति के लोग थे और मूलतः ये यक्सार्त नदी के उत्तरी प्रदेश में रहते थे। ईसा पूर्व १६० के लगभग ये लोग दक्षिण की ओर खिसकने के लिए बाध्य हुए और बैक्ट्रिया में प्रवेश किया। एक अन्य बंजारा जाति यूह्चि ने, जो उत्तर पश्चिमी चीन से आई थी, शकों को इस पर्यटन के लिए बाध्य किया था। यूह्चि जाति के दबाव के फलस्वरूप शक जाति, भारी संख्या में, ईसा पूर्व १४० से १२० के बीच, बैक्ट्रिया और पार्थियन राज्य पर टूट पड़ी। बैक्ट्रिया के यूनानी शासन को उलट कर यह जाति दक्षिण-पश्चिमी दिशा में, हिरात और सीस्तान की ओर बढ़ी और इन प्रदेशों में वह पूरी तरह से बस गई। इसीलिए इस प्रदेश का नाम शक स्थान (सीस्तान) पड़ा।

ईसा पूर्व १२३-८८ में शकों का पार्थियनों से फिर भीषण संघर्ष हुआ और पार्थिया के शासक मिथ्रारित द्वितीय महान् ने उन्हें परियाना (हिरात और सीस्तान) प्रदेश पर उनका राज्य नहीं कायम होने दिया। इस प्रकार पार्थियों का शकों पर दृढ़ता के साथ प्रभुत्व स्थापित हो गया। शक सीस्तान और कंधार में बसे हुए थे और वे वहीं तक सीमित रहे। काबुल नदी की घाटी की ओर भी वे नहीं बढ़ सके क्योंकि वहाँ यूनानी शक्ति की रोक थी। अन्त में एक दूसरे मार्ग से, आर्कोशिया और बोलन दर्रे से

होकर, निचले (लोअर) इन्दस प्रदेश में उन्होंने प्रवेश किया और यह प्रदेश, यूनानी भौगोलिकों के शब्दों में, इन्डो-साइथिया और हिन्दुओं के शब्दों में शकद्वीप नाम से प्रसिद्ध हुआ।*

एरियाना और कस्थान (सीस्तान) में एक साथ रहने के कारण शक और पह्लव एक-दूसरे के निकट आगए थे और उनके राज्यों पर शक तथा पह्लव थे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो एक ही परिवार में शक और पह्लव नाम एक साथ दिखाई पड़ जाते थे। पूर्वी ईरान, सीस्तान और आर्कोशिया के ये शक और पह्लव शासक साधारणतया पार्थियन उपाधि को ही धारण करते थे और शहनशाह कहलाते थे। इनके सिक्कों के सामने वाले भाग पर यूनानी भाषा का प्रयोग होता था, क्योंकि समूचे पार्थियन साम्राज्य में सिक्कों की भाषा यूनानी ही होती थी।

शक-पह्लव राजवंश

शक-पह्लवों के दो वंशों ने शहन-शाह की उपाधि को धारण किया था—(१) मोअस का राजवंश (शिला-लेखों में वर्णित महान् राजा मोगा) जो सम्भवतः शक था और (२) वोनोनेज राजवंश जो द्रंगियाना और आर्कोशिया पर शासन करता था और जो सम्भवतः पह्लव था। आगे की पीढ़ियों में ये दोनों राजवंश एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गए थे। दोनों के आधिपत्य में क्षत्रप और सैनिक गवर्नर शासन करते थे जो अधिकतर शक होते थे।

मोअस ने यूनानियों से गांधार और तक्षशिला को जीत लिया और यह भी सम्भव है कि उसने पूर्वी पंजाब में शागल (शाकल)

---

* बहुत सम्भव है कि शक अप्रत्यक्ष रूप से भारत में पहुँचे हों और पह्लवों की तरह वे भी एरियाना (पश्चिमी और दक्षिणी अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान) पार कर के, भारत के महान् प्रवेश-द्वार बोलन दर्रे से, जो कि पार्थियन प्रान्त सीस्तान और कंधार से सम्बन्धित है, होते हुए लोअर इन्दस (सिंध) के प्रदेश में आए हों। यह सुपरिचित और सहज मार्ग था। क्रातेरस इसी मार्ग से सिकन्दर की सेना और हाथियों को लेकर वापिस लौटा था। लोअर इन्दस की घाटी को अपना आधार बनाकर शक और पह्लवों की सेनाएँ इन्दस की ओर बढ़ी थीं और उन्होंने यवन-राज्यों पर आक्रमण किया था। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १ पृष्ठ ५६४)

को भी यूनानियों से जीत लिया हो। उसके सिक्के काफी संख्या में पंजाब में पाए गए हैं। इनसे पता चलता है कि उसने शहन-शाह (राजाधिराज) की उपाधि धारण की थी। उसने सुदीर्घ काल तक—सम्भवतः ईसा पूर्व ६० तक—शासन किया था। उसके शासन-काल का परिचय हमें ७८ वें वर्ष के एक अभि-लेख से मिलता है, लेकिन उसमें कोई संवत् नहीं दिया हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि यह काल ईसा पूर्व ७५ के लगभग रहा होगा। उसके उत्तराधिकारियों ने अपने भारतीय साम्राज्य की नींव को दृढ़ कर लिया था।*

वोनोनेज पूर्वी ईरान में शासन करता था। उसके अधीन एक वाइसराय ने काबुल की घाटी में यवनों के अन्तिम गढ़ को अपने अधिकार में कर लिया था।

मोअस का उत्तराधिकारी आजेस प्रथम था। कुछ विद्वानों की राय में, ईसा पूर्व ५८ में, विक्रम संवत् का संस्थापन उसी ने किया था। तक्षशिला की खोदाई में जो प्रमाण मिले हैं, उनसे पता चलता है कि मोगा के बाद राजा आजेस ने राज्य ग्रहण किया और वह शक न होकर पह्लव था। अनेक अनुमानों के आधार पर उसका शासन-काल ईसा पूर्व ५०-४० आंका गया है। उसके बाद आजीलिसेस ने शासन ग्रहण किया जो कुछ समय के लिए उसके साथ, संयुक्त शासक के रूप में, कार्य कर चुका था, जैसा उसके सिक्कों से पता चलता है।

---

* सिंध नदी की घाटी पर आक्रमण करने का श्रेय पार्थियन सम्राटों को नहीं वरन् पूर्वी ईरान के उन सामन्ती सरदारों को देना चाहिए जो, समय की गति के अनुसार, शहन-शाह (राजाधिराज) के पद तक पहुँच गए। इस पद या उपाधि को, पार्थिया की शक्ति क्षीण हो जाने पर, भारतीय शासकों ने भी अपना लिया था और इनकी अपनी राजकीय उपाधियाँ ईसा पूर्व ८८-५७ तक—मित्रादित द्वितीय और तृतीय के शासन-काल के बीच के अवकाश में, पीछे पड़ गई थीं। प्रोफ़ेसर रैपसन का यह मत है। डाक्टर स्टेन कोनो और श्री जायसवाल की धारणा है कि शक सीस्तान छोड़ कर सिंध की घाटी में मित्रादित द्वितीय के समय में आये क्योंकि मित्रादित बहुत दिनों से उन पर इधर बढ़ने के लिए दबाव डाल रहा था। (जे० आई० एच०, भाग १३, पृष्ठ १७)

उसके बाद सम्भवतः एक दूसरे आजेस ने गद्दी पर पाँव रखा। फिर ईसा बाद १६ में गोंडोफर्निस ने राज्य ग्रहण किया। वह प्रत्यक्षतः पह्लव था। ईसा बाद १६-४५ तक उसने शासन किया। पूर्वी ईरान और उत्तर-पश्चिमी भारत के दोनों शक-पह्लव राज्यों पर उसका प्रभुत्व था। पेशावर जिले में उसका एक स्मारक मिलता है जिस पर उसके शासन-काल के २६ वें वर्ष की तिथि अंकित है। इससे अनुमान होता है कि उसका शासन-काल ३६ वर्ष रहा होगा। ईसाई गाथाओं में उसका उल्लेख संत थामस के साथ मिलता है जो ईसा बाद तीसरी शती में हुआ था। सन्त थामस पार्थियों का धर्मगुरु था। यह सम्भव है कि गोंडोफर्निस के दरबार में ईसाई मत के प्रचारक पहुँचे हों। अनुश्रुति एक यह भी है कि उसने मालाबार तट पर स्थित प्राचीन चर्च की स्थापना की और मद्रास के निकट संत थामस माउन्ट पर अपने शरीर का त्याग किया लेकिन इस अनुश्रुति को प्रामाणिक सिद्ध करना कठिन है। इस पर आसानी से विश्वास नहीं किया जा सकता। जो भी हो, गोंडोफर्निस के बाद शक-पह्लवों की शक्ति क्षीण होती गई और उसका स्थान एक नयी शक्ति—कुषाणों—ने लिया।

क्षत्रपों की परम्परा

मोअस और उसके उत्तराधिकारियों के साथ-साथ क्षत्रपों के राज्यों का उल्लेख मिलता है। उनके जो सिक्के और लेख हमें मिले हैं, उनसे बहुत बड़ी और बहुमूल्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये क्षत्रप तक्षशिला, मथुरा, उत्तर के कई स्थानों और कठियावाड तथा मालवा में शासन करते थे। इनकी शासन-व्यवस्था का प्रमुख महाक्षत्रप होता था। उसके नीचे एक दूसरा क्षत्रप उसका पुत्र होता था जो, समय आने पर, उसका उत्तराधिकारी होता था। क्षत्रप के अलावा अन्य शक सैनिक सरदार भी होते थे। इनमें से कुछ के नाम विभिन्न अभि-लेखों में मिलते हैं। इन नामों को हम उनके मूल रूप में नहीं, वरन हिन्दू ढंग से परिवर्तित रूप में पाते हैं। मोअस-शासन के कुषाणों-द्वारा नष्ट कर दिए जाने के बाद भी ये क्षत्रप अपने-अपने इलाके में शासन करते रहे।

मथुरा में शक क्षत्रपों का राज्य सम्भवतः ईसा पूर्व प्रथम शती के मध्य में आरम्भ हुआ था। मथुरा की सुप्रसिद्ध सिंहराजधानी (ईसा

पूर्व २५) के अभि-लेख में अनेक शक सरदारों का उल्लेख मिलता है। इस शिला-लेख से हमें महाक्षत्रप राजुल और उसके पुत्र क्षत्रप षोडास का पता चलता है। तक्षशिला के पास के जिलों के क्षत्रप कुशुलुआ पाटिक का भी इसमें उल्लेख है। मथुरा के क्षत्रप और तक्षशिला के शासकों के बीच क्या और कैसे सम्बन्ध थे, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। सम्भवतः मोअस के बाद उन्होंने अपने को स्वतंत्र घोषित कर लिया था।*

तक्षशिला और मथुरा के उत्तरी क्षत्रपों के अतिरिक्त सौराष्ट्र और मालवा में भी क्षत्रप राज्य कायम थे। इन क्षत्रपों के सिक्के, भारी संख्या में, इन प्रदेशों में पाए गए हैं। इन सिक्कों का अध्ययन कर ही विद्वान् तीनों क्षत्रपों का वृतान्त जानने में समर्थ हुये हैं। अन्हिलवाड़ और मालवा के शक गवर्नर पश्चिमी क्षत्रप कहलाते थे। इनमें दो परिवारों का पता चल सका है—एक क्षहरात, दूसरे चष्टन।

भूमक और नहपान

प्रारम्भिकतम क्षत्रपों में भूमक का नाम ज्ञात हो सका है। वह क्षहरात-वंश का संस्थापक था। उसके बाद नहपान ने स्थान ग्रहण किया। नहपान ने वास्तव में शक-साम्राज्य की नींव डाली जो

* अनुमान किया जाता है कि ईसा पूर्व ५८ में जब उज्जयिनी के महाराजा विक्रमादित्य ने शकों को मालवा से निकाल बाहर किया तो वे मथुरा में आकर जम गए थे और वहाँ पर उन्होंने, विक्रम से मिलता-जुलता. अपना संवत् शुरू किया। इस प्रकार दो भिन्न घटनाओं के लिए एक ही आधार का प्रयोग किया गया। मालवा के मुक्ति प्राप्त करने और शकों का मथुरा में शासन शुरू होने से इस प्रत्यक्षतः समान संवत् का प्रारम्भ होता है। यह मत स्टेन कोनो ने प्रस्तुत किया है और इससे यह बात समझ में आ जाती है कि ईसा संवत् से कुछ पहले ही विक्रम संवत् के समान मथुरा में जो संवत् चला, उसका आधार क्या था। डाक्टर स्टेन इस सम्बन्ध में बिल्कुल निश्चित हैं कि विक्रम संवत् का प्रारम्भ उज्जयिनी में शकों के शासन का अन्त करने के बाद विक्रमादित्य ने किया था। यह संवत् मालव संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विमक्रादित्य की उपाधि (विरुद) को गुप्तवंश के चद्रगुप्त द्वितीय ने भी धारण किया। चन्द्रगुप्त ने मालवा में परवर्ती शकों के शासन का अन्त किया था।

उपरि (अपर) गोदावरी के प्रदेश में मालवा से नासिक तक फैला हुआ था। नहपान के शासन-काल का अनुमान ईसा बाद ७८ से १२४ तक किया गया है। कुछ का कहना है कि वह ईसा बाद पहली शती के प्रारम्भ में हुआ था। उसका दामाद एक शक, उषवदात था जिसका उल्लेख हमें अभि-लेखों में मिलता है। नहपान का राज्य विस्तृत था जैसा हमें उसके दामाद के अभि-लेखों से मालूम होता है।

नहपान के वंश का आंध्र-सातवाहनों ने अन्त किया था, यह हम पहले कह चुके हैं। उसके बाद क्षत्रपों के दूसरे वंश की नींव चष्टन ने डाली। सुप्रसिद्ध भौगोलिक तोलेमी ने उसका उल्लेख ओजन (उज्जयिनी) के शासक तियास्तेनस के नाम से किया है। चष्टन ने पहले तो हाथ से निकले प्रदेशों पर विजय प्राप्त की और फिर, उसके बाद से, शक-शक्ति ईसा बाद चौथी शती के अन्त, गुप्त-विजय के समय तक, अखंडित रूप से शासन करती रही। चष्टन ने सिक्कों पर अपने को महाक्षत्रप लिखा है। उसके पुत्र जयदमन की मृत्यु उसके जीवन-काल में ही हो गई और वह कभी महाक्षत्रप के पद तक नहीं पहुँच सका। चष्टन यशमातिका का पुत्र था। एक मत के अनुसार यह नाम संस्कृत भूमक का शक-रूपान्तर था। इस लिए क्षत्रपों के प्रथम वंश के साथ उसका निकट का सम्बन्ध प्रतीत होता है। चष्टन के उत्तराधिकारियों की संख्या काफी बड़ी थी। इनमें कुछ क्षत्रप और कुछ महाक्षत्रप कहलाये। उसके पौत्र का नाम रूद्रदामा था।* वह महाक्षत्रप था और उसके राज्य में मालवा, सौराष्ट्र, कच्छ, सिंध, अपरान्त और निषाद तथा अन्य कई प्रदेश सम्मिलित थे। काठियावाड़ में गिरनार के शिला-लेख में उसकी ख्याति का वर्णन सुरक्षित है। इसमें तिथि शक संवत् ७२ (ईसा बाद १५०) दी हुई है। इस शिला-लेख से पता

---

* कहा जाता है कि रुद्रदमन चष्टन के साथ, संयुक्त शासक के रूप में, राज्य करता था। अंधौ शिला-लेख के अनुसार उसका राज्य, ईसा बाद १३० में, काठियावाड़ के कुछ भागों तक सीमित था। जूनागढ़ के शिला-लेख के अनुसार उसने सभी शक-प्रदेशों पर फिर से विजय-प्राप्त कर ली थी। एक मत यह भी है कि प्रथम और दूसरे क्षत्रप-वंशों के बीच कोई क्रम-भंग नहीं हुआ था।

चलता है कि उसने दक्षिण के सातवाहन राजा पर दो बार विजय प्राप्त की थी। उसकी अन्य विजयों तथा सफलताओं का इस शिला-लेख में उल्लेख है। मौर्यों ने जिस महान् सुदर्शन झील का निर्माण किया था, उसकी मरम्मत रुद्रदामा ने कराई थी। वह विद्वान् तथा अनेक गुणों से विभूषित था। उसके बाद उसका पुत्र और फिर पौत्र गद्दी पर बैठा और इस प्रकार यह वंश शक-संवत् ३१० या ३११ तक चलता रहा—जब गुप्त-साम्राज्य का आगमन हुआ और क्षत्रपों के इस लंबे वंश का अन्त हो गया। शकों ने तेजी के साथ हिन्दूधर्म को अपना लिया और वे उसके कट्टर प्रचारक तथा समर्थक सिद्ध हुए। क्षत्रपों के इतिहास के परवर्ती काल के सम्बन्ध में हम अन्य स्थान पर प्रकाश डालेंगे।

[३]

कुषाण साम्राज्य और कनिष्क

यूह्चि जाति के लोग, जिन्होंने बैक्ट्रिया में यूनानी शासन का अन्तिम चिन्ह मिटा दिया था और आर्कोशिया तथा सिंध की घाटी में शक-पह्लव-शासन के लिए काल बन गए थे, मूलतः उत्तर-पश्चिमी चीन के रहने वाले थे। यूह्चियों को चीनियों ने परास्त कर उन्हें अपने मूल निवास से भगा दिया था। अपनी इस पराजय के बाद वे पश्चिम की ओर बढ़े और साइवांग नामक शक-वंश के लोगों को अपना प्रदेश छोड़ने के लिए बाध्य किया। अपने प्रदेश से उखड़ कर इन शकों ने दक्षिण की ओर पर्यटन किया और किपिन पर जाकर उन्होंने अधिकार जमाया।

इस प्रकार यूह्चि, ई० पू० १२५ में, आक्सस के उत्तरी प्रदेश में बस गए। इसके बाद, ई० बा० २४ से कुछ पहले, यूह्चियों ने स्थान-परिवर्तन किया और आक्सस के दक्षिण में, ताह्यिा देश—बैक्ट्रिया—में चले गए। बैक्ट्रिया को उन्होंने पाँच प्रमुख भागों में बाँट दिया। आगे चल कर यूह्चि बहुत ही शक्तिशाली हो गए और पाँच भागों में से एक के सरदार—कुशनों के सरदार (कुईशांग)—ने अन्य भागों को अपने अधीन कर लिया। इसके अलावा उसने अन्य प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त कर ली और यूह्चि जाति के लोग, सब कहीं, कुशन कहलाने लगे—इसी नाम से उन्होंने

प्रसिद्धि प्राप्त की। लेकिन चीनी उन्हें अब भी महान् टहूचि कहते रहे।*
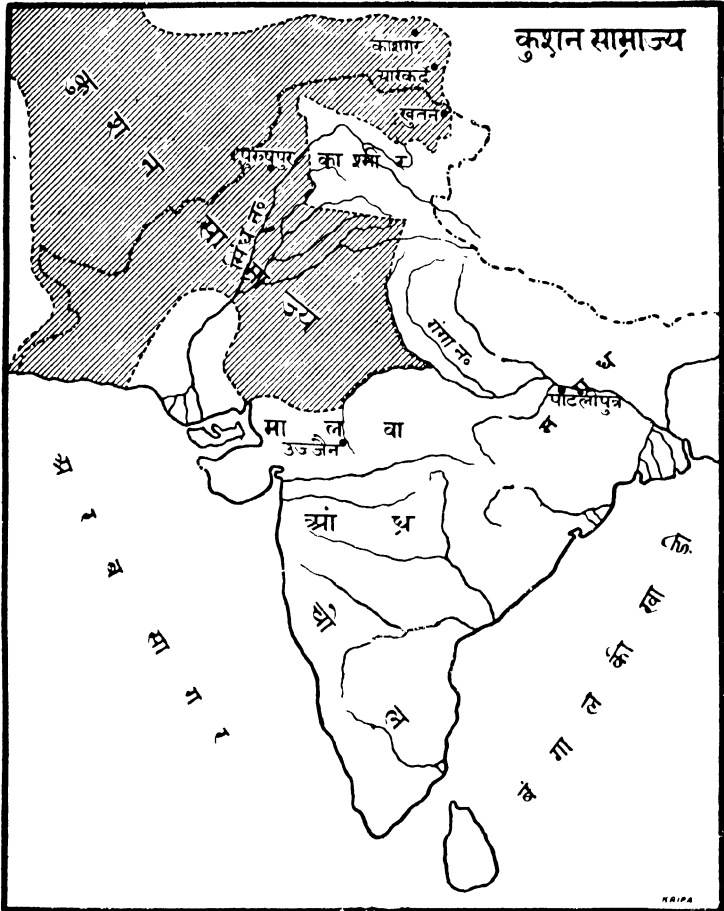
* प्रोफ़ेसर स्टेन कोनो का खयाल है कि चीनी सामग्री के निरीक्षण से और ग्रीक-रोमन लेखकों के ग्रंथों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि टहूचि जब बैक्ट्रिया में आए तो वह पहले ही से पाँच भागों—राज्यों—में विभाजित था। इनमें एक का शासक कुईशांग कुषाण था। फलतः कुषाणों और टहूचियों को एक ही मानना कठिन मालूम होता है। प्रोफ़ेसर स्टेन का कहना

इस प्रकार कुषाण एक संयुक्त साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हुए। हिन्दूकुश के दक्षिण का प्रदेश उन्होंने जीत लिया और अपने प्रथम शासक कुजूल कदफिस के नेतृत्व में पह्लवों के हाथ से आर्कोशिया और काबुल की घाटी को छीन लिया। ऐतिहासकों के मतानुसार कुजूल कदफिस को गोंडोफर्निस का समकालीन--या उससे कुछ बाद का—माना जाता है। कुछ सिक्कों पर उसका और हर्मिअस का नाम संयुक्त रूप से मिलता है। हर्मिअस ने सम्भवतः पह्लवों के विरुद्ध आक्रमण करने में उसे मदद दी थी और आगे चलकर कुजूल कद्फिस ने गोंडोफर्निस के राज्य पर अपना उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया था। तक्षशिला की खोदाई में इसका प्रमाण मिलता है—जहाँ पर, ईसा बाद ४४ पू० तक, पार्थियन शासन स्थापित था। हर्मिअस के बाद कदफिस ने तक्षशिला का स्वामित्व प्राप्त किया और ई० पू० ५२ तक सम्राट् के पद तक पहुँच गया। वह अपने को शहनशाह लिखता था। चीनी प्रमाणों के अनुसार उसकी मृत्यु ईसा बाद ७९ में हुई और उसके बाद उसके उत्तराधिकारी विमा कद्फिस ने कुषाण-साम्राज्य के विस्तार में

है कि सम्भवतः यह सिद्ध करना अधिक आसान होगा कि कुषाण शक थे और ईरानी भाषा बोलते थे। लेकिन चीनी ग्रंथों से इसकी कोई पुष्टि नहीं होती कि वे शक थे। न इस बात का पता चलता है जिन पाँच विभाजनों में से एक में वे बसे थे वह तथा शेष अन्य चार जिन्हें उन्होंने जीता था, पहले कभी, शकों के अधीन थे। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए "चीनी ग्रंथों की सामग्री से हम जो अनुमान लगा सकते हैं वह यह है कि शक—वे शक जो संस्कृत से उद्भूत हुए—ईसा पूर्व दूसरी शती में उत्तर-पश्चिमी सीमा के ज़िलों में प्रकट हुए थे। बैक्ट्रिया और तोचरा (ताहिया) प्रदेश के स्वामी के रूप में हम उनका परिचय पाते हैं। लेकिन बाद में टहूचि लोगों ने ताहिया पर अपना अधिकार कायम किया और शकों को अपने अधीन कर लिया। समय बीतने पर शकों ने फिर सिर उठाया और कुईशांग या कुशन शकों के एक सरदार ने अन्य शक राजाओं को अपदस्थ कर बैक्ट्रिया और बादाकशान पर अपना शासन स्थापित कर लिया। इस प्रकार प्राचीन शकों और कुषाण दोनों ने भारत के इतिहास में प्रमुख भाग लिया।" (नोट्स ऑन इंडोसाइथियन क्रानोलाजी, जे० आई० एच० अंक १२, पृष्ठ ५१५)

और भी सफलता प्राप्त की। काबुल की घाटी से आगे बढ़ कर पंजाब तक उसकी सीमाएँ पहुँच गईं।

विमा कद्फिस

कुजूल कद्फिस के पुत्र और उत्तराधिकारी विमा कद्फिस ने बहुत बड़ी शक्ति और साम्राज्य का उपयोग किया। ऐसा मालूम होता है कि उसने सिंध की घाटी पर भी—जो उन दिनों पार्थियनों के अधिकार में थी—विजय प्राप्त कर ली थी। यह विजय ईसा बाद पहली शती के दूसरे अर्द्धांश में हुई थी। सिंध की घाटी तथा अन्य नये विजित प्रदेशों का शासन करने के लिए उसने एक जेनरल को नियुक्त कर दिया था। उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों—तक्षशिला और काबुल जो उसे अपने पिता से प्राप्त हुए थे—का शासन-भार उसने अन्य जेनरलों को सौंप दिया था। अपना प्रमुख शासन केन्द्र अपने प्राचीन नगर बादाकशान में रखा था। बादाकशान शकों की स्थायी राजधानी बन गया था। विमा कद्फिस ने भी उसे अपनाया। चीनी तुर्किस्तान पर उसका काफी प्रभाव था। एक विद्वान् का तो यहाँ तक कहना है कि शक-संवत् की नींव, जो ईसा बाद ७८ से शुरू होता है, उसी ने डाली थी।*

---

* विक्रम संवत् (ई० पू० ५८) के कुछ पहले सिंध की घाटी के शकों ने सैराष्ट्र और मालवा पर विजय प्राप्त कर ली। विक्रम संवत् उज्जयिनी से शकों के निकाले जाने तथा मालवा के उनके शासन से मुक्त होने का स्मारक है। "१३५ वर्षों के बाद एक नये शक (विमा कद्फिस—कुषाणों को शक माना जाता है) का आगमन हुआ और उसने शक-राज्य की फिर से स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।" (खरोष्ठी शिला-लेख, भाग दो, खंड एक की ऐतिहासिक भूमिका में प्रोफेसर स्टेन ने यह मत प्रकट किया है।)

जैन सामग्री के अनुसार शकों ने मालवा पर अपना शासन स्थापित कर लिया था, लेकिन विक्रमादित्य ने उन्हें परास्त कर एक नये संवत् की नींव डाली। इसके बाद एक दूसरे शक-शासक ने विक्रमादित्य को परास्त कर अपने संवत् की नींव डाली। यह नया संवत् विक्रम सम्वत् के १३५ वर्ष बाद शुरू हुआ था।

विमा कदफिस की शासन-व्यवस्था

सौराष्ट्र और मालवा में सम्भवतः उसने वाइसरायों की नियुक्ति की थी जो पश्चिमी क्षत्रप कहलाते थे। इन क्षत्रपों के कागज़-पत्रों में हम सबसे पहले और नियमित रूप से शक-संवत् का प्रयोग पाते हैं। क्षत्रपों का संक्षिप्त विवरण हम पिछले खंड में दे चुके हैं।

डाक्टर स्टेन का मत है कि ईसा बाद ७८ में जो ऐतिहासिक शक-काल शुरू हुआ था, उसकी स्थापना एक शक-शासक ने, फिर से मालवा पर विजय प्राप्त करके, की थी। नये संवत् की स्थापना और इस पुनर्विजय का काल दोनों एक-दूसरे से मिलते हैं—दोनों घटनाएँ एक साथ ही हुई थीं। एक भारतीय शासक द्वारा शकों पर विजय की स्मृति स्थापित संवत् के जो कल्पनाप्रिय वर्णन मिलते हैं, उनके मुकाबले में यह विवरण कहीं अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

दक्षिणी अनुश्रुति के अनुसार इस काल का प्रारम्भ एक शक राजा के अभिषेक से होता है। अतः ऐतिहासिक शक संवत् का प्रारम्भ विमा कदफिस ने, ईसा बाद ७८ में, किया था। यह संवत् शक-काल या नृपति-काल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उत्तर भारतीय परम्परा के अनुसार शक-काल एक भारतीय-शासक द्वारा शक-शासन के अन्त का स्मारक है। श्री जायसवाल ने इन दोनों परम्पराओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि इस काल का प्रारम्भ कनिष्क ने किया था। इसी काल में कुन्तल शातकर्णि ने पश्चिमी क्षत्रपों पर निश्चित विजय प्राप्त की थी। इसीलिए सम्भवतः इस काल के साथ शालिवाहन का नाम सम्बद्ध हो गया है। (जे० आई० एच, भाग १२, पृष्ठ ३५, नोट ७१)

सर जान मार्शल के अनुसार— तक्षशिला की खोदाई की स्तर-सम्बन्धी विशेषताओं पर जिन्होंने अपने मत को निर्धारित किया है—कनिष्क का शासन-काल विमा कदफिस के बाद आता है और यह भी सम्भव है कि इन दोनों के बीच कुछ अन्तर रहा हो। इसलिए उसके शिला-लेखों के काल का सम्बंध विक्रम संवत् से स्थापित करना ठीक नहीं होगा, न उसे शक-संवत् का संस्थापक माना जा सकता है, क्योंकि विमा कदफिस इसके बहुत बाद तक शासन करता रहा। अतः कनिष्क के नाम के साथ सम्बद्ध काल बाद में शुरू हुआ होगा।

आठवाँ परिच्छेद

विमा कद्फिस की मृत्यु के बाद कुषाण-शक्ति का ह्रास शुरू हो गया था। अधिकारी विद्वान् सर जान मार्शल का कहना है कि उसके और कनिष्क-काल के बीच अवकाश दिखाई देता है। कनिष्क सम्भवतः कुषाण जाति की एक स्वतंत्र शाखा से सम्बन्ध रखता था। यह शाखा खोतान में निवास करती थी और ई० सं० १२५ के अनन्तर उसका अभ्युत्थान शुरू हुआ था। यह भी सम्भव है कि अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए भारतीय कुषाणों ने कनिष्क के अधीन खोतान निवासी अपने जाति-भाइयों से मदद माँगी हो। परिणाम स्वरूप कुशन शक्ति बड़े पैमाने पर सुसंगठित तथा दृढ़ हो गई और एक ऐसे नये संवत् का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रयोग सम्भवतः तुर्किस्तान और भारत दोनों जगह होता था। भारत में यह कनिष्क संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। इस काल के ब्राह्मी तथा खरोष्ठी भाषा में खोदे हुए अनेक अभि-लेख मिलते हैं। इनमें से कई कनिष्क के हैं और शेष उसके उत्तराधिकारियों—षसिष्क, कनिष्क द्वितीय, हुविष्क, और वासुदेव से सम्बन्ध रखते हैं।*

· चीनी प्रमाणों और स्रोतों से भी इस मत की पुष्टि होती है। डाक्टर स्टेन ने कनिष्क का काल ईसा बाद १२८–९ माना है, जब शक-राज्य की पुनर्स्थापना के लिए इंडो-साइथियन शक्तियों में गठ बंधन हो गया था।

* रैपसन के मतानुसार कद्फिस द्वय के बाद, ई० बा० ७८ में, कनिष्क का शासन शुरू हुआ था। कनिष्क ने अपने एक नये संवत् का श्री गणेश किया था जिसका कुछ समय तक प्रयोग होता रहा। इस संवत् का प्रयोग पश्चिमी भारत और मालवा के क्षत्रप करते थे। चूँकि पश्चिमी भारत के शक राजा दीर्घ काल तक इसी संवत् का प्रयोग करते रहे, इसलिए भारत में यह शक-संवत् के रूप में इस हद तक प्रसिद्ध हो गया कि उसका मूल रूप और नाम विस्मृत हो गया।

कनिष्क काल की तिथि के सम्बन्ध में काफी विवाद होता रहा है। लेकिन अब यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि वह कद्फिस द्वय के बाद हुआ था। कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के अनेक अभि-लेख मिले हैं जिन पर ४ से ९९ तक की तिथि अंकित हैं। कनिंघम के मतानुसार यह तिथियाँ विक्रम संवत् की हैं। वी० ए० स्मिथ ने पहले इन तिथियों का सम्बन्ध लौकिक संवत् से बताया था जो काश्मीर में प्रचलित था। प्रोफेसर ओल्डन वर्ग

भारत, काश्मीर और तुर्किस्तान में कनिष्क ने विस्तृत विजय प्राप्त की थी। उसने कुषान शक्तियों को संगठित करने और भारत में साम्राज्य स्थापित करने की भावना को फिर से जीवन-दान देने में सफलता प्राप्त की थी। अपने शासन काल के प्रारम्भ में, जैसा उसके शासन के तीसरे वर्ष के अभि-लेखों से प्रत्यक्ष है, उसने पूर्वी भारत के लिए महत्वपूर्ण विजय-यात्रा की थी। इस विजय-यात्रा (आक्रमण) का उल्लेख सारनाथ के अभि-लेखों में मिलता है। मथुरा में भी कुछ अभि-लेख मिले हैं जिनमें उसका तथा उसके उत्तराधिकारियों का वर्णन है। उसके शासन में पेशावर कुषाणों की राजधानी था। कनिष्क के जो भारतीय अभिलेख मिलते हैं, वे कनिष्क-संवत् के २३ वें वर्ष तक के हैं। २४ वें वर्ष के अभि-लेख में उसके उत्तराधिकारी वसिष्क का उल्लेख है। इससे अनुमान होता है कि इस बीच कनिष्क की मृत्यु हो गई होगी—इस संवत् के शुरू होने के तेईस वर्ष बाद।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के विकास का मार्ग कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने खोल दिया था। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष के साथ कनिष्क का नाम सम्बद्ध है। पूर्वी भारत की विजय के दौरान में कनिष्क का अश्वघोष के साथ सम्पर्क हुआ था और एक चीनी ग्रंथ के अनुसार पाटलिपुत्र के राजा

ने कनिष्क द्वारा संस्थापित शक काल से उनका सम्बन्ध स्थापित किया। अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आव इंडिया' (चतुर्थ संस्करण) में डाक्टर स्मिथ ने लिखा है कि कदफिस द्वितीय ने—जिसने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की थी—७८ से ११० ई० बा० तक शासन किया। कनिष्क सम्भवत: ई० बाद १२० में गद्दी पर बैठा। अत: यह सम्भव है कि कुषाण-संवत् शक-संवत् से भिन्न रहा हो और उसका प्रारम्भ बाद में हुआ हो। इस धारणा पर कि कनिष्क ईसा बाद दूसरी शती के मध्य में हुआ था, अनेक आपत्तियाँ हैं। अत: इसे नहीं माना जा सकता, न यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसने ईसा पूर्व प्रथम शती में या इसके बहुत बाद ईसा बाद तीसरी शती में राज्य किया था। इस तरह की धारणाओं में कोई तथ्य नहीं है।

ने पराजित होने पर भेंट के रूप में अश्वघोष को समर्पित कर दिया था। पार्थियन राजा ने कनिष्क पर आक्रमण किया था, लेकिन खूनी संघर्ष के बाद उसे परास्त होना पड़ा। इसके बाद अश्वघोष ने कनिष्क को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था।

बौद्ध समिति

हुएन्त्सांग ने कनिष्क का गांधार के राजा के रूप में उल्लेख किया है। ऐसा करने का कारण सम्भवतः यह है कि उसने दीर्घ काल तक पेशावर में निवास किया था। कनिष्क ने काश्मीर में बौद्ध संघों की एक समिति का आयोजन किया था। इस सभा में विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के मतभेदों का निवारण किया गया, बौद्ध धर्म-सूत्रों की त्रुटियों को दूर करने के उपाय सोचे गए और धर्म-ग्रंथों के संकलन तथा उनपर टीका व भाष्य लिखने की व्यवस्था की गई। महासभा में प्रस्तुत टीकाओं को अश्वघोष ने क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया और एक दूसरे विद्वान् वसुमित्र ने महाविभाष की रचना की जो आज भी चीनी-भाषा में वर्तमान है। इस ग्रंथ में बौद्ध दर्शन सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान उपलब्ध है।

यह महासभा जालंधर अथवा काश्मीर के कुण्डलवन के निकट हुई थी। संस्कृत भाषा का इस महासभा में प्रयोग किया गया था। संस्कृत भाषा के इस प्राधान्य और उसके प्रयोग की इस व्यापकता—जो अभि-लेखों से प्रत्यक्ष है—ने प्राचीन ह्यूची साम्राज्य की खरोष्ठी लिपि का लोप कर दिया था। इस महासभा ने बौद्धों के पुराने सम्प्रदायों और दलों के मतभेदों का तो निवारण कर दिया, लेकिन महायान सम्प्रदाय के उत्थान को न रोक सकी। महायान सम्प्रदाय का अस्तित्व, इस महासभा के समय में निर्जीव अवस्था में मौजूद था।

कनिष्क का बौद्ध-धर्म

कनिष्क के सिक्कों से पता चलता है कि वह बौद्ध था; लेकिन साथ ही वह ईरानी तथा यूनानी देवताओं पर श्रद्धा रखता था। बौद्ध धर्म के प्रति उसकी भक्ति की जो कथाएँ प्रचलित हैं, उन्हें

कुछ सतर्कता के साथ ग्रहण करना ठीक होगा। अपने शासन के परवर्ती काल में कनिष्क ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उसका सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय से था जिसमें बुद्ध अन्य देवी-देवताओं के समूह से घिरे हुए तथा खुद भगवान् के सिंहासन पर आसीन प्रकट होते हैं। भगवान् बुद्ध, अपने इस रूप में, श्रद्धालु उपासकों की प्रार्थनाओं को ग्रहण करते हैं, बोधिसत्वों तथा अन्य देवों से घिरे रहते हैं जो उनके और पापरत प्राणियों के बीच मध्यस्थ का काम करते हैं।

महायान सम्प्रदाय

महायान सम्प्रदाय का संस्थापन कनिष्क ने नहीं किया था। उसने उसे प्रोत्साहन दिया था। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ, जैसा पिछले परिच्छेद में बता चुके हैं, बहुत पहले हो गया था। इस सम्प्रदाय में बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों की नियमित रूप से पूजा की जाती थी। भक्ति द्वारा मुक्ति के एक विशेष सिद्धान्त को इस सम्प्रदाय ने अपना लिया था, पूजा-विधियों और अनुष्ठानों का विस्तृत आयोजन किया गया था और लोग बँधे-बँधाए धार्मिक नुसखों और मंत्रों में विश्वास करने लगे थे।

महायानों ने अपने धर्म-सूत्रों की रचना की थी। बोधिसत्वों की वे पूजा करते थे। ये बोधिसत्व असाधारण पुरुष होते थे और इनका स्थान बुद्ध से कुछ नीचे तथा अन्य हिन्दू देवताओं से भिन्न होते हुए भी उनके समान ही था। महायान का अर्थ है मुक्ति पथ की ओर ले जाने वाला महान यान। यह नाम हीनयान के मुकाबले में रखा गया था। हीनयान उन बौद्धों के लिए प्रयुक्त होता था जो अनुदार और पुरातन पंथी थे। इस उपाधि को पुरातन पंथी बौद्ध स्वीकार करने के लिए आसानी से तैयार नहीं होते थे, वरन् वे इसका विरोध करते थे। अपने को हीन श्रेणी में रखना उन्हें अच्छा नहीं लगता था।*

---

* इन दोनों में महायान संप्रदाय अधिक प्रसिद्ध हुआ। यह सम्प्रदाय जनता को प्रिय लगने वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा आविष्कार करता था। "पुरातन बौद्ध धर्म की अपेक्षा यह कम संघोन्मुखी और अधिक भावना-प्रदान

आठवाँ परिच्छेद

नागार्जुन

महायान सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय नागार्जुन को प्राप्त है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह

था। दान और सहायता के लिए इसमें अधिक स्थान था, इसमें भक्ति का रूप सामूहिक न होकर व्यक्तिगत अधिक था; कला साहित्य और अनुष्ठान तथा पूजा-पद्धति से यह अधिक सम्मिलित था और विकास तथा उन्नति के लिए इसमें अधिक जगह थी। हीनयान सम्प्रदाय इसके मुकाबले में अनुदार, कठोर, अपने ही दायरे में सीमित था—यहाँ तक कि इसके विरुद्ध स्वार्थपरता का गलत किन्तु कारगर आरोप लगाया जाता था। ये दोनों सम्प्रदाय, महायान और हीनयान, क्रमशः उत्तरी बौद्ध धर्म और दक्षिणी बौद्ध धर्म कहलाते हैं। आज की स्थिति के अनुसार ही यह विभाजन किया गया है—महायान बौद्ध आज उत्तरी प्रदेश में बसते हैं, और हीनयान दक्षिणी प्रदेश में। लेकिन वस्तुतः महायान जावा तक पहुँच गया और हीनयान मध्य एशिया और जावा में प्रसार पा चुका है। इन दोनों को संस्कृत और पाली बौद्ध धर्म भी कहा जाता है। महायान की गति-विधि का स्पष्ट तथा उत्कृष्ट वर्णन मिलता है, लेकिन इसके प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आम धारणा के अनुसार कनिष्क, अश्वघोष और नागार्जुन को इसे प्रारम्भिक रूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है। अपने विकसित रूप में इस धर्म में सात स्पष्ट विचार धाराएँ या व्यवहार-पद्धतियाँ पाई जाती हैं—(१) बोधिसत्वों और जन साधारण के बोधिसत्व तक पहुँच सकने की शक्ति में विश्वास (२) सम्पूर्ण विश्व का हित-साधन करने वाली आदर्श-नीति (३) भौतिक दर्शन की एक ऐसी आदर्श प्रणाली जो निर्वाण को वही स्थान प्रदान करती है जो ब्राह्मण 'ब्रह्म' को देते हैं (५) धार्मिक सूत्रों का संस्कृत में प्रणयन जो पाली सूत्रों के बाद हुआ (६) मूर्तियों की नियमित पूजा तथा विस्तृत अनुष्ठान-पद्धति, जो प्रमुख रूप से मंत्रों की शक्ति पर निर्भर करती प्रतीत होती है (७) भक्ति द्वारा मुक्ति का विश्वास [देखिए चार्ल्स इलियट लिखित 'हिन्दुइज़्म और बुद्धिज़्म, भाग दो, परिच्छेद १६; कर्न की 'मैनुअल आव इन्डियन बुद्धिज़्म' परिच्छेद ५, खण्ड ७ भी देखिए; इस सम्बन्ध में आई सिंग लिखित और जे० तकाकुसू द्वारा अनुवादित 'ए रिकार्ड आव दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज़ प्रैक्टिस्ड इन इन्डिया एन्ड मलाया आर्कीपैलेगो, ए० डी० ६७१-६९५, पृष्ठ १४ भी देखने योग्य है।]

महान् लेखक कनिष्क का समकालीन था। कनिष्क की बौद्ध महासभा के समय में उसका जन्म हुआ और महायान मत के सबसे बड़े प्रवर्तक के रूप में वह प्रसिद्ध हुआ। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग के शब्दों में वह विश्व के चार प्रकाशों में से था। तुर्की राजा के बाद ही उसका काल माना जाता है—अर्थात् दूसरी शती के मध्य अथवा उत्तरार्द्ध में वह हुआ था। कनिष्क के साम्राज्य का चीनी साम्राज्य से उत्तर-पूर्व में और ईरानी तथा रोमन साम्राज्य से पश्चिम में सम्पर्क स्थापित था। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप पूर्ण रूप से विकसित बौद्ध धर्म का नवजात ईसाई-धर्म से, मिश्र और एशिया की शिक्षण-संस्थाओं तथा व्यापार-क्षेत्रों में सम्पर्क स्थापित हुआ। कुछ विद्वानों की धारणा है कि ईसाई और ईरान के विदेशी धर्मों के सम्पर्कों के फलस्वरूप महायान मत विकसित हुआ था।

गांधार-शैली की मूर्तिकला

इस धर्म से प्रेरित होकर कला के क्षेत्र में जो उन्नति हुई, उस पर विदेशी प्रभाव दिखाई देता है। कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों की जो बौद्ध मूर्तियाँ मिली हैं, वे अधिकांशतः गांधार के जिलों में पाई गई हैं और वे तथाकथित गांधार-शैली से सम्बन्ध रखती हैं। डॉक्टर वी० ए० स्मिथ ने इस शैली का अधिक उपयुक्त नाम—ग्रीक-बुद्ध-शैली—दिया है क्योंकि इसमें "ग्रीक कला का माडल ग्रहण करके बौद्ध विषयों को प्रस्तुत किया गया है।" इनमें से कई उत्कृष्ट और सफल कलाकृतियों का स्थान रखती हैं। ग्रीक प्रभाव का ही परिणाम है कि बुद्ध और अपोलो की मूर्तियों में साम्य पाया जाता है और यक्षकुबेर की मुद्रा में फीडियन ध्युस का अनुकरण प्रतीत होता है। इसी प्रकार से अन्य मूर्तियों में भी साम्य दिखाई पड़ता है। उनके वस्त्राभरणों में भी यूनानी शैली का अनुसरण किया गया है।*

ग्रीक-रोमन-कला के आदर्श, जो पश्चिमी एशिया में प्रचलित थे, फारस और खोतान (कनिष्क-साम्राज्य) के मार्ग से भारत के सीमावर्ती प्रदेश और चीन में प्रचारित हो गए। गांधार और

---

* कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इन्डिया, पृष्ठ १८६।

मथुरा के आस-पास शिल्प-कला सबसे अधिक गतिशील थी और इन प्रदेशों के भारतीय शिल्पकार, दीर्घ-काल तक, गांधार-शैली से प्रभावित तथा अनुप्राणित होते रहे। लेकिन जैसे-जैसे इस कला का विकास होता गया, इसमें भारतीयता का पुट अधिक आता गया। इन शिल्पकारों ने अपनी मूर्तियों के द्वारा सबसे पहले बुद्ध को मानव के रूप में प्रस्तुत किया और उनके जीवन तथा जातक कथाओं को मूर्ति-बद्ध करने में सफलता प्राप्त की।

कनिष्क—एक महान् निर्माता के रूप में

अशोक की तरह कनिष्क भी एक महान् निर्माता था। उसके द्वारा निर्मित एक महान् नगर के अवशेष मिले हैं। यह नगर कनिष्क ने तक्षशिला के निकट बनाया था। अपनी राजधानी पेशावर में उसने काष्ठ का एक बहुत बड़ा बुर्ज, बुद्ध के किसी स्मृति-चिन्ह की समाधि पर, बनवाया था। कनिष्पुर (कनिष्कपुर) जो काश्मीर में आज भी एक गाँव के रूप में वर्तमान है, उसका ही बनवाया हुआ माना जाता है। ४५ वर्ष तक कनिष्क ने राज्य किया और उसके सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं पर विश्वास किया जाए तो उसकी मृत्यु हिंसा-द्वारा हुई थी। उसका दरबार उपर्युक्त बौद्ध विद्वानों और उपदेशकों से सुशोभित था। सुप्रसिद्ध चिकित्सक चरक उसके दरबार का एक रत्न था। मथुरा के निकट इस महान् राजा की एक सिर-विहीन खण्डित मूर्ति, कुछ दिन पहले, पाई गई है।

वसिष्क

वसिष्क कनिष्क का उत्तराधिकारी और सम्भवतः उसका पुत्र था। उसके शासन के २८ वर्षों तक के अभि-लेख मिलते हैं और सम्भवतः इसके बाद उसकी मृत्यु हो गई। हुविष्क सम्भवतः वसिष्क का भाई था। साम्राज्य के भारतीय प्रान्तों का वह वाइसराय था। उसे हम काश्मीर का वास्तविक विजेता मान सकते हैं। काश्मीर में उसने हुष्कपुर नाम से एक नगर बसाया था। ४० से पूर्व के उसके प्रारम्भिक अभि-लेखों में उसे देवपुत्र के रूप में सम्बोधित किया गया है। राजाधिराज उपाधि का उल्लेख उसके नाम के साथ नहीं मिलता।

लेकिन ४० वें वर्ष के बाद हम उसका शासक के रूप में स्वतंत्र उल्लेख पाते हैं और उसके नाम के सिक्के भी हमें मिलते हैं।*

हुविष्क और वासुदेव

हुविष्क का परिचय हमें उसके कितने ही अभि-लेखों और बहु-संख्या में प्राप्त उसके सिक्कों से मिलता है। अपने पिता और भाई के शासन-काल में वह भारतीय प्रान्तों का वाइसराय था। पचास वर्ष से अधिक तक उसने अपने शासन का उपभोग किया। अपने पिता की तरह वह भी बौद्ध धर्म का संरक्षक था और यूनानी, ईरानी तथा भारतीय—सभी देवताओं को वह पसन्द करता था। उसके बाद दूसरे शासक वासुदेव का उल्लेख कनिष्क-संवत् के ६८ से ९९ वर्षों तक के अभि-लेखों में मिलता है। वह बौद्ध नहीं प्रतीत होता। उसके सिक्कों पर शिव और नन्दी की मूर्ति अंकित मिलती है। सम्भवतः उसके शासन-काल में सौराष्ट्र के क्षत्रप स्वतंत्र हो गए थे और इस प्रकार साम्राज्य से सिंध-पार के प्रान्त निकल गए थे।

कुशन-साम्राज्य का अन्त

वासुदेव के बाद कुषाण-शक्ति का ह्रास शुरू हो गया। अनेक भागों और स्वतंत्र राज्यों में बँट कर कुषाण-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चला। ये स्वतंत्र राज्य ईसा बाद चौथी शती के मध्य तक चलते रहे। अन्त में श्वेत हूणों ने काबुल में कुषाण-साम्राज्य की रही-सही शक्ति को समाप्त कर दिया।

वासुदेव के बाद, और स्वयं उसके शासन-काल में भी, संस्कृत भाषा और उसके साथ सम्बन्धित भारतीय संस्कृति ने धीरे-धीरे

* राजकीय उपाधि इस बीच सम्भवतः वसिष्क से कनिष्क द्वितीय के पास पहुँच गई थी। आड़ा के शिला-लेख में उसे महाराजा राजाधिराज देवपुत्र कैसर वाजेष्कपुत्र कनिष्क कहा गया है। जो भी हो, यह कनिष्क हुविष्क के राजकीय उपाधि धारण करने के बाद अधिक दिनों तक जीवित रह सका हो, इसकी सम्भावना नहीं है। काश्मीर परम्परा में तीन तुर्की राजाओं का उल्लेख मिलता है—हुष्क, जुष्क और कनिष्क। इन तीनों ने तीन नगर बसाये थे और अपनी धर्म-प्रियता के लिए प्रसिद्ध थे। ये सम्भवतः हुविष्क, वसिष्क और कनिष्क द्वितीय थे। (रायचौधरी, पृष्ठ ३१७)

इन्डो-साइथियनों के प्राचीन साम्राज्य में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया। एक मत के अनुसार नाग-जाति की विजयों के कारण ह्यूची जाति का भारत से लोप हो गया था और उत्तरी तथा मध्य भारत के अधिकांश भाग पर नागों का शासन—ईसा बाद तीसरी और चौथी शती में—स्थापित हो गया था। अनेक अभि-लेखों से नागों के इस शासन का प्रमाण मिलता है। जो भी हो, ईसा बाद दूसरी शती के अन्तिम तथा तीसरी शती के प्रारम्भिक वर्षों में तीन महान् राज वंशों का ह्रास तथा लोप हुआ—पार्थियन, कुषाण और आंध्र। इन तीनों का ह्रास प्रायः साथ ही हुआ था।

[४]

सामाजिक अवस्था और विदेशी प्रभाव

हम कह चुके हैं कि भारत और पूर्वी मध्य सागर के प्रदेशों के बीच बहुत प्राचीन काल से व्यापार होता था। दारा, सिकन्दर महान् और सीरिया के अन्तियोक महान् के आक्रमणों ने भारत और पश्चिम के सम्पर्क-मार्ग को और भी प्रशस्त तथा दृढ़ कर दिया। हम यह भी देख चुके हैं कि सिकन्दर की विजय और ईरानियों के सम्पर्क ने मौर्य-दरबार तथा शासन-प्रणाली को किस हद तक और किस प्रकार प्रभावित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्य-काल के राजनगर तथा स्तम्भ ईरान की देन हैं। डा० वी० ए० स्मिथ के कथनानुसार अशोक काल का नक्काशी का काम मूलतः सिकन्दर के देश की देन है।

मिश्र और भारत

सिकन्दर के आक्रमण के तुरंत बाद की शतियों में भारत का मिश्र के साथ व्यापार बहुत बढ़ गया था। सिकन्दरिया का महान् नगर जो तालेमी के शासन-काल में उसकी राजधानी था, मध्य सागरीय दुनिया में यूनानी संस्कृति का केन्द्र बन गया था। पूर्व और पश्चिम के व्यापार का यह बहुत बड़ा स्थल था और सभी जातियों तथा राष्ट्रों का यहाँ संगम होता था। भारतीय माल लाल सागर से होकर मिश्र के तट तक पहुँचता और वहाँ से, बीच में पड़ने वाले रेगिस्तानी प्रदेश को पार कर, नील की घाटी में से होकर, सिकन्दरिया पहुँचता था। तालेमी राजाओं के

जलूसों में भारतीय स्त्रियाँ, भारतीय शिकारी कुत्ते और गाय—अन्य विचित्र तथा कौतुकपूर्ण दृश्यों के बीच—दिखाई पड़ती थीं। लाल सागर और नील को जोड़ने के लिए एक नहर बनाने के भी कुछ प्रयत्न किए गए थे। ये प्रयत्न सफल हो जाते तो स्वेज नहर के निर्माण की आशा आज से बीस शती पूर्व पूर्ण हो जाती। लाल सागर में बेरेनाइक की प्राचीन बन्दरगाह के पास एक अभि-लेख है जिसमें सोफान नामक किसी भारतीय की यात्रा का उल्लेख है। इसी प्रकार, कुछ वर्ष पूर्व, बंगलोर में तोलेमी-काल का एक चाँदी का सिक्का मिला है।

यूनानी प्रभाव और भारत

पंजाब और काबुल की घाटी के इन्डो-यूनानी राजा बहुत ही सुन्दर तथा उत्कृष्ट सिक्के चालू किए थे। इन्हीं सिक्कों की नकल पश्चिमी प्रदेश के महान् क्षत्रपों, कुषाण और गुप्त-सम्राटों ने की। यूनानी सिक्के द्रख्म ने देशज बोलियों में घर कर लिया था। इसी से प्राकृत भाषा का 'द्रम्म' और आधुनिक हिन्दुस्तानी का दाम बना है। इन्डो-यूनानी पार्थियन और शक दरबारों में विकृत रूप में यूनानी भाषा ही बोली जाती थी। इन्डो-पार्थियन शासक यूनानी भाषा का प्रयोग इस लिए भी करते थे कि वह पार्थिया की राजभाषा थी।

कतिपय दृष्टियों से विदेशी तेजी के साथ देशी जनता और धर्म के साथ घुल-मिल गए। हम देख ही चुके हैं कि हेलियो-दोरस अपने को भागवत धर्म का अनुयायी कहता था। इसी प्रकार मिनान्दर बौद्ध बन गया था और शक क्षत्रपों ने तेजी के साथ हिन्दू धर्म के रंग में अपने को रंग लिया था। कितने ही विदेशियों ने हिन्दू नाम भी ग्रहण कर लिए थे। ये लोग—इन्डो-ग्रीक—भारतीय जीवन और व्यवस्था पर अपना कोई स्थायी चिन्ह छोड़ने में समर्थ न हो सके, सिर्फ सिक्कों और आलंकारिक कला के क्षेत्र को छोड़ कर उनका अपना कोई अलग—देश की जनता और धर्म से अलग—अस्तित्व नहीं रहा था। यहाँ के वातावरण में रम कर वे यहीं के हो गए।

आठवाँ परिच्छेद

व्यापारिक आदान-प्रदान

शक, पह्लव और कुषाणों के काल में भारत और पश्चिम के बीच भारी मात्रा में व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। इस आदान-प्रदान को ईसा पूर्व ३०० में मिश्र पर रोमनों की विजय ने और भी बढ़ावा दिया, क्योंकि इस विजय के फलस्वरूप लाल और भारतीय सागर लुटेरों के उत्पात से मुक्त हो गए थे। यूनानी नाविक हिप्पालस (ईसा बाद ४५) के इस आविष्कार ने, कि भारतीय सागर पर से मानसून की हवाएँ नियमित रूप से बहती हैं, यह रहस्य खोल दिया कि समुद्री यात्रा कब और किस समय करनी चाहिए। जहाज अब मानसून से पहले चल कर, भारत के पश्चिमी तट पर, आसानी और शीघ्रता के साथ पहुँचने लगे। वापसी की यात्रा भी इतनी ही सुगमता के साथ होने लगी।

ईसा बाद पहली और दूसरी शती में शक्तिशाली कुषाण साम्राज्य की सीमाएँ ईरानी और चीनी साम्राज्य का स्पर्श करती थीं। फलतः स्थल-मार्ग से भी—उत्तर-पश्चिमी भारत और मध्य सागर के प्रदेशों के बीच—व्यापार सुगम हो गया। उस काल में रोमन साम्राज्य का विस्तार आगे बढ़कर एशिया माइनर तक चला आया था और उसकी पूर्वी सीमा कुषाण साम्राज्य से ६०० मील दूर रह गई थी। परिणामतः सम्पर्क बढ़ा और एक से अधिक कुषाण राजदूत रोमन साम्राज्य में गए। एक राजदूत का, जो ट्राजन के समय में रोमन पहुँचा था, वहाँ बहुत आदर-सत्कार हुआ। मोती, रेशम और मसालों के रोमन सदा से प्रेमी थे। फलतः उन्होंने इन तथा अन्य पूर्वी अय्याशी की चीज़ों को मँगाना शुरू किया और काफी मात्रा में इन चीज़ों की वहाँ खपत होने लगी। बदले में भारत रोम का स्वर्ण लेता था। यह स्वर्ण विशेष कर दक्षिणी भारत में आता था क्योंकि मोती, नील-मणि और मसालों का केन्द्र यहीं था। इस प्रकार दक्षिणी भारत और मध्य सागर के बीच बहुमूल्य व्यापार होता था। इस व्यापारिक आदान-प्रदान के बारे में हम आगे चल कर, प्रसंगानुसार, बताएँगे।

कुषाण और शक सम्राटों ने रोमन सिक्कों की नकल पर ही अपने सिक्के बनाए थे। कभी-कभी रोमन सिक्कों पर वे अपनी छाप डाल देते थे। सिक्कों और व्यापार के इस आदान-प्रदान

पर—जो बहुधा समुद्री मार्ग से होता था—ग्रीक और रोमन लेखकों ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रंथों में भारतीय भूगोल और व्यापार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। एक एशियाई यूनानी लेखक स्ट्राबो ने, जो आगस्टस के शासन-काल (ईसा पूर्व २७—ईसा बाद १४) में हुआ था, भारत में साथ होने वाले व्यापार की भारी वृद्धि का अपने ग्रंथ में वर्णन किया है। प्लाइनी ने प्राकृतिक इतिहास सम्बन्धी अपने संदर्भ ग्रंथ में—जो ईसा बाद ७७ में सम्पूर्ण हुआ था—सिंहल का बहुमूल्य वर्णन किया है। भारत के भूगोल का विवरण भी इस ग्रंथ में मिलता है। इतना ही नहीं वरन् भारतीय पशुओं की नामावली, और विभिन्न स्रोतों से संकलित करके जड़ी-बूटियों के भी नाम इस ग्रंथ में दिए गए हैं। इसी काल में एक और ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ के लेखक ने अपने को अज्ञात रखा है। इस ग्रंथ का नाम है—पेरीप्लस मेरिस एरिथ्रिया। इस ग्रंथ में लेखक ने लाल सागर, अरेबिया और पश्चिमी भारत के समुद्र-तटों का आँखों-देखा वर्णन किया है। सब से अन्त में भूगोल विशारद तॉलेमी का नाम आता है। वह ईसा बाद १५० में हुआ था। उसने भी भारत के सम्बन्ध में, मानचित्र में विभिन्न स्थानों को बताते हुए, लिखा है। प्लाइनी जैसे पश्चिमी लेखकों ने इस बात का रोना रोया है कि रोम का स्वर्ण भारत में चला जा रहा है और उसके बदले में पूर्व से अनुत्पादक अय्याशी का सामान लिया जा रहा है।*

विदेशी कला के सिद्धान्त

कनिष्क यूनानी लिपि और पार्थियन उपाधि (विरुद)—शाओनानो शाहो बनेश्की कोशना—(कनिष्क जो कुशन राजाधिराज था) का प्रयोग करता था। हम देख चुके हैं कि कनिष्क ने एशिया माइनर से अपने महलों और पवित्र-स्थानों को अलंकृत

* विस्तृत विवरण के लिए इस पुस्तक में दक्षिण भारत के राज्य शीर्षक परिच्छेद देखिए। शाफ द्वारा अनुवादित पेरीप्लस और एच० जी० रालिन्सन कृत 'इन्टरकोर्स बिट्वीन इन्डिया एन्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, परिच्छेद ६,७ और ८ देखिए। वार्मिंगटन कृत कामर्स बिट्वीन इन्डिया एन्ड दि रोमन एम्पायर भी देखिए।

करने के लिए कलाकारों को बुलाया था। इन विदेशी कलाकारों तथा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय कलाकारों की कृतियों—विशेषकर प्रस्तर मूर्तियों का, जो गांधार के प्रदेश में पाई जाती हैं—बौद्ध कला पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इस प्रभाव के फलस्वरूप प्राचीन ज्ञानवादी ईसाई भारतीय दर्शन की ओर आकर्षित तथा उससे प्रभावित हुए थे। अलक्जैन्डिया में सावधानी के साथ विकसित ज्योतिष-विद्या का ज्ञान धीरे-धीरे भारत में फैल गया और कुछ हद तक यूनानी औषधि-विज्ञान से भारत ने अपने भण्डार को भरा। चरक तथा अन्य चिकित्सक यूनानी चिकित्सा-पद्धति के ऋणी हैं। ये तथा इसी तरह के अन्य विदेशी प्रभाव, जो प्रमुखतः बौद्धिक थे, आगे चल कर—विशेष कर गुप्त-शासकों के काल में—और प्रकट हुए। ईरानी प्रभाव के अतिरिक्त, जो मौर्य-काल में आया था, ग्रीक-रोमन प्रभाव ने भी भारत में, ईसा बाद प्रथम शती से, प्रवेश करना शुरू कर दिया। यह प्रभाव उस काल की मूर्ति-कला और सिक्कों में विशेष रूप से देखा जा सकता है।

इस काल को हम नयी जातियों के आगमन और पुरानी जातियों के साथ उनके मिश्रण का काल कह सकते हैं। इस काल की जनता मिश्रण के इसी दौर में से गुज़र रही थी। नयी जातियों के लोग, जो आक्रमणकारियों के साथ आए थे, देश में बस गए थे और यहाँ की जनता ने उन्हें अपने में शामिल कर लिया था। पुरानी शासक जातियों और वर्गों का स्थान नयी शक्तियों ने—अधिकतर हिन्दुत्व में पगे हुए विदेशियों ने—ले लिया था। पुराने साम्राज्य और उनकी सीमा-रेखाएँ विलुप्त हो गई थीं और उनकी जगह नये साम्राज्यों तथा नयी सीमाओं ने ले ली थी। हिन्दू-धर्म की शक्तियाँ संगठित होकर फिर से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रही थीं। उनके इन प्रयत्नों का फल अगले युग में दिखाई पड़ता है। लेकिन गाँवों का जीवन अपने उसी पुराने ढंग से चलता रहा और व्यापार की नयी सम्भावनाओं ने नये व्यापार-केन्द्रों और मंडियों के निर्माण में सहायता दी।

नवाँ परिच्छेद

२०० से ५०० ईसवी का उत्तरी भारत

गुप्त सम्राटों का काल

[१]

ईसा की तीसरी और चौथी शती में नाग तथा वाकाटक-शक्तियाँ

शाण और आंध्रों के अस्त से गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक का समय अंधकार का काल या युग कहलाता है क्योंकि इस काल की ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। हम इतना ही जानते हैं कि ईसा की तीसरी और चौथी शती में उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर नाग-जाति शासन करती थी। वाकाटक वंश के भी कुछ शासक इस काल में थे जिनमें प्रवरसेन, गुप्त-साम्राज्य की स्थापना से एक पीढ़ी पूर्व, छत्रधारी राजा के पद तक पहुँच गया था। सच तो यह है कि वाकाटकों की साम्राज्य-परम्परा पर ही गुप्तों ने अपनी इमारत खड़ी की थी।

विदिशा के नाग

पुराणों से पता चलता है कि शुंगों के बाद नाग शासक हुए। विदिशा से, शुंग-शासन-काल में जिसने काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी, वे राज करते थे। ईसा की पहली शती में वे मध्य भारत में नरावर के निकट पद्मावती में रहते थे। वहाँ पर उस काल का एक अभि-लेख मिला है जिसमें एक नाग शासक, राजा स्वामिन शिव नन्दी, का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुशाणों की बढ़ती हुई शक्ति से बाधित होकर नागों को मध्य भारत छोड़ना पड़ा और अपेक्षाकृत अधिक दुर्गम प्रदेशों में जाकर उन्होंने शरण ली।

नव नाग

अपने शासन के प्रारम्भिक काल में, इस प्रकार, नागों को कुशाणों के सामने दबना प.ा, लेकिन आगे चल कर—कुशाणों का

अस्त हो जाने पर—उन्होंने अपनी शक्ति को फिर से प्राप्त किया और ईसा की तीसरी शती में साम्राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। पुराणों में जिन नव नागों का उल्लेख मिलता है, वे ये ही थे। इनकी सात पीढ़ियाँ हुईं। इनका प्रथम महत्व-पूर्ण शासक वीरसेन था। मथुरा और दोआबा के प्रदेश में हिन्दू राज्य फिर से स्थापित करने में उसने सफलता प्राप्त की थी। कुशाण-काल के अन्त तक वह शासन करता रहा। श्री के० पी० जायसवाल के अनुसार उसका उत्थान "नागों के ही इतिहास में परिवर्तन का सूचक नहीं है, बल्कि आर्यावर्त के इतिहास में विशेष महत्व रखता है।" * उसका वंश भारशिवों का वह वंश है जिसमें भाव नाग नामक महान् राजा हुआ था। † इस राजा का वाकाटकों के अनेक अभि-लेखों में उल्लेख मिलता है। सिक्कों के अध्ययन से हमें वीरसेन के बाद चार अन्य राजाओं का पता चलता है। ये चारों राजा वीरसेन के बाद और भाव नाग से पहले हुए थे। भारशिव वंश के राजा छत्रधारी राजा के पद तक पहुँच गए थे, क्योंकि उनके अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है। राज्याभिषेक के अवसर पर उन्होंने कई बलि यज्ञ भी बनारस में किए थे। उनके साम्राज्य में आज का युक्त प्रान्त, मथुरा से चम्पा तक बिहार से मिला हुआ प्रदेश और गंगा से मध्य प्रान्त का सारा प्रदेश सम्मिलित था।

नाग शासकों के तीन प्रमुख वंशों का पता चलता है। इनमें भारशिव वंश राजाधीश का स्थान रखता था, और पद्मावती तथा

---

* हिस्ट्री आव इन्डिया १२० से ३५० ईसवी तक—नाग-वाकाटक इम्पीरियल पीरियड ; जे० बी० ओ० आर० एस, भाग २६ खण्ड १-२, पृष्ठ १६ इस सम्बन्ध में देखिए।

† "उसके तथा राजा भारशिव के सिक्कों में घनिष्ठ साम्य उसके नाम को सार्थक करने के लिए उन सिक्कों पर नाग का प्रतीक बनाना उसके उत्थान और मथुरा में उसके स्थापित होने का काल—ये सब वीरसेन को अभि-लेखों में वर्णित भारशिव नागों का सब से पहला राजा सिद्ध करते प्रतीत होते हैं। पुराणों में भारशिवों का उल्लेख नव नागों के रूप में मिलता है (पृष्ठ २४)

मथुरा में उसकी शाखाएँ शासन करती थीं। मालवा और राजपूताना में भी अनेक गणतंत्र स्थापित थे जो उसके अधीन थे। भारशिव शिव के उपासक थे और उनके सिक्के प्राचीन हिन्दू सिक्कों की तरह होते थे। अपने चारों ओर उन्होंने अनेक गणराज्य स्थापित कर रखे थे—जैसे मालवा और राजपूताना में। ये गण-राज्य उन जातियों के होते थे जो नागों से मेल खाती थीं। हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान, हिन्दू मन्दिरों के निर्माण और गंगा की पवित्रता तथा शिव की महानता को स्थापित करने में उन्होंने सफलता प्राप्त की थी। भाव नाग (३०० ई०) उनका अन्तिम राजा था जिसके पश्चात् वे वाकाटकों में विलीन हो गए।*

वाकाटक वंश बहुत शक्तिशाली था और ईसा की पहली शती के मध्य में उसकी नींव पड़ी थी। विंध्यशक्ति इस वंश का संस्थापक था। वह सम्भवतः ब्राह्मण था और उसने अपनी शक्ति किलकिल के प्रदेश में—जो बुन्देलखण्ड का एक जिला था—स्थापित की थी। इस वंश का नाम वाकाट नामक एक प्राचीन

---

* विदेशी शकों के दबाव के फलस्वरूप जिन नागों को मध्य प्रान्त में शरण लेनी पड़ी, उनके बारे में श्री के० पी० जायसवाल का कहना है कि वे दक्षिण पथ का विंध्य आर्यावर्त (बुन्देलखण्ड) से सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो सके थे और इस प्रकार बुन्देलखण्ड और नागपुर का प्रदेश, पूर्ण रूप से, आर्यावर्त का भाग बन गया था। जातीयता, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से वे सर्वथा उत्तर भारतीय थे। भारशिव संघ-राज्य की उपमा शिव के उसके गणों पर शासन से दी जाती है। इस संघ-राज्य ने कुशाणों के लोलुप साम्राज्यवाद का अन्त कर संरक्षणशील हिन्दू राज्य की स्थापना करके स्वतंत्र भावनाओं के पोषण तथा विकास में सहायता दी थी। उनका राज्य गणतंत्रीय और संघ-प्रणाली पर आधारित था। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने स्थापत्य कला को एक नया रूप दिया जो नागर-शैली कहलाती है। नागर शब्द सम्भवत: 'नाग' से ही बना है। नागरी लिपि—मूल रूप में यह नाम चौथी और पाँचवीं शती के प्रारम्भ में प्रचलित शिरोरेखावाली लिपि के लिए प्रयुक्त होता था—सम्भवत: नागों की ही देन है—" जिनके तत्वावधान में शिरोरेखा वाली यह लिपि उत्पन्न हुई और जिसके अस्तित्व का प्रमाण हमें पृथ्वी-सेन के काल से मिलता है। '

नगर के आधार पर पड़ा था। विंध्यशक्ति किलकिल के नागों के मातहत एक निम्न श्रेणी का अधिकारी था। अपनी इस निम्न स्थिति से ही वह ऊपर उठा और आंध्र तथा नैषध देश में विस्तृत विजय प्राप्त की।

प्रवरसेन और उसके उत्तराधिकारी

प्रवरसेन प्रथम विंध्यशक्ति का पुत्र था। उसने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये और सम्राट् की उपाधि धारण की। उसने दीर्घ काल तक शासन किया। उसके पुत्र की मृत्यु उससे पहले हो गई थी। उसके बाद उसका पौत्र, रुद्रसेन प्रथम, राज्य-सिंहासन पर बैठा। वह भारशिव वंश के राजा भाव नाग की एक कन्या से उत्पन्न हुआ था। रुद्रसेन के बाद उसका पुत्र पृथ्वीसेन गद्दी पर बैठा जो महान् गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त और चद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। दक्षिण-पश्चिम की दिशा में कुन्तल-विजय कर उसने दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। उसके समय तक इस वंश को शासन करते सौ वर्ष हो चुके थे।

गुप्तों का उत्थान

पृथ्वीसेन का उत्तराधिकारी उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय हुआ। रुद्रसेन ने चन्द्रगुप्त द्वितीय की एक कन्या प्रभावती गुप्त से विवाह किया और गुप्त-शक्ति का प्रभाव उस पर असंदिग्ध रूप से छा गया था। पृथ्वीसेन के साथ वाकाटकों की एक-छत्र राज्य की परम्परा का अन्त हो गया। परवर्ती वाकाटकों का काल रुद्रसेन द्वितीय से शुरू हुआ और सौ वर्ष से अधिक चलता रहा। लेकिन जहाँ तक वाकाटकों की शक्ति का सम्बन्ध है, वह निश्चित रूप से तिमिराछन्न हो चुकी थी—गुप्तों ने उसे छा लिया था।*

---

* गुप्तों के ज्ञात तिथि-क्रम तथा पुराणों और उत्कीर्ण लेखों के आधार पर श्री के० पी० जायसवाल ने वाकाटकों के शासन काल का निम्न विवरण दिया है :—

१.	विंध्य शक्ति	२४८—२८४	ई०
२.	प्रवरसेन प्रथम	२८४—३४४	,,
३.	रुद्रसेन प्रथम	३४४—३४८	,,

गुप्तों के आधिपत्य का अन्त हो जाने पर वाकाटकों के भाग्य ने सम्भवतः फिर चमकना शुरू किया और ईसा की पाँचवीं शती के अन्तिम वर्षों में, मध्य प्रान्त और पश्चिमी भारत में हूणों से लोहा लिया। उनके अन्तिम राजा—पृथ्वीसेन द्वितीय और हरिसेन, जो ५२० ईसवी से पूर्व हुए थे—योग्य शासक थे। उन्होंने अपनी शक्ति को फिर से दृढ़ किया और अपने साम्राज्य का पुनर्निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन ५२० ईसवी के बाद के उनके इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। सम्भवतः दक्षिण में चालुक्यों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने वे क्षीण हो गए थे।

वाकाटक साम्राज्य का संगठन

प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में वाकाटक साम्राज्य ने विस्तृत रूप धारण कर लिया था। अन्य कतिपय अधीन सामन्तों के साथ राजवंश के सदस्य भी विभिन्न प्रान्तों का शासन करते थे। इस प्रकार

४.	पृथ्वीसेन प्रथम	३४८—३७५	ई०
५.	रुद्रसेन द्वितीय	३७५—३९५	,,
६.	प्रभावती गुप्त (अपने पुत्र के रीजेन्ट के रूप में)	३९५—४१५	,,
७.	प्रवरसेन द्वितीय	४१५—४३५	,,
८,	९, १० (४३५-४९०) और ११, हरिसेन	४३५—५२०	,,

चेदि या त्रयीकुटक संवत् को भी श्री जायसवाल वाकाटकों के चेदि संवत् (२४८ ई०) से भिन्न नहीं मानते। इस संवत् का प्रारम्भ सम्भवतः प्रवरसेन ने किया था और इसकी गणना उसके पिता के राज्याभिषेक से शुरू होती है। प्रवरसेन प्रथम के शासन-काल में चेदि प्रदेश में, इस संवत् का प्रयोग होता था। वाकाटकों के सामन्ती प्रदेशों में भी इसका प्रयोग होता था जिनमें त्रयीकुटक सम्मिलित था। (जे० बी० ओ० आर० एस, भाग १९, पृष्ठ ७९, १०८)

वाकाटकों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक मतों के लिए १९१४ का जे० आर० एस० में डुब्रुएल कृत एन्शेन्ट हिस्ट्री आफ दकन, चौथा परिच्छेद और एस० के आयंगर का लेख देखिए। एनेल्स आफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, भाग दस, पृष्ठ ३१-५९ भी देखिए।

के चार प्रान्तीय राज्यों का विवरण हमें ज्ञात है। नर्मदा के तट पर महिष्मती, महाकोशल, बेरार और मालवा में ये प्रान्तीय राज्य स्थापित थे। मध्यप्रान्त और बुंदेलखण्ड के पश्चिमी भागों पर वाकाटकों का शासन स्थापित था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी मालवा और उससे आगे पुष्यमित्र जैसे जातीय राज्य उनके अधीन थे। इन सब का शासन-प्रबंध भारशिवों की संगठन-प्रणाली के अनुसार होता था। समूचे देश में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना सम्भवतः इनका आदर्श था, जिसे आगे चल कर, गुप्त-सम्राटों ने भी ग्रहण किया। प्रवरसेन प्रथम के काल में ही एक-छत्र राज्य की भावना ने सिर उभारा, संस्कृत का प्रचार तेजी के साथ व्यापक रूप में हुआ और वह राज-भाषा के पद पर आसीन हो गई जिसमें अनेक उत्कीर्ण लेख लिखे गए।*

वाकाटक शिव के अनुयायी थे। शिव की यह उपासना रुद्रसेन द्वितीय से पहले तक चलती रही। गुप्त-सम्राटों के प्रभाव में आकर रुद्रसेन विष्णु का उपासक बना। बाद के वाकाटक शासक बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव रखते थे। वर्ण-व्यवस्था को इनके शासन-काल में काफी संरक्षण प्राप्त हुआ और उसकी जड़ें मज़बूत हो गईं। हिन्दू-कला और स्थापत्य को भी इनके शासन-काल में उल्लेखनीय उन्नति हुई।

---

* वाकाटकों के एक सामन्ती राज्य दरबार में एक महिला थी जिसने ३४० ई० में कौमुदी महोत्सव नामक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में उस काल की धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का अच्छा दिग्दर्शन है। एरन, उदयगिरी, देवगढ़ और अजन्ता में हिन्दू-कला के पुनरुत्थान का जो श्रेय गुप्त-सम्राटों को दिया जाता है, संस्कृति के पुनर्जागरण में, वह वाकाटकों को मिलना चाहिए। इस पुनरुत्थान को, बीज रूप में, नाचना में बने वाकाटाकों के मन्दिर में देखा जा सकता है। अजन्ता में स्थित तथा कथित गुप्त गुफाओं का श्रेय भी उन्हें मिलना चाहिए, क्योंकि गुप्तों का प्रभाव अजन्ता तक कभी नहीं पहुँचा था और वह, अन्त तक, वाकाटकों के ही अधिकार में था। (श्री के० पी० जायसवाल, जे० बी० आर० एस, भाग १९, पृष्ठ ६७ और १०६)

[२]

गुप्त-सम्राट् और हिन्दू साम्राज्य का पुनरुत्थान
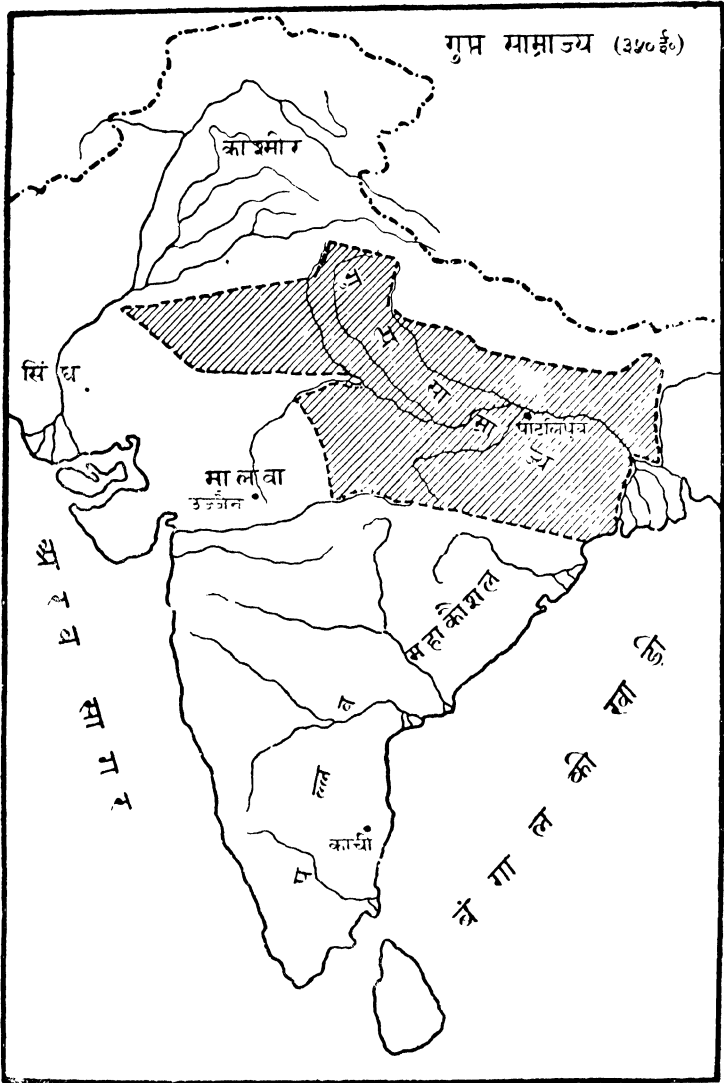
हिन्दू साम्राज्य के निर्माण का कार्य भारशिवों ने प्रारम्भ किया, वाकाटकों ने उसे आगे बढ़ाया और गुप्त-सम्राटों ने उसे पूर्णता

प्रदान की। गुप्त-सम्राटों का उद्गम स्रोत अंधकार में खो गया है। सातवहनों के उत्कीर्ण लेखों में कुछ गुप्त नामधारी राज्याधिकारियों का उल्लेख है। मगध में गुप्त-शासन के जो प्रारम्भिकतम चिन्ह मिले हैं, वे ईसा संवत् की दूसरी शती के हैं। सातवीं शती के चीनी यात्री इत्सिंग के कथनानुसार उसके यात्रा-काल में कोई महाराजा श्री गुप्त नाम से शासन करता था। यह भी अनुमान किया जाता है कि वे—अर्थात् गुप्त सम्राट्—कारसकर नामक पंजाब की एक जाति की उपशाखा से सम्बन्ध रखते थे। इस जाति का सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा ऊँची न थी।* ईसा संवत् की तीसरी शती की अन्तिम चौथाई में ये मगध में प्रकट हुए थे। और इनका पहला राजा गुप्त था जो इलाहाबाद के निकट के प्रदेश का सामन्ती अधिपति था। उसके पुत्र का नाम घटोत्कच—चन्द्रगुप्त प्रथम का पिता—था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही वास्तव में एकछत्र साम्राज्य की नींव डाली थी।

चन्द्रगुप्त प्रथम

चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि परिवार से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जिसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र उसके अधिकार में आया। इस प्रतिष्ठा के लिए वह अपनी पत्नी का ऋणी था, यह उसके सिक्कों से भी प्रकट है जिनके अग्र-भाग पर उसकी तथा पत्नी दोनों की मूर्ति अंकित है और दूसरी ओर, पृष्ठ-भाग पर, 'लिच्छवायाह' की कथा अंकित है। मालूम होता है कि उसने बिहार और अवध के प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया था।†

---

* देखिए राय चौधरी कृत पोलीटिकल हिस्ट्री आव एन्शेन्ट एण्डिया, तीसरा संस्करण, पृष्ठ ३५६-६०, और जे० बी० ओ० आर० एस० भाग २६, पृष्ठ ११५-६ पर, प्रकाशित श्री जायसवाल का लेख जिसमें उन्होंने कौमुदी महोत्सव के आधार पर, चन्द्रगुप्त के लिच्छवि-कुमारी के साथ विवाह और मगध के शासन को क्षत्रिय राजा के हाथ से छीनने का उल्लेख किया है।

† दिल्ली की कुतुब मीनार के निकट महरौली के लौहस्तम्भ पर चन्द्र का लेख अंकित है जिसके बारे में कुछ विद्वानों का कहना है कि वह चन्द्रगुप्त प्रथम से सम्बन्ध रखता है और कुछ विद्वान् इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय से सम्बद्ध करते

अपने साम्राज्य की स्थापना के स्मारक-स्वरूप उसने गुप्त संवत् चलाया जिसकी गणना मोटे रूप में ईसा संवत् के ३२० वें वर्ष से होती है।*

हैं जो चन्द्रगुप्त प्रथम का पौत्र था। इस विवाद का विवरण श्री एस० के० आयंगर की पुस्तक 'स्टडीज़ इन गुप्ता हिस्ट्री के तीसरे खंड (महरौली पिलर इन्सक्रिप्शन आव चन्द्रा) में देखिए।

* डा० जे० एफ० फ्लीट की यह धारणा कि गुप्त संवत् शक संवत् से २४१ वर्ष बाद शुरू हुआ, अब तक सभी मानते थे। इस संवत् का प्रयोग गुप्त सम्राट् तथा वल्लभि वंश के सदस्य करते थे। ईसा संवत् के ३२० वें वर्ष में कोई ऐसी ऐतिहासिक घटना हुई जिसके फलस्वरूप इस संवत् का अस्तित्व सम्भव हुआ था। यह घटना चन्द्रगुप्त के एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना ही हो सकती है। गुप्त संवत् का जन्म उसी के काल में हुआ था तो इसकी गणना भी उसी के शासन से शुरू होनी चाहिए। उसके पूर्वजों के शासन-काल की, जो कि केवल महाराजा थे, इसमें गणना करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती! हर्ष और विक्रम संवत् भी, इसी प्रकार, उन्हीं के शासन-काल से शुरू हुआ था। प्रारम्भिक गुप्तों के जो राज्यांक और तिथियाँ मिलती हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि गुप्त-संवत् का प्रारम्भ, किसी भी हालत में, चन्द्रगुप्त प्रथम के सिवा और किसी राजा से शुरू नहीं हुआ। इसके साथ-साथ डॉक्टर फ्लीट ने यह भी कहा है—"किसी प्राचीन स्रोत से यह पुष्ट नहीं होता कि गुप्तों का सम्बन्ध इस संवत् से था या इसका—अर्थात् गुप्त-काल या संवत् का—उस समय में कोई अस्तित्व था।" इस शब्द (गुप्त-काल) का प्रयोग अलबरुनी ने ११ वीं शती में किया है और इसका एक यही अर्थ हो सकता है कि गुप्त-सम्राटों की यह देन है। (Corpus Inscriptionum Indicrum—Inscriptions of the Early Gupta Kings and their successors—1888—पृष्ठ १६ और ५२४)

अलबेरुनी के विवरण के आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा है कि जैनी और चीनी परम्परा के अनुसार इस संवत् का प्रारम्भ और पहले होना चाहिए। डा० आर० शामा शास्त्री ने मैसूर के पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (१९२३) में लिखा है कि गुप्त संवत् का प्रारम्भ ईसा बाद २००-२०१ होना चाहिए। यह गणना एक जैन विद्वान् जिनसेन के इस कथन के आधार पर की गई है कि गुप्त-सम्राट् २३१ वर्ष तक शासन करते रहे। ये कल्कि से पूर्व हुए

नवाँ परिच्छेद

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका छोटा पुत्र समुद्रगुप्त, जो लिच्छवि की राजकुमारी कुमारदेवी से उत्पन्न हुआ था, गद्दी पर बैठा। वह शेष सभी पुत्रों में सबसे योग्य और सक्षम था। इसलिए वह चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। साहित्य और कला का वह मर्मज्ञ था। वह अपने पद के अनुकूल सिद्ध हुआ और उन सभी आशाओं को पूरा किया जिनके लिए उसे गद्दी पर बैठाया गया था। पड़ोसी राज्यों ने उसके उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया था और पाटलिपुत्र में अनेक राजाओं ने मिल कर उस पर आक्रमण भी किया था। इन आक्रमणकारियों में एक राजा कोटा-वंश का था। सम्भवतः यह वह वंश था जो मगध पर, चन्द्रगुप्त के अधिकार में आने से पूर्व, शासन करता था। इन आक्रमणकारियों में दो राजा आर्यावर्त के भी थे—जिनका उल्लेख इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण राजाओं की सूची में मिलता है।*

थे जिसका समय ईसा सं० ४१८ निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार श्री शामा शास्त्री ने कुछ अन्य प्राचीन घटनाओं के काल में अन्योन्याश्रयन्यास करने का प्रयत्न किया है—जैसे वलभि के शिलादित्य ध्रुवभट्ट और ह्वएन्त्सांग की भेंट, सिंहल के राजा द्वारा भेजे गए राजदूत का समुद्रगुप्त द्वारा स्वागत आदि। इनका काल-निर्धारण उन्होंने ईसा पूर्व ५२७ में महावीर के निर्वाण को अपना आधार बनाकर किया है।

* सम्भवत: चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र छोड़ देना पड़ा, क्योंकि उसके आधिपत्य को, जो उसने लिच्छवियों की सहायता से प्राप्त किया था, अनधिकृत माना गया। यह भी हो सकता है कि उसने मगध पर अत्याचार भी किए हों। अलबेरूनी ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि गुप्तकाल के शासक क्रूर थे। श्री जायसवाल का अनुमान है कि गुप्त सम्राट् ईसा संवत् ३४० से ३४४ मगध से बहिष्कृत हो गए थे और इस घटना ने ही शायद उनकी मन: स्थिति को पूर्ण रूप से बदल दिया था। जलावतर्ना में ही चन्द्रगुप्त की मृत्यु हुई और उसने अपने पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। समुद्रगुप्त ने मगध पर फिर से अधिकार कर अपनी दिग्विजय को प्रारम्भ किया।

उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति

समुद्रगुप्त का काल चौथी शती के मध्य के चालीस या पचास वर्षों का माना जा सकता है। इस काल में कुशाणों की शक्ति पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त ईरान के शक्तिशाली ससानियन राजा पंजाब पर ताक लगाए थे। पंजाब के पूर्व और दक्षिण-पूर्व में अनेक छोटे-मोटे राज्य थे—इनमें से कुछ राजतन्त्रीय थे और कुछ जातीय। ये राज्य दिल्ली से आरम्भ होकर पूर्वी राजपूताना से मालवा और मध्य भारत तक फैले हुए थे। इनके पीछे बुन्देलखण्ड का जंगली प्रदेश था। विंध्य के ढालुवाँ प्रदेश पर अनेक सामन्ती सरदारों का अधिकार था। इनके अलावा मगध और उसके उत्तर में लिच्छवि प्रदेश था जिसमें अयोध्या भी सम्मिलित थी—वही अयोध्या जो गुप्तों की द्वितीय और प्रिय राजधानी थी और जो गुप्त-संस्कृति का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। दक्षिण में कलिंग से इसका स्पर्श होता था जिसके उस ओर वे छोटे-मोटे राज्य थे जो पूर्व में, आंध्र साम्राज्य के खण्डित होने पर, स्वतन्त्र हो गए थे। सुदूर दक्षिण में तामिल प्रदेश था जो पल्लवों के शासन में शक्ति ग्रहण कर संगठित हो रहा था। इसके उधर चोल, पाण्ड्य और चेरा लोगों के परम्परागत तामिल राज्य थे। इस प्रकार बुन्देलखण्ड से दक्षिणी पठार के उस पार कुन्तल तक का समूचा प्रदेश वाकाटकों के शासन में था और उनका पहला सम्राट् प्रवरसेन अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में सम्भवतः समुद्रगुप्त का समकालीन था। पूर्वी बंगाल—अर्थात् गंगा और ब्रह्मपुत्र का डेल्टा, हिमालय के नीचे का प्रदेश जिसमें गढ़वाल, नेपाल और भूटान सम्मिलित थे, अनेक राजाओं के बीच विभाजित थे। इनके अतिरिक्त गुजरात और कोंकण के क्षत्रप और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश के शासक भी थे। समुद्रगुप्त ने जब अपनी दिग्विजय प्रारम्भ की उस समय राजनीतिक स्थिति ऐसी ही थी।* इस स्थिति का विवरण अशोक के इलाहाबाद स्थित स्तम्भ-लेख से लिया गया है और पुराणों का विवरण भी इसकी पुष्टि करता है।

---

* जे० आई० एच, भाग ६ के सप्लीमेंट में पृष्ठ ३७ ३८ पर प्रकाशित श्री एस० के० आयंगर के लेख 'स्टडीज़ इन गुप्त हिस्ट्री' देखिए।

नवाँ परिच्छेद

समुद्रगुप्त का विजय-विस्तार

इलाहाबाद के शिला-लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने स्पष्टतः दो लड़ाइयाँ आर्यावर्त में लड़ी थीं—एक दक्षिण की महान् विजय-यात्रा से पूर्व और दूसरी उसके बाद। पहली लड़ाई में अपनी विजय के फलस्वरूप उसने गणपति संघराज्य की शक्ति को छिन्न-भिन्न किया और नाग सरदारों के पद्मावती तथा मथुरा के प्रदेश उसके अधिकार में आ गए। इसके साथ-साथ मगध पर अधिकार दृढ़ करने में भी उसने सफलता प्राप्त की। इस विजय का काल वाकाटकों के सम्राट् प्रवरसेन की मृत्यु के तुरंत बाद बताया जाता है। इसके बाद समुद्रगुप्त ने छोटा नागपुर के दक्षिण-पूर्वी प्रदेश, महाकोशल और आंध्र पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इस आक्रमण का उद्देश्य प्रदेश-विशेषों पर विजय प्राप्त करना नहीं, वरन् अपनी शक्ति और एकच्छत्रता का प्रदर्शन करना था। फलतः उसने, कुछ को छोड़ कर, किसी प्रदेश को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया।*

इसके बाद समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया, क्योंकि सभी दिग्विजय दाहिनी ओर से शुरू होती थीं। सबसे पहले उसने राजा महेन्द्र द्वारा शासित प्रदेश पर, कोशल के दक्षिण में, आक्रमण किया।† फिर महाकान्तार के व्याघ्रराज को अपने अधीन किया जो कोशल से मिला हुआ वन्य प्रदेश था। इस प्रकार दक्षिण की ओर बढ़ते हुए गुप्त सम्राट् ने कलिंग देश में स्थित मानताराज, आज का उड़ीसा, पर आक्रमण किया। फिर उसका आक्रमण स्वामीदत्त द्वारा शासित वृहत प्रदेश पर हुआ।

---

* मैसूर विश्वविद्यालय के मैगज़ीन, दिसम्बर १९२३ के अंक में प्रकाशित डॉ० एस० के० आयंगर के विद्वत्तापूर्ण लेख को देखिए। श्री आर० मुकर्जी लिखित "मैन एन्ड थॉट इन एन्शेन्ट इन्डिया", १९२४, परिच्छेद ४ भी देखिए। श्री के० पी० जायसवाल ने भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दक्षिण आक्रमण समुद्रगुप्त की दिग्विजय का अंग नहीं था जैसा साधारण-तया समझा जाता है, बल्कि उसका उद्देश्य वाकाटकों का मान भंग करना था।

† इस विवरण में उसी क्रम का अनुसरण किया गया है जिस क्रम से इलाहाबाद के शिला-लेख में स्थानों का उल्लेख मिलता है।

इस प्रदेश में पहले कभी दो स्वतन्त्र राज्य स्थापित थे जिनकी राजधानियाँ अलग-अलग थीं—पिष्टपुर (आज का पीठपुर) और महेन्द्रगिरि के निकट कोट्टूर। इनके अलावा जिन अन्य राजाओं पर समुद्रगुप्त ने आक्रमण कर अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया उनमें—गंजम ज़िला में स्थित एरण्डपल्ली के दमन, काँची के पल्लव शासक विष्णुगोप, अवमुक्त (अभी तक अज्ञात स्थान) के नीलराज, एल्लोर के निकट वेंगी के हस्तिवर्मन, प्रारम्भिक पल्लवों के इलाके पलाक्कुडा—कृष्णा के निम्न प्रदेश में स्थित—के राजा पालक्क, और देवराष्ट्र (विज़गापट्टम जिला में येल्लामञ्चलि) के राजा कुबेर थे।*

इसी प्रकार की विजय-यात्रा समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त (बौद्ध ग्रंथों के अनुसार मध्य देश) से सामन्तों और राजाओं के विरुद्ध की थी।† आर्यावर्त के विरुद्ध समुद्रगुप्त ने अपनी इस विजय-यात्रा में

---

* समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा के मार्ग क्रम के बारे में अनेक मत पाए जाते हैं। यहाँ हमने डा० एस० के० आयंगर के मत का अनुसरण किया है। जे० डुब्रएल ने अपनी पुस्तक एन्शेन्ट हिस्ट्री आव दकन में यह माना है कि समुद्रगुप्त की विजय-यात्राएँ दकन के पूर्वी तट तक सीमित रहीं। उनके कथनानुसार श्री फ्लीट का यह कथन कि वह दकन के दक्षिण या पश्चिम की ओर भी बढ़ा था ठीक नहीं है (देखिए पृष्ठ ५८-६१)। श्री जायसवाल का कहना है कि छोटा नागपुर, साम्भलपुर और बस्तर से समुद्रगुप्त ने पल्लवों (जिन्हें वह वाकाटकों की ही एक छोटी शाखा मानते हैं) की मूल गद्दी वेंगी पर सीधे बाज़ की तरह आक्रमण किया था। पूर्वी तट-मार्ग का उसने अनुसरण नहीं किया था, क्योंकि शिला-लेख में निचले (लोअर) बंगाल और उड़ीसा के एक भी स्थान का उल्लेख नहीं मिलता। सभी विजित राजा आंध्र और कलिंग, कुरल (कोलर झील) के अन्तर्गत प्रदेश, से सम्बन्ध रखते थे। इन सबको निश्चयात्मक समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इसके बाद विजेता सम्राट् बिहार लौट आया और सम्भव है फिर वह काँची, अथवा पूर्वी या पश्चिमी तट पर किसी अन्य जगह, न गया हो।

† इन छोटे राजाओं के राज्य गंगा के दोआबा और मध्य भारत और राजपूताना के सीमावर्ती प्रदेश में स्थित होंगे। एक ही स्थान पर—इलाहाबाद का शिला-लेख—समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विवरण मिलता है जिसमें निम्न विजित

बुन्देलखण्ड मध्य देश के नौ अटविक राजाओं—रुद्रदेव उनमें प्रथम था—को परास्त किया। यह रुद्रदेव सम्भवतः वाकाटक वंश का राजा रुद्रसेन ही था जो, उस काल में, मध्य देश का शक्तिशाली राजा था। उसे परास्त करने में समुद्रगुप्त को भारी युद्ध करना पड़ा।* इन विजित राजाओं में वे तीन राजा भी सम्मिलित हैं जिन्हें समुद्रगुप्त ने अपने प्रथम आर्यावर्त आक्रमण में परास्त किया था जो गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित हो गए थे। इनका प्रदेश यमुना और विंध्याचल के बीच फैला हुआ था। पहले इस प्रदेश पर वाकाटकों के अधीन सामन्ती सरदार शासन करते थे।

इसके बाद समुद्रगुप्त ने पूर्वी सीमा पर स्थित समतट, दविक और कामरूप के राजाओं पर विजय प्राप्त की और उन्हें अपने अधीन कर लिया। ये तीनों राज्य क्रमशः सुन्दरबन, पूर्वी बंगाल और आसाम में स्थित थे। नेपाल और कर्तृपुर (काँगड़ा और गढ़वाल)—जो हिमालय के चरणों में स्थित हैं—के राज्यों पर भी समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की। पूर्वी सीमान्त और हिमालय प्रदेश के पाँचों राजा स्वयं आकर समुद्रगुप्त के सामने उपस्थित हुए और भेंट प्रदान की। नेपाल पर उन दिनों लिच्छवि वंश का शासन स्थापित था। गुप्तों की अधीनता स्वीकार करने के बाद वहाँ भी गुप्त-काल (संवत्) का प्रयोग किया जाने लगा।

समुद्रगुप्त का साम्राज्य, अपने विस्तृत रूप में, ब्रह्मपुत्र से पूर्वी पंजाब तक समूचे उत्तरी भारत पर फैला हुआ था। इसके

राजाओं के नाम दिए गए हैं—रुद्रदेव, मातिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत और नन्दी बालावर्मन।

* पुराणों के अनुसार विंध्याक और वाकाटक वंश का अन्त रुद्रसेन के साथ होता है। सम्भवतः समुद्रगुप्त के साथ युद्ध में वह परास्त हुआ और मारा भी गया। इस युद्ध के पश्चात् सभी वाकाटक राजा गुप्तों के अधीन हो गए। श्री जायसवाल ने समुद्रगुप्त के युद्धों की निम्न तिथियाँ निर्धारित की हैं:—

(१) प्रथम आर्यावर्त युद्ध ईसा संवत् ३४४-५
(२) दकन का युद्ध ,, ,, ३४६-७
(३) आर्यावर्त के परवर्ती युद्ध ,, ,, ३४८-५०

अन्तर्गत मालवों, अर्जुनायन, यौधेय और मद्रकों के जातीय राज्य भी थे। ये राज्य सम्भवतः राजपूताना के आबू पहाड़ से पंजाब की रावी और व्यास नदियों तक फैले हुए थे। इनके अलावा आभीर और प्रार्जुन जैसे गण राज्य समुद्रगुप्त के करद और वंशवद बन गए थे। ये गण राज्य कहाँ स्थित थे, यह निश्चित रूप से मालूम नहीं है, लेकिन अनुमान किया जाता है कि ये पश्चिमी मालवा और उसके दक्षिण में स्थित प्रदेशों में कायम थे।*

इन विजयों के फलस्वरूप समुद्रगुप्त का नाम और ख्याति दूर तक फैल गई थी। उसका संरक्षण और मित्रता प्राप्त करने के लिए दूर-दूर के राजा लालायित रहते थे। इन राजाओं में दैवपुत्र, शाही शाहानुशाही, शक और मुरुण्ड का उल्लेख शिला-लेख में मिलता है। इनमें प्रथम तीन कुशाण सरदार थे जो कुशाण-साम्राज्य के विच्छिन्न भागों पर शासन करते थे। ये सब सम्भवतः उस राज्य के अधीन थे जिसका उल्लेख पुराणों में म्लेच्छ-राज्य के रूप में मिलता है और जो उस काल में, अफगानिस्तान और काश्मीर तक फैला हुआ था। शक और मुरुण्ड के सम्बन्ध में साधारणतया अनुमान किया जाता है कि ये दोनों दो विभिन्न राज्य थे। लेकिन कुछ का कहना है कि मुरुण्ड शक शासक की उपाधि के रूप में प्रयुक्त होता था। इसलिए सम्भव है ये दोनों शब्द एक ही नाम को सूचित करते हों और इनका संकेत पश्चिम के उन

---

* मालवों का गण राज्य काफी विस्तृत था। इनके सिक्के जयपुर में पाए गए हैं जिससे पता चलता है कि ये राजपूताना के आबू पहाड़ से जयपुर तक फैले हुए थे। यौधेयों का गण राज्य भी काफी बड़ा था। यह मालवा के उत्तर में भरतपुर और मथुरा से लेकर सतलज तक फैला हुआ था। मद्रकों का गण राज्य सतलज के दक्षिण में और झेलुम तथा व्यास के बीच के प्रदेश में स्थित था। पुराणों में आभीरों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे सौराष्ट्र और अवन्ती के शासक थे और एक समय में उनकी राजधानी नर्मदा के तट पर स्थित महिष्मती नामक नगरी थी। काकों और शशनिकों के जातीय राज्य भीलसा के आस-पास स्थित थे। (एस० के० आयंगर लिखित "स्टडीज़ इन गुप्त हिस्ट्री पृष्ठ ४०-१ और श्री के० पी० जायसवाल के लेख, जे० बी० ओ० आए० एस भाग १९ पृष्ठ १४७-५० पर प्रकाशित, देखिए।)

शक क्षत्रपों की ओर हो जो उस काल में कच्छ, सिंध तथा आस-पास के अन्य प्रदेशों पर शासन करते थे।

समुद्रगुप्त ने जिन राजाओं से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये, उनमें सिंहल का महाराजा मेघवर्मन भी था। मेघवर्मन ने समुद्रगुप्त को बहुमूल्य भेंट प्रदान की और बुद्ध गया में एक मठ बनाने की अनुमति की प्रार्थना की। यह मठ सिंहल से आने वाले बौद्ध यात्रियों के ठहरने के लिये बनाया गया। उदार-मस्तिष्क समुद्रगुप्त ने बड़ी तत्परता के साथ उसके निर्माण की अनुमति तुरंत प्रदान कर दी।

अपनी विजयों की समाप्ति पर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किया और इस अवसर के उपलक्ष में एक पदक जारी किया जिस पर अंकित था कि "महाराजाधिराज ने, दिग्विजय के पश्चात्, स्वर्ग को जीता—ऐसा कोई न था जो उनके विरोध में टिकता।"

समुद्रगुप्त के राज्य का विस्तार

जिन दक्षिणी राज्यों पर समुद्रगुप्त ने विजय प्राप्त की, उन्हें स्थायी रूप से साम्राज्य में मिलाने का उसने प्रयत्न नहीं किया। दक्षिण में उसकी विजय-यात्रा धर्म-विजय के समान थी—वह राजाओं को परास्त तो करता, किन्तु उनके राज्य को हस्तगत नहीं करता था। इसके प्रतिकूल उत्तरी विजयों में विजित प्रदेशों को उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उसका समूचा साम्राज्य अनेक सूबों में विभाजित था। उसका साम्राज्य पूर्व में हुगली से पश्चिम में यमुना और चम्बल तक, और हिमालय की तलहटी से दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमाओं पर अनेक गण राज्य स्थित थे जो उसे नजराना देते थे और उसके आगे सिर झुकाते थे—उदाहरण के लिए पूर्वी बंगाल और आसाम, नेपाल और सतलज के बेसिन में स्थित गण राज्य।

समुद्रगुप्त का चरित्र

समुद्रगुप्त युद्ध-कला में ही पारंगत नहीं था, वरन् शान्ति के कार्यों में भी वह उतना ही महान् था। शूरवीर और साहसी होने

के साथ-साथ वह सहृदय और विद्वान् भी था। वह संगीत और काव्य-प्रेमी भी था। उसके जीवनी-लेखक मन्त्री हरिसेन के कथनानुसार—"वह संगीत कला में नारद और तुम्बरु को लज्जित करता था। काव्य-रचना में वह इतना कुशल था कि विद्वान् उसे कविराज कह कर सम्बोधित करते थे।" उसकी इन विशेषताओं का परिचय उसके सिक्कों से भी मिलता है जो वीणांकित हैं—जिन पर वीणा बजाती एक ऊँचे मंच पर बैठी हुई राजमूर्ति अंकित हैं।* समुद्रगुप्त को विन्सेन्ट स्मिथ ने 'भारतीय नेपोलियन' कहा है; किन्तु सब कुछ होते हुए भी वह 'विजेता' नहीं था। उसने जो विजय प्राप्त की, उनकी मूल प्रेरणा साम्राज्य-विस्तार की भावना न होकर धर्म की भावना थी। यही कारण है जो उसने विजित प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित नहीं किया। साम्राज्य-वृद्धि उसकी आकांक्षाओं में सम्मिलित नहीं थी और वह उन राजाओं में नहीं था जो दूसरे प्रदेशों पर अधिकार करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

---

* जिस उत्कीर्ण लेख में समुद्रगुप्त की इन विशेषताओं और गुणों का वर्णन है, उसकी अपनी एक बहुमूल्य विशेषता है। समुद्रगुप्त के एक राज-सभासद हरिसेन ने छन्दबद्ध रूप में इस अभि-लेख की रचना की थी। इसमें स्वयं हरिसेन ने अपना उल्लेख, एक पदाधिकारी और मंत्री-पुत्र के रूप में, किया है। उसने अपने को महादण्ड नामक और कुमारामात्य लिखा है। इस उत्कीर्ण लेख में चन्द्रगुप्त प्रथम और समुद्रगुप्त दोनों को महाराजाधिराज और इनसे पूर्व के दो राजाओं का महाराजा के रूप में उल्लेख हुआ है। इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त एकच्छत्र सम्राट् के पद तक पहुँच गया था और समुद्रगुप्त इस वंश का दूसरा महान् सम्राट् था। समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह विद्वानों की मण्डली से घिरा रहता था और अपनी बुद्धि तथा प्रतिभा से वह बृहस्पति को और संगीत कला में नारद और तुम्बरु को लज्जित करता था। अनेक काव्यों की उसने रचना की थी और कविराज की उपाधि से वह विभूषित था। उसका समय कंगाल, दीन, अनाथ और दुःखियों की सहायता में व्यतीत होता था—लोकानुग्रह उसके जीवन का व्रत था। 'केवल युद्ध ही एक ऐसी चीज़ थी जिससे उत्तेजित होकर वह उग्र रूप धारण करता था। वह समृद्धि के देवता दानद, न्याय के देवता वरुण, रक्षा करने वाले देवता इन्द्र और यम-नियम के देवता अपटक के समान था—लोकानुग्रह के लिए इन सभी देवताओं ने मानों उसके रूप में अवतार लिया था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

(३७५—४१३ ई०)

ई० स० ३८० में समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका एक पुत्र चन्द्रगुप्त हुआ। स्वयं समुद्रगुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी चुना था। उसका राज्यारोहण निर्विरोध सम्पन्न हुआ और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। उसका शासन-काल यद्यपि शासन-प्रधान रहा, किन्तु वह एक महान् योद्धा था और अपने उपनाम विक्रमादित्य को पूरी तरह से सार्थक करता था। उसके साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिम में क्षत्रप-शक्ति ने फिर से सिर उठाना शुरू किया। उसका ध्यान उसकी ओर गया और उसने उसे अपने वश में कर लिया। उसके शासन-काल की दो घटनाएँ प्रमुख और महत्वपूर्ण हैं—(१) वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ उसकी कन्या का विवाह और (२) मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र प्रायद्वीप पर उसकी विजय।

वाकाटक शक्ति और चन्द्रगुप्त

उपर्युक्त घटनाओं में से पहली उच्च कोटि के नीतिकौशल का परिणाम थी। समुद्रगुप्त के पहले तक वाकाटक शक्ति दुर्दमनीय थी। बुन्देलखंड से दक्षिण में स्थित कुन्तल के बीच के प्रदेश तक उसका अधिकार स्थापित था। समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के प्रमुख मित्र-राज्यों तथा पड़ोसियों पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार दोआबा, मध्य भारत और पूर्वी तट के प्रदेशों पर उसका प्रभाव स्थापित हो गया। उसने प्रवरसेन के उत्तराधिकारी रुद्रदेव पर—जो सम्भवतः रुद्रसेन का ही पर्यायवाची था—भी अपना अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

उधर वाकाटकों का क्षत्रपों से निरन्तर संघर्ष में फँसे रहना पड़ता था और उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गई थी। क्षत्रपों के सिक्कों के अध्ययन से पता चलता है कि रुद्रदमन वंश का राज्य ईसा संवत् ३०५-३४८ के बीच समाप्त हो गया था। रुद्रदमन वंश के अन्त के साथ महाक्षत्रपों की पदवी का अन्त हो गया और केवल साधारण क्षत्रप शेष रहे, परन्तु कुछ समय पश्चात् उसका भी अस्तित्व जाता रहा। इससे इस धारणा की भ। पुष्टि होती है कि महान् प्रवर-

सेन वाकाटक—जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था और सम्राट् की उपाधि धारण की थी—के साम्राज्य का पश्चिमी प्रदेशों में विस्तार क्षत्रपों के ध्वंसावशेष पर हुआ था। समुद्रगुप्त की विजयों के फलस्वरूप जब वाकाटक शक्ति नष्ट हो गई तो क्षत्रपों को फिर से साँस लेने का अवसर मिला और ईसा संवत् ३५० के बाद क्षत्रपों और महाक्षत्रपों के एक नये वंश का उदय हुआ। इस वंश के क्षत्रप 'स्वामिन' और 'महाराजा' की उपाधि धारण करते थे।

क्षत्रपों की इस नई परम्परा के उत्थान की ओर चन्द्रगुप्त द्वितीय का ध्यान आकृष्ट हुआ। उनकी शक्ति रोकने के लिए चद्रगुप्त द्वितीय ने क्षत्रपों की प्रतिद्वन्द्वी तथा पड़ोसी वाकाटक शक्ति से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त के लिए पश्चिम के शक राज्यों पर, उत्तर की ओर से, आक्रमण का मार्ग खुल गया। अतः दक्षिण के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ अपनी कन्या प्रभावती का विवाह करके चन्द्रगुप्त ने अत्यन्त बुद्धिमानी का कार्य किया। इस विवाह सम्बन्ध का फल यह हुआ कि वाकाटक सम्राट् को उसने अपने वश में कर लिया और पश्चिमी प्रदेशों को विजय करने में सफलता प्राप्त की। पहले उसने सीमास्थित प्रदेशों को अपने अधिकार में किया और इसके बाद क्षत्रपों की समूची शक्ति को छिन्न-भिन्न करने में सफलता प्राप्त की।

मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की विजय

शक क्षत्रपों के पश्चिमी प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने में काफी समय लगा और मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के प्रदेशों में अपनी सेना को ले जाने में चन्द्रगुप्त द्वितीय को लगभग ६ वर्ष का समय देना पड़ा। अन्तिम क्षत्रप रुद्रसिंह पराजित होकर मारा गया और उसका राज्य गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया गया। पश्चिमी प्रदेशों की यह विजय अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि इसके फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य के उद्योग-धंधों और व्यापार का मार्ग बहुत प्रशस्त हो गया। वाकाटक और गुप्त सम्राट् दोनों के हित इस युद्ध से सम्बद्ध थे और इन दोनों में जो विवाह-सम्बन्ध हुआ

उसका उद्देश्य युद्ध के बाद होने वाली संधि का व्यावहारिक समर्थन मात्र न होकर अपनी-अपनी स्थिति को सुरक्षित रखना था।*

गुप्त साम्राज्य का विस्तार अब पश्चिमी सागर तक हो गया था और पश्चिमी प्रदेशों से होने वाला समूचा समुद्री व्यापार उसके नियंत्रण में आ गया था। पश्चिमी तट पर स्थित कतिपय बन्दरगाहों से होने वाली आयात कर की आय गुप्त साम्राज्य के कोष का एक बहुत बड़ा अंग बन गई थी।† इस विजय का एक फल यह भी हुआ कि उज्जयिनी ने, जो मालवा की राजधानी और ज्ञान तथा विद्वत्ता का केन्द्र थी, गुप्त साम्राज्य की दूसरी राजधानी का स्थान ग्रहण कर लिया और उसके द्वारा आर्यावर्त तथा पश्चिमी तट के बीच आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित हो गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की उदार शासन-व्यवस्था

पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय प्राप्त करने के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। वह एक योग्य और जनप्रिय शासक था। स्वयं वैष्णव था, किन्तु अन्य मतावलम्बियों को भी मुक्तहृदय से राज्य-पदों पर नियुक्त करता था उसकी सेना का बड़ा अफ़सर अम्रकार्द्दव बौद्ध था और उसके कई मंत्री शैव थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का महान् साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित था। ये प्रान्त देश और भुक्ति कहलाते थे और इनमें कुछ का शासन राज्य-परिवार के सदस्य—राजकुमार—करते थे। प्रत्येक प्रान्त ज़िलों में विभाजित था। देश के प्रमुख शासनाधिकारी गोप्ता कहलाते थे और भुक्तियों का शासन राजकुमार करते थे। प्रत्येक

---

* विशाखदत्त रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक की एक प्रति ऐसी मिली है जिसमें चन्द्रगुप्त की रानी ध्रुवदेवी का शकों द्वारा अपहरण और चन्द्रगुप्त को ध्रुवदेवी को फिर से वापिस लाने की घटना का रोमांचकारी वर्णन किया गया है। क्षत्रपों के काल की अन्तिम तिथि ३१० शक संवत् (ईसा संवत् ३८८) आंकी गई है।

† देखिए वी० ए० स्मिथ रचित 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इन्डिया' पृष्ठ १५२

विशाय या ज़िला अनेक ग्रामों में विभाजित था। ग्रामों की देख-भाल ग्रामिक या भोजक करते थे जो ग्रामों के चौधरी या मुखिया होते थे। शासन-सम्बन्धी मामलों में सम्राट् बहुधा महाजनों, व्यापारियों और सौदागरों के संघों से परामर्श लेता था।* एक मंत्री परिषद् सम्राट् को राजकार्य में सहायता देती थी और इस परिषद् के कुछ सदस्य सम्राट् के साथ, जहाँ भी वह जाता था, सदा रहते थे।

गुप्त साम्राज्य का विस्तार पश्चिमी राजपूताना और पश्चिमी सागर से गंगा और ब्रह्मपुत्र के मुहाने तक और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था। अपने साम्राज्य के अधिकांश भाग का शासन सम्राट् स्वयं करता था। सीमावर्ती प्रदेश में आदिम जातियों के कुछ करद राज्य स्थित थे। वाकाटक साम्राज्य भी गुप्तों के प्रभाव में था और प्रभावती गुप्ता ने, जो सम्राट् की कन्या थी, कई वर्षों तक, अपने दो पुत्रों की ओर से, शासन कार्य संभाला।†

हिन्दू धर्म का विकास

हिन्दू भारत के इतिहास में गुप्त-काल सब से उज्ज्वल रहा है। इस काल में ब्राह्मणों का उत्थान उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था। उनके निर्देशन तथा तत्वावधान में अनेक अश्वमेध यज्ञ तथा अन्य कतिपय बलि आदि के अनुष्ठान, प्रथम तीन गुप्त सम्राटों ने,

* बसरा की जो मोहरें [ए० एस० आर (१९०३-४)—पृष्ठ १०१-२०] मिली हैं उनसे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—विशेषकर तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रान्त और उसके ज़िलों तथा ग्रामों की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में इन मोहरों से जानकारी प्राप्त होती है। इनमें शासनाधिकारियों, मंत्रियों, व्यापार-संघ के अध्यक्षों तथा इसी तरह की अन्य संस्थाओं के अधिकारियों का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में दामोदरपुर का उत्कीर्ण लेख भी दर्शनीय है (स्टडीज़ इन गुप्ता हिस्ट्री, पृष्ठ ५९-१०१)

† प्रभावती के दोनों पुत्रों में से छोटा प्रवरसेन द्वितीय, जैसा 'कुन्तलेश्वर दौत्यम्' नामक नाटक में दिखाया गया है, आरामतलब आदमी था। कहा जाता है कि यह नाटक कालिदास ने रचा था। इसके अनुसार विक्रमादित्य ने कालिदास को कमिश्नर बना कर भेजा था कि वह जाकर इस बात की जाँच करे कि शासन-कार्य किस प्रकार चल रहा है।

सम्पन्न किए थे। ब्राह्मणों का यह उत्थान, जिसने तीसरी शती में भी उल्लेखनीय रूप धारण कर लिया था, और जिसने राजा प्रजा तथा दोनों का ही पोषण और समर्थन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी, क्लासिकल संस्कृत साहित्य के उस महान् विकास में भी परिलक्षित होता है जिसका हम अभी, यहाँ, उल्लेख करेंगे। इसके साथ ब्राह्मणत्व के इस तेज प्रसार के कारणों की खोज-बीन करने का भी हम यहाँ प्रयत्न करेंगे। यद्यपि यह सही है कि इस काल में हिन्दू धर्म जिस रूप में विकसित हुआ, उसे 'ब्राह्मणत्व' से विभूषित करना कठिन होगा।

जनता तक पहुँचने के क्रम में इस धर्म का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। हम देख चुके हैं कि जनप्रिय रूप धारण करने के लिए किस प्रकार बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में आदिम जातियों के अंधविश्वास सामूहिक रूप में सम्मिलित हो गए थे। जनप्रिय बनने की दौड़ में ब्राह्मण धर्म विजयी सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे किन्तु चुपचाप बौद्ध धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तों को इसने अपने में सम्मिलित कर लिया। इतना ही नहीं वरन् बौद्धों के प्रचार के तरीकों को भी इसने अपना लिया और जनसाधारण के हृदय को जीतने में सफलता प्राप्त की। पौराणिक देवताओं के मन्दिरों की संख्या में वृद्धि हुई ही, इसके साथ-साथ प्रभावपूर्ण धार्मिक उत्सवों और रथयात्राओं का उद्घाटन किया गया। वर्णव्यवस्था की प्राचीन कट्टरता को शिथिल कर वर्णविहीन विदेशियों को जिन्होंने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए थे, और गुप्त-ऐसे अ-क्षत्रिय सम्राटों को क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर लिया गया। ब्राह्मण पुरोहितों के बीच इन शासकों को गोत्रप्रदान करने में अच्छी प्रतिद्वंद्विता चलती थी। इस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा उत्साहित और अनुप्राणित होकर शासकों ने हिन्दू धर्म के विकास और प्रसार में हर सम्भव प्रकार से सहायता प्रदान की और विष्णु, शिव, चण्डी और सूर्य को उपास्य मान कर चलने वाले अनेक पंथों ने अत्यन्त विस्तृत और जनप्रिय रूप धारण कर लिया।*

---

* चन्द्रगुप्त द्वितीय और उसके बाद के शासक स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध में जो लेख तथा सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उनमें अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है।

संस्कृत का पुनरुत्थान

ब्राह्मणत्व के उत्थान के साथ संस्कृत साहित्य का भी उत्थान हुआ। धीरे-धीरे किस प्रकार संस्कृत प्राकृत का स्थान ले चुकी थी—यहाँ तक कि जैन और बौद्ध भी संस्कृत भाषा का ही व्यवहार करने लगे थे, यह हम पहले ही देख चुके हैं। गुप्त सम्राटों ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और उनके संरक्षण में हिन्दू पाण्डित्य की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हुई। उनके काल में कतिपय पुराण, जो असंदिग्ध रूप से प्राचीन थे, फिर से संशोधित और सम्पादित किए गए। संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध नवरत्नों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के दरबार के आभूषण थे। कला और साहित्य के क्षेत्र में

समुद्रगुप्त ने स्वर्ण-मुद्राएँ चालू की थीं जिनके अग्रभाग पर छोड़े हुए घोड़े की मूर्ति अंकित थी और जिनका पृष्ठभाग अश्वमेध पराक्रम की उपाधि से विभूषित था। इसी प्रकार कुछ सिक्कों पर अश्वमेध महेन्द्र का उल्लेख है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त ने महेन्द्र की उपाधि धारण की थी। ये तीनों—चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त—सिक्कों पर खुदे हुए लेखों में परम भागवत कहे गए हैं। उदयगिरि के एक गुप्त शिला-लेख में शम्भु को समर्पित एक गुफा का उल्लेख है। भीलसद के उत्कीर्ण लेख में महासेना के मन्दिर की परिक्रमा के निर्माण का उल्लेख है। भीमसद का यह अभिलेख कुमार से सम्बन्ध रखता है। एक दूसरे शिला-लेख में एक कूप के निर्माण का और एक अन्य शिलालेख में स्कन्दगुप्त के सौराष्ट्र के अधिपति द्वारा निर्मित विष्णु के मन्दिर का उल्लेख है। भिटारी के स्तम्भ-लेख में स्कन्दगुप्त द्वारा सारंगित का मूर्ति के निर्माण का उल्लेख है और मन्दसोर के शिला-लेख में बुनकरों के संघ द्वारा निर्मित सूर्य के मन्दिर और उसके पुनर्निर्माण का वर्णन है। यह मन्दिर ईसा संवत् ४३७ में निर्मित हुआ था। इसी प्रकार छोटे-छोटे सरदारों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा निर्मित मन्दिरों और मूर्तियों का उल्लेख अन्य बहुत से लेखों में मिलता है। ब्राह्मणों को भोजन कराने के अनेक स्थानों का इस प्रकार निर्माण किया गया था। विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों, यज्ञों और बलि के स्मारकों के रूप में इन सब का निर्माण किया जाता था। (देखिए आर० जी० भण्डारकर लिखित 'ए पीप इन टू दि अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ ५२-४)

ऐसा कौन है जिसने कालिदास का नाम न सुना हो? शकुन्तला के अमर रचयिता से भला कौन अनभिज्ञ होगा? शकुन्तला के अलावा कालिदास ने दो अन्य नाटकों की रचना की थी—एक तो विक्रमोर्वशी और दूसरा मालविकाग्निमित्र। काव्य-रचना में वह सर्वोपरि था। कालिदास की दो काव्य-रचनाएँ—मेघदूत और ऋतुसंहार—अपने सौन्दर्य और माधुर्य के लिए सदा अमर रहेंगी। उसके चिरस्मरणीय महाकाव्यों में रघुवंश और कुमारसम्भव का भी उल्लेख किया जा सकता है। रघुवंश में सूर्यवंशी राम की जीवन गाथा वर्णित है और कुमार-सम्भव में शिव और उमा के प्रेमाख्यान का अंकन हुआ है।

नवरत्न

नवरत्नों में कितने ही ऐसे हैं जिनके काल के सम्बन्ध में अभी तक कुछ निश्चय नहीं है। महान् ज्योतिष-शास्त्री आर्यभट्ट गुप्तों के परवर्ती काल में हुआ था। ईसा संवत् ४७६ में उसने जन्म लिया था और अपने नाम का शीर्षक देकर, एक ग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रंथ में आर्यभट्ट ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि पृथ्वी अपनी धुरी के चारों ओर घूमती है। सूर्य और चन्द्र-ग्रहण के कारणों पर भी इस ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है। ईसा संवत् ४०० से ६५० तक भारतीय गणित शास्त्र का स्वर्ण-काल माना जाता है। कतिपय विद्वानों ने मुद्राराक्षस का रचना-काल गुप्त-शासन निर्धारित किया है।*

ज्ञान का प्रसार

बिना किसी जातीय या धार्मिक भेदभाव के गुप्त-सम्राट् लोकोपयोगी ज्ञान के प्रसार को प्रोत्साहित करते थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् बौद्ध लेखक वसुबंधु से समुद्रगुप्त की घनिष्ठता थी।

* कालिदास के काल के सम्बन्ध में जो मतभेद है, उसके संक्षिप्त विवरण के लिए वी० ए० स्मिथ कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इन्डिया' (१६, २४) के ३२१ पृष्ठ पर नोट नम्बर एक देखिए। कीथ कृत 'संस्कृत लिटरेचर' में भी इसका विवरण दिया हुआ है।

विधान सम्बन्धी ज्ञान का भी गुप्त-काल में काफी प्रसार हुआ। मनुस्मृति की रचना तो सम्भवतः गुप्तों से पहले हो गई थी, किन्तु याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियों की रचना हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण काल में हुई। सूत्रों के भाष्यों के सम्बन्ध में यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये गुप्त-काल में रचे गए थे। वायु पुराण जिस रूप में आज उपलब्ध है, उसका काल चौथी शती का पूर्वार्द्ध बताया जाता है। इसमें गुप्त-सम्राटों का उल्लेख है कि वे गंगा के तटवर्ती प्रदेश—प्रयाग, साकेत और मगध—पर शासन करते थे। विष्णुपुराण वायुपुराण की अपेक्षा कुछ बाद की रचना है। दर्शन और तर्क शास्त्र भी उस काल में विकसित अवस्था में थे। स्थापत्य, शिल्प, चित्रकारी तथा अन्य ललित कलाएँ सम्पन्न अवस्था में थीं। बौद्धिक और कलात्मक अभ्युत्थान का यह काल, वी० ए० स्मिथ के शब्दों में गुप्त-सम्राटों के प्रोत्साहन तथा संरक्षण, फारस, चीन और रोम आदि की विदेशी सभ्यताओं के सम्पर्क-समागम (भूमध्य सागरीय प्रदेशों से स्थल तथा जल दोनों मार्गों से सम्बन्ध स्थापित था) का परिणाम था। इस अभ्युत्थान का कारण उस काल की अटूट शान्ति और व्यापारिक सम्पन्नता में निहित था जिसका वर्णन फाहियान ने किया है। सिकन्दरिया तथा भूमध्य सागर स्थित अन्य बन्दरगाहों से होकर यूनानी ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान भारत में प्रवेश कर चुका था। ज्योतिष के पाँच सर्वमान्य सिद्धान्तों में से रोमक और पौलिष ग्रीक-रोमनों की ही देन हैं। उच्च अधिकारी विद्वानों के मतानुसार इन दोनों ज्योतिष सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा संवत् ४०० के बाद का नहीं हो सकता। इन पाँचों सिद्धान्तों को वाराहमिहिर ने, जिनका देहावसान ईसा संवत् ४८७ में हुआ, मान्यता प्रदान की थी।

गुप्त-शासन की विशेषताएँ

"गुप्त-काल," हैवल का कथन है, "राजनैतिक दृष्टि से इन्डो-आर्यों का अभ्युत्थान-काल कहा जा सकता है क्योंकि गुप्त सम्राट, असंदिग्ध रूप से, आर्य-क्षत्रपों की परम्परा के प्रतिनिधि और तुई, हूण, द्रविड तथा अन्य विदेशी जातियों के विरोधी प्रभावों से आर्य-हितों की रक्षा करने वाले थे। धार्मिक दृष्टि से इस काल में

वैष्णवमत का खूब प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप महाभारत के आर्य चरित-नायक श्रीकृष्ण ने प्रमुख स्थान प्राप्त किया। श्रीकृष्ण को लेकर इस काल में आर्य-धर्म का प्रतिपादन हुआ। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त—विशेषकर महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्त—विरोधी और विदेशी कैम्प के वासी बन गए थे। स्थापत्य और चित्रकला के क्षेत्र में यह काल उतना ही सम्पन्न था जितना साहित्य के क्षेत्र में। मन्दिरों के निर्माण में स्थापत्य-कला का—विशेष कर शिखर-रूपी मन्दिरों की कला का—विकास इस काल में अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया था। मन्दिरों के अलावा गुप्त-काल की शानदार स्थापत्य-कला का परिचय अजन्ता के पूर्वकालीन भवनों तथा पूजागृहों से मिलता है। अजन्ता के अद्भुत भित्ति-चित्र उस काल की चित्र-कला की आज भी हमें याद दिलाते हैं। इन भित्ति-चित्रों का महत्व केवल इसलिए नहीं है कि वे श्रेष्ठ कला-कृतियाँ हैं, बल्कि इसलिए भी है कि उनमें तत्कालीन जीवन के दृश्य मिलते हैं। उस काल में भारत की रचनात्मक प्रतिभा और बुद्धि का इन चित्रों से हमें पर्याप्त परिचय मिलता है।

हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान और संस्कृत साहित्य के इस अभ्युत्थान के चिन्ह हमें तीसरी और चौथी शती के प्रारम्भ तक दिखाई पड़ते हैं—यह वह काल था जब भारशिव और प्रारम्भिक वाकाटकों का शासन स्थापित था। अजन्ता के श्रेष्ठ चित्रों में कुछ वाकाटक कला के उदाहरण माने जाते हैं।

चीनी यात्री फाहियान

चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल के भारत की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक स्थिति पर चीनी यात्री फाहियान के वर्णनों से काफी प्रकाश पड़ता है। समय-समय पर भारत में चीन के विद्वान् आते रहे हैं जिनमें फाहियान, ह्यूएन्त्सांग और इत्सिंग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन तीनों में सब से पहले फाहियान ईसा संवत् ४०५ में भारत आए थे। भारत के विभिन्न केन्द्रों का आपने पर्यटन किया और लगभग ६ वर्ष तक यहाँ रहे। यहाँ के व्यक्तियों और वस्तुस्थिति का सही परिचय पाने के लिए ६ वर्ष की

अवधि काफी लंबी होती है। इस यात्रा का प्रमुख उद्देश्य बौद्ध धर्म सम्बन्धी पाण्डुलिपियों तथा अन्य पवित्र स्मृति-चिन्हों का संकलन करना था। यही कारण है जो फाहियान के वर्णन में बौद्ध धर्म सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। यह सब होते हुए भी, प्रसंगवश भारत की सामाजिक स्थिति का जो उन्होंने उल्लेख किया है, उससे पाँचवीं शती के गुप्त-साम्राज्य की अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मगध

फाहियान पाटलीपुत्र में तीन वर्ष तक रहे। पाटलीपुत्र राज-नगर था। यहाँ रह कर फाहियान ने संस्कृत का अध्ययन किया। अपने वर्णन में अशोक द्वारा निर्मित राजभवन का उन्होंने मंत्रमुग्ध होकर उल्लेख किया है। फाहियान के शब्दों में "मगध के निवासी धनवान तथा समृद्धिशाली हैं। दया-धर्म के कार्यों में एक-दूसरे से होड़ करते प्रतीत होते हैं। प्रतिवर्ष, दूसरे मास के आठवें दिन, वे रथयात्रा-उत्सव मनाते हैं।......वैश्य परिवारों के प्रमुख व्यक्ति जनसाधारण के लिए दानगृह और औषधालय बनवाते हैं।"

पाटलीपुत्र में केवल दो विहार थे जिनमें महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध भिक्षु रहते थे। ये भिक्षु अपने विषय के पण्डित थे और देश के विभिन्न भागों के शिष्य यहाँ आकर उनसे उपदेश ग्रहण करते थे। मथुरा और यमुना के तटवर्ती प्रदेशों में बौद्ध धर्म प्रसारित था, यद्यपि ब्राह्मण-धर्म के पुनर्जागरण के चिन्ह भी सर्वत्र दिखाई पड़ते थे।

मालवा

मालवा के सम्बन्ध में फाहियान ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया है कि तत्कालीन शासन दया-भाव से पूर्ण और जनप्रिय था। न किसी को कठोर दण्ड दिया जाता था और न अधिकारी गण को उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता पड़ती थी। जो दण्ड दिए जाते थे, या उस काल का जो दण्ड-

विधान था, वह कठोर न था। जनता साधारणतया बौद्ध जीवनचर्या का पालन करती थी। यद्यपि स्वर्ण-मुद्राएँ ढाली जाती थीं, किन्तु देश में कौड़ियों का चलन और व्यवहार पर्याप्त मात्रा में था।

ह्रासोन्मुखी प्रदेश

जहाँ एक ओर कुछ प्रदेश सम्पन्न थे, वहाँ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक बस्तियाँ ऐसी थीं जो खंडहर बन चली थीं और जिनका ह्रास शुरू हो गया था। उदाहरण के लिए बुद्ध गया चारों ओर जंगल से घिरा था; श्रावस्ती खंडहरों में परिवर्तित हो चली थी और कपिलवस्तु तथा कुशिनगर जनशून्य हो गए थे—बस्ती के नाम पर वहाँ कुछ बौद्ध भिक्षु रहते थे।

गुप्त साम्राज्य में, जहाँ तक हिन्दुस्थान का सम्बन्ध है, सड़कें पूर्ण रूप से सुरक्षित अवस्था में थीं; लेकिन दक्षिण में, फाहियान के कथनानुसार, एक तो पहाड़ी प्रदेश होने के कारण मार्ग कठिन था दूसरे अरक्षित अवस्था में होने के कारण बिना रक्षकों के यात्रा करना कठिन था।

फाहियान ने गांधार से ताम्रलिप्ति तक और कोशल से गया तक समूचे देश का पर्यटन किया था। इस समूची यात्रा में अन्य परवर्ती यात्रियों की तरह उसे एक भी दुर्घटना का शिकार नहीं होना पड़ा। मगध उस काल के प्रान्तों में सब से अधिक सम्पन्न था। उसमें बड़े-बड़े नगर बसे हुए थे और उसके निवासी धनवान तथा शीलवान थे। उनके हृदय उदार थे और एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने में ये किसी से पीछे नहीं थे। फाहियान ने महान् रथ-यात्रा-उत्सवों का और पाटलीपुत्र में अशोक के राजमहल का अच्छा वर्णन किया है जो उस काल में निश्चय ही अच्छी अवस्था में रहा होगा।

फाहियान की वापसी

फाहियान ईसा संवत् ४११ में ताम्रलिप्ति से सिंहल द्वीप और जावा के लिए रवाना हुए। ताम्रलिप्ति गंगा के मुहाने पर

उस काल का एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। बौद्ध धर्म और भिक्षुओं के जीवन का जो वर्णन फाहियान ने किया है, वह उसका अपनी आँखों देखा वास्तविक वर्णन है और उसकी पुष्टि हम उस विवरण से कर सकते हैं जो हमें सिंहल के महावंश ऐसे ग्रंथों से प्राप्त होता है।*

---

* फाहियान के वर्णन का अँगरेजी में अनेक विद्वानों ने अनुवाद किया है। इनमें एस० बील, डाक्टर लेगे, और डॉ० एच० ए० गाइल्स उल्लेखनीय हैं। 'दि ट्रेवल्स आफ फाहियान' का पुनः अनुवाद, जो डा० गाइल्स ने किया है, सर्वश्रेष्ठ है।

दसवाँ परिच्छेद

परवर्ती गुप्त-सम्राट् और हूण

[१]

परवर्ती गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त ईसा संवत् ४१५-४५५

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के यशपूर्ण शासन के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठा। अपने पिता के यश और प्रतिष्ठा के फलस्वरूप तीस वर्ष तक उसने अखण्डित राजशक्ति का उपभोग किया। पिता से प्राप्त उसका साम्राज्य तो जैसे-का-तैसा बना रहा, नवप्राप्त पश्चिमी प्रदेशों को भी उसने सुरक्षित रखा। उस काल के अभि-लेखों में उसकी शासन व्यवस्था के प्रमुख आधार कतिपय प्रान्तपतियों और अन्य अधिकारी वर्गों का उल्लेख है। इन लेखों से हमें उसकी उदारता का परिचय मिलता है। अश्वमेध-छाप के उसके दुर्लभ स्वर्ण सिक्कों से पता चलता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। लेकिन शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसके साम्राज्य पर संकट के बादल घिर आए थे। उत्तरी प्रदेशों में रहने वाले पुष्यमित्रों के आक्रमण के कारण यह संकट प्रस्तुत हुआ था। पुष्यमित्र बहुत ही युद्ध-कुशल और संघर्ष-प्रिय थे। उनके आक्रमण के सामने कुमारगुप्त का साम्राज्य न टिक पाता, लेकिन कुमार स्कन्दगुप्त ने अद्भुत साहस का परिचय दिया और काफ़ी कठिनाई उठा कर पुष्यमित्रों को पीछे हटाने तथा अपने राजघराने की रक्षा करने में समर्थ हुआ।*

---

* भिटारी शिला-लेख में जो 'पुष्यमित्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसके अर्थ के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। श्री एच० आर० दिवेकर का विचार है कि इस शिला-लेख के पद्य-भाग में जिन शत्रुओं का उल्लेख है, वे उन हूणों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं थे जिनका उक्त शिला-लेख के अन्त में उल्लेख हुआ है और जिनका वर्णन हमें अन्य उत्कीर्ण लेखों में भी मिलता है। [देखिए 'दि एनेल्स आफ़ भण्डारकर इन्स्टिट्यूट (१९१९-२०), भाग १, पृष्ठ १०३]

स्कन्दगुप्त ईसा संवत् ४५५—४६७

कुमारगुप्त का ईसा संवत् ४५५ में देहावसान हुआ। यह ठीक है कि वह योद्धा नहीं था, किन्तु एक बहुत बड़ा विद्या और कला प्रेमी था। उदार शासक के रूप में उसने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। उसके बाद उसके योग्यतम पुत्र ने, जो पुष्यमित्रों के आक्रमण को व्यर्थ करने में सफलता प्राप्त कर चुका था, उत्तराधिकार प्राप्त किया।

स्कन्दगुप्त का शासन-काल हिला देने वाली घटनाओं से पूर्ण रहा। ईसा संवत् ४५५ से ४६७ तक उसने राज्य किया। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और अपने साम्राज्य की प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया। इसके बाद उसे हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा करने के लिये शस्त्र संभालने पड़े। अपनी निर्ममता और निर्भीक युद्ध-प्रणाली के लिए हूण प्रसिद्ध थे। विनाशकारी महामारी की तरह उत्तर-पश्चिमी दर्रों से होकर ये सिंध की घाटी में घुस गए थे और जो कुछ उनके मार्ग में पड़ता उसे लूटपाट कर बराबर कर देते थे।

गुप्त-सम्राट् ने हूणों के इस भयानक टिड्डी दल का युद्ध-क्षेत्र में साहस के साथ मुकाबला किया और बर्बर आक्रमणकारियों को निर्णयात्मक रूप से पराजित किया। हूणों की इस पराजय के उपलक्ष में देवताओं के लिए बलि-अनुष्ठान किए गए। एक विष्णु-स्तम्भ का निर्माण कराया गया जो आज भी गाज़ीपुर ज़िले के भिटारी नामक स्थान में खड़ा है।

हूणों का यह आक्रमण सम्भवतः ईसा संवत् ४५८ से पहले हुआ था। सौराष्ट्र आदि अपने पश्चिमी सीमा प्रदेशों को आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए स्कन्दगुप्त काफी सतर्क रहता था। पर्णदत्त जैसे योग्य अधिकारियों की मदद से अपने पश्चिमी प्रदेशों पर उसने आँच न आने दी। पर्णदत्त सौराष्ट्र का प्रान्तपति था। उसके पुत्र ने सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण किया—दो वर्ष पूर्व बाँध टूट जाने के कारण जिसका पानी बेकाबू हो गया था।

हूणों का पुनः आक्रमण

कुछ समय तक आर्यावर्त में शान्ति रही, लेकिन स्कन्दगुप्त के

शासन के अन्तिम दिनों में हूणों ने अपने आक्रमण फिर शुरू कर दिए। गांधार या उत्तर-पश्चिमी पंजाब पर उन्होंने अधिकार कर लिया और सभ्यता के इन भीषण शत्रुओं ने देश के भीतरी भाग में बढ़ कर स्कन्दगुप्त के साम्राज्य के हृदय पर आक्रमण कर दिया। स्कन्दगुप्त ने उन्हें रोके-रखने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की, लेकिन दर्रों के पार से हूणों की नयी टुकड़ियों के आगमन और आक्रमण का क्रम जैसे टूटने ही न पाता था—यहाँ तक कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति और महान् साधनों के होते हुए भी गुप्त-सम्राट् के लिए उनके सामने टिके रहना कठिन हो गया और अन्त में उसे पराजित होना पड़ा।

हूणों के साथ स्कन्दगुप्त के इस परवर्ती संघर्ष पर प्रकाश डालने वाली ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। हूणों के आक्रमणों के फलस्वरूप साम्राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रही, यह उस काल के मुद्रा-ह्रास से स्पष्ट पता चलता है। इस काल की स्कन्दगुप्त की जो स्वर्ण मुद्राएँ मिली हैं, उनमें स्वर्ण की मात्रा १०८ ग्रेन से घट कर ७३ ग्रेन हो गई।*

स्कन्दगुप्त की शासन-नीति

हूणों के आक्रमणों से अस्तव्यस्त होने पर भी स्कन्दगुप्त एक महान् सम्राट् था जिसने अपने साम्राज्य की परम्पराओं की रक्षा करने में पूरी योग्यता का परिचय दिया था। जैसा हम देख चुके हैं, उसने समूचे उत्तरी भारत, गुजरात और सौराष्ट्र पर आँच न आने दी थी। उस काल के बौद्ध लेखक उसे अयोध्या का विक्रमादित्य कहते थे। उसने पाटलिपुत्र से हट कर अयोध्या को अपनी राजधानी बना लिया था। पाटलिपुत्र के मुकाबले में अयोध्या की भौगोलिक स्थिति अच्छी थी—वह अधिक केन्द्र में स्थित थी। उसका शासन-कार्य पश्चिम के गवर्नर पर्णदत्त जैसे योग्य अधिकारियों द्वारा नियमित और व्यवस्थित रूप से होता था।

सभी मतों और धर्मों के प्रति सम्राट् का व्यवहार उदार था।

* देखिए विन्सेन्ट स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया", चौथा संस्करण, पृष्ठ ३२८, और हैवल कृत "आर्य रूल इन इन्डिया", पृष्ठ १७४

यह बात दूसरी है और ठीक भी है कि प्रजा में उन धार्मिक भावनाओं की ओर अधिक झुकाव पाया जाता था जिनका पालन स्वयं सम्राट् करता था। यही कारण है जो काहौम के अभि-लेख में जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा का उल्लेख है—एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसका हृदय ब्राह्मणों के प्रति अनुराग से भरा हुआ था।

जहाँ तक सम्राट् का सम्बन्ध है, वह वैष्णव मत का अनुयायी था। लेकिन बौद्ध लेखकों ने उसका, सुप्रसिद्ध बौद्ध महात्मा वसुबन्धु के पक्के शिष्य के रूप में उल्लेख किया है। किन्तु, जैसा हैवल ने कहा है, इससे यह समझना गलत होगा कि उसने विष्णु की उपासना छोड़ दी थी। इसका सीधा अर्थ यह है कि वह कृष्ण के स्थान पर बुद्ध को अपना धर्मगुरु—मार्गदर्शक मानता था और उसका विश्वास था कि बुद्ध को अपना धर्मगुरु मान कर वह विष्णु की उपासना और अच्छी तरह से कर सकता है। उसने अपने ध्येय या इष्ट देवता को नहीं, वरन् इष्ट देवता तक पहुँचने के उपादान में परिवर्तन किया था। यह एक तरह का सामञ्जस्य था जो उसने अपने वर्तमान रूप और पूर्वजों की धार्मिक आस्थाओं के बीच स्थापित किया था। उसकी मुद्राओं पर धर्म प्रवर हिन्दू शासक के प्रतीक अंकित हैं और इस प्रकार वह उस विरोधाभास या कीर्तिवान पूर्वजों की आत्माओं के प्रति असम्मान की उस भावना से मुक्त हो गया जिससे उसके लिए बचना कठिन होता।*

गुप्त-साम्राज्य की स्थिति

साधारणतया समझा जाता है कि ईसा संवत् ४६७ में स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त-साम्राज्य का अवसान हो गया था। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। इस काल के साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि गुप्त-शासन, प्रत्यक्ष रूप में, एक शती बाद तक चलता रहा। बंगाल से पूर्वी मालवा तक, समूचे प्रदेश पर, उसके शासन की भुजायें फैली हुई थीं—यहाँ तक कि छठी शती के अन्त में भी, मालवा पर, एक गुप्त राजा शासन करता था।

---

* हैवल कृत 'आर्यन रूल इन इन्डिया', पृष्ठ १७२

दसवाँ परिच्छेद

पुरगुप्त और नरसिंहगुप्त—बालादित्य

स्कन्दगुप्त के बाद उसका सौतेला भाई पुरगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसका शासन अल्पकालिक, केवल पाँच वर्ष तक, रहा। उसके सिक्कों के विशुद्ध स्वर्ण से उसके साम्राज्य की सम्पन्न अवस्था का परिचय मिलता है। उसके सिक्कों पर श्री विक्रम की उपाधि अंकित है। वह अन्तिम गुप्त नरेश था जिसके नियंत्रण में पश्चिमी प्रान्त भी थे। उसके बाद साम्राज्य का विस्तार सौराष्ट्र—यहाँ तक कि पश्चिमी मालवा तक भी न रहा। उसके शासन-काल के कुछ ही बाद मैत्रक जाति के एक सरदार भट्टारक ने सौराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहाँ का सैनिक शासक बन बैठा। वह और उसके उत्तराधिकारी वल्लभि से, स्वतंत्र राजा के रूप में, शासन करते थे। इस वंश के तीसरे राजा ने, छठी शती के प्रारम्भ में, महाराजा की उपाधि धारण की, और इसी शती के दूसरे अर्द्धभाग में, इस वंश की एक दूसरी शाखा ने, पश्चिमी मालवा में अपना पाँव जमा लिया।

पुरगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। उसने बालादित्य की उपाधि धारण की। कुछ ऐतिहासिकों का कहना है कि बालादित्य ने हूण शासक मिहिर कुल की नृशंसता के विरुद्ध एक बहुत बड़ा मोर्चा स्थापित किया था।* लेकिन जो प्रमाण मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वह कोई दूसरा ही व्यक्ति था जिसने मिहिर कुल से लोहा लिया था।†

---

* देखिए वी० स्मिथ की 'हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इन्डिया', पृष्ठ २९३

† 'यहाँ यह ध्यान में नहीं रखा गया कि हुएन्त्साङ्ग ने जिस बालादित्य का उल्लेख किया है, वह तथागतगुप्त के तुरंत बाद ही उसका उत्तराधिकारी हुआ था और तथागतगुप्त खुद बुद्धगुप्त के बाद उत्तराधिकारी हुआ था जब नरसिंह गुप्त बालादित्य पुरगुप्त का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी था। पुरगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था और स्कन्दगुप्त के बाद सिंहासन पर बैठा। हुएन्त्सांग के अनुसार बालादित्य का पुत्र और उत्तराधिकारी वज्र और नरसिंह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी का नाम कुमारगुप्त द्वितीय था। अतः यह प्रत्यक्ष है कि मिहिरकुल का विजेता पुरगुप्त का पुत्र न होकर कोई दूसरा सर्वथा भिन्न व्यक्ति था। प्रकटादित्य का सारनाथ में जो उत्कीर्ण लेख

उनके उत्तराधिकारी

ई० स० ४७३ में या इसके लगभग नरसिंहगुप्त की मृत्यु हो गई, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इसके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय (मृत्यु ई० सं० ४७६-७) उत्तराधिकारी हुआ। पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय—इन सबका शासन अल्पकालिक, कुल मिलाकर दस वर्ष तक, रहा। कहा जाता है कि यह कुमारगुप्त वही है जिसका उल्लेख गुप्त संवत् १५४ (ई० सं० ४७३-४) के अभि-लेख में मिलता है। कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी बुद्धगुप्त हुआ। बुद्धगुप्त के समय के तिथि-अंकित लेख और सिक्के बहुसंख्या में मिलते हैं। इनसे पता चलता है कि उसने लगभग बीस वर्ष तक शासन किया। वह सम्भवतः कुमारगुप्त प्रथम का सबसे छोटा पुत्र और पुरगुप्त तथा स्कन्दगुप्त का भाई था। उसके राज्य में उत्तरी बंगाल, काशी और मध्य भारत के प्रदेश सम्मिलित थे। उसके सिक्कों पर भी वही विरुद अंकित हैं जो कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर पाए जाते हैं।

बालादित्य

बालादित्य बुद्धगुप्त का पौत्र था। उसके काल में तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने गुप्तों पर आक्रमण किया। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएन्त्सांग (ई० सं० ६२६-४५) ने लिखा है कि बालादित्य के सैनिकों ने मिहिरकुल को—जो हूण राजा तोरमाण का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था—गिरफ्तार कर लिया था और फिर, राजमाता के

मिला है, उसमें मध्यदेश के कई ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो बालादित्य की उपाधि (विरुद) धारण करते थे।" (देखिए एच० राय० चौधरी की "पोलीटिकल हिस्ट्री आफ इण्डिया," पृष्ठ ३६५-६)

कुमारगुप्त द्वितीय के बाद होने वाले राजाओं की, जिनका मगध के परवर्ती गुप्त शासकों के रूप में बहुधा उल्लेख मिलता है, निम्न सूची है:—

बुद्धगुप्त	कुमारगुप्त तृतीय	आदित्यसेन
तथागतगुप्त	दामोदर गुप्त	देवगुप्त तृतीय
बालादित्य	महासेन गुप्त	विष्णुगुप्त
कृष्णगुप्त	देवगुप्त द्वितीय	जीवितगुप्त द्वितीय
	माधव गुप्त	

आदेशानुसार, उसे मुक्त कर दिया था। 'बालादित्य' सम्भवतः प्रतापी भानुगुप्त का विरुद था—जो धरती के जीवों में सबसे अधिक साहसी, अर्जुन के समान शक्तिशाली, राजा था। उसके कारण मिहिरकुल को बाध्य होकर सम्भवतः काश्मीर के छोटे-से राज्य पर ही सन्तोष करना पड़ा। आगे चल कर मन्दसोर के जनेन्द्र यशोधर्म ने मिहिर-कुल के रहे-सहे प्रभाव का अन्त कर दिया। यशोधर्म के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने हिमाच्छादित हिमालय और पूर्व में ब्रह्मपुत्र तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। मन्दसोर में यशोधर्म का एक सुप्रसिद्ध स्तम्भ है। कहा जाता है—मिहिरकुल ने जो उस काल में हिमालय के किसी प्रदेश—सम्भवतः काश्मीर—पर शासन करता था, यशोधर्म के सम्मुख अपना मस्तक नत कर दिया था।

बालादित्य से संघर्ष होने से पूर्व मिहिरकुल सम्भवतः एक शक्तिशाली राजा था। गिरते-पड़ते भी उसने काश्मीर के सिंहासन और गांधार पर अपना अधिकार जमा लिया। लेकिन यशोधर्म के सम्मुख उसे पूर्णतः हार माननी पड़ी। यशोधर्म का आविर्भाव उल्का की तरह हुआ—एकाएक तेज गति के साथ उसकी ख्याति आसमान तक पहुँची और फिर, उतनी ही तेजी से, विलुप्त हो गई। उसके पूर्वजों और उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलता। "उसका नाम और अस्तित्व अपने-आप में अकेला, असम्बद्ध, दिखाई देता है। उसकी ख्याति केवल उसके अपने अतिशयोक्ति पूर्ण अभि-लेखों पर अंकित है।" डा० राय चौधरी के कथनानुसार यह असम्भव नहीं है कि यशोधर्म ने बालादित्य के पुत्र वज्र को पराजित कर मृत्यु के घाट उतार दिया। उसकी सफलता अल्पकालिक सिद्ध हुई। मन्दसोर अभि-लेख की तिथि (ई० सं० ५३३) के दस वर्ष के भीतर ही गुप्त-साम्राज्य का उसके शासनान्तर्गत प्रदेशों पर फिर से अधिकार स्थापित हो गया।

परवर्ती गुप्त-सम्राट्

मगध के गुप्त-वंशीय आदित्यसेन के अफसद वाले अभि-लेख में कई गुप्त नरेशों का उल्लेख है—कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त, जीवित-

गुप्त, कुमारगुप्त और उनके चार उत्तराधिकारी—दामोदरगुप्त, महासेन गुप्त, माधव गुप्त और आदित्यसेन। इनमें प्रथम चार सम्भवतः भानुगुप्त के समय, ई० सं० ५१० और ईशानवर्मन मौखरी के समय, ई० सं० ५५४ के बीच हुए थे। ईशान वर्मन मौखरी का कुमारगुप्त से संघर्ष रहता था। कुमारगुप्त को अपने पड़ोसी-राज्यों के विरोध का भी सामना करना पड़ा था। सबसे अधिक उसे कन्नौज के राजा मौखरी से लोहा लेना पडा—उत्तरी भारत के स्वामित्व के लिए जिससे जान तौल कर लड़ना पड़ा।

मौखरी और गुप्त-वंश के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित थे।* मौखरी वंश का चौथा राजकुमार ईशान वर्मन था। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी और आंध्रों, शुलिकों (चालुक्यों) गौड़ों पर विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने के फलस्वरूप सम्भवतः कुमारगुप्त के साथ मौखरी राजा का संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष में मौखरी-वंश ने गुप्तों पर निर्णयात्मक रूप से विजय प्राप्त कर ली थी, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि दामोदरगुप्त ने भी, जो अगला गुप्त-नरेश हुआ, इस संघर्ष को जारी रखा और संघर्ष में ही उसकी मृत्यु हुई। महासेनगुप्त ने थानेश्वर के प्रभाकर वर्द्धन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जिससे वह मौखरियों के आक्रमण से अपने को सुरक्षित रख सके। गुप्त-नरेश को कामरूप (आसाम) की बढ़ती हुई शक्ति के विरोध का भी सामना करना पड़ा और वहाँ के राजा सुस्थित वर्मन को पराजित करने में उसने सफलता प्राप्त की। महासेन ने अपने पुत्रों को प्रभाकर वर्धन के दरबार में भेजा था। उसका सबसे छोटा पुत्र, माधव-गुप्त, हर्ष वर्धन का समकालीन था।

ह्रास के चिन्ह

महासेनगुप्त और माधवगुप्त के बीच सम्भवतः देवगुप्त ने,

* ईशानवर्मन की माँ और नानी गुप्त-वंश की थीं और हर्षवर्धन के पिता प्रभाकर वर्धन की माँ भी गुप्त-वंश की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में गुप्त-वंश में जो विवाह हुए, पहले के लिच्छवि-विवाहों की तरह, वे भी राज्य-विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित थे।

जो मालवा के कुटिल शासक के रूप में प्रसिद्ध हुआ, शासन किया। उसके समय में थानेश्वर के वर्धनों ने गुप्तों को छोड़कर मौखरियों से सन्धि कर ली और प्रभाकर वर्धन ने अपनी कन्या का विवाह अवन्ती वर्मन मौखरी के सबसे बड़े पुत्र गृहवर्मन के साथ कर दिया। इस क्षति की पूर्ति के लिए देवगुप्त ने गौड़ नरेश से संधि कर ली और उसके साथ मिल कर मौखरी राज्य पर आक्रमण किया। इस संधि का हम आगे चल कर, हर्ष वर्धन की सफलताओं के प्रसंग में, वर्णन करेंगे।

अफसद के अभि-लेख में महासेनगुप्त के बाद जिस माधवगुप्त का उल्लेख है, वह हर्ष वर्धन का समकालीन और कन्नौज का छोटा (अधीन) मित्र था। हर्ष की मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य में आदित्यसेन ने फिर कुछ जान डाली। आदित्यसेन प्रतापी नरेश था और अश्वमेध आदि अनेक बलि-अनुष्ठान किए थे। उसने परम भट्टारक और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी। उसके विस्तृत राज्य का पता अनेक स्रोतों से मिलता है। उसके बाद तीन नरेश और उत्तराधिकारी हुए और तीनों ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस प्रकार यह सहज ही कहा जा सकता है कि ई० स० सातवीं शती उत्तरार्द्ध तक गंगा की घाटी के प्रदेश में गुप्त-नरेशों का सर्वाधिक प्रधान्य था, मौखरियों की नहीं। लेकिन बाद में गुप्तों को गौड़ों के कारण हट जाना पड़ा और गुप्त-वंश के हाथ में दूर स्थित छोटे-छोटे प्रदेश ही रह गए। उदाहरण के लिए कन्नड़ प्रदेश का उल्लेख किया जा सकता है।

गुप्त-शक्ति का पतन

गुप्त-शक्ति के पतन का क्रम बुद्धगुप्त (ई० स० ४७६-९६) के साथ सम्पूर्ण हो जाता है। उसके समय में गुप्तों के हाथ से गंगा की घाटी का (निचला) लोअर प्रदेश और नर्मदा का बेसिन निकल जाते हैं। छठी शती में गुप्तों को मौखरी नरेशों के साथ निरन्तर युद्ध करना पड़ा था। थानेश्वर के पुष्पभूति वंश से भी उनका विरोध था। हर्ष वर्धन के शासन-काल (ई० स० ६०६-४७) में, साम्राज्य निश्चित रूप से उनके हाथ से निकल गया और राजनीतिक महत्व का केन्द्र मगध न रह कर कन्नौज बन गया। हर्ष के बाद गुप्तों

की शक्ति ने फिर कुछ जोर पकड़ा, लेकिन यह जोर दीपक के बुझने से पूर्व के उजाले के समान था।

पतन के कारण

गुप्त-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने में हूणों के आक्रमण, पुष्य मित्रों के विद्रोह और प्रान्तीय शासकों तथा सामन्तों की स्वेच्छा-चारिता और निरंकुशता का हाथ था। इनके सिवा स्वयं राज्यवंश के भीतर मतभेद फैल गया था। बुद्धगुप्त और बालादित्य के समान कुछ नरेश बुद्ध के अनुयायी थे और उनके इस बौद्धानुराग ने साम्राज्य की राजनैतिक तथा सैनिक स्थिति को काफी हद तक प्रभावित किया था। मिहिरकुल पर विजय-प्राप्त करने के बाद मन्दसोर के यशोधर्मन का साहस बहुत बढ़ गया और उसने गुप्तों के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। छठी शती के मध्य में गंगा की ऊपरी घाटी में मौखरियों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली और गुप्तों के लिए भारी चिन्ता का कारण बन गए। इसी काल में बंगाल के शासकों ने भी विरोधी रूप धारण कर लिया और कर्ण सुवर्ण के गौड़ शासक शशांक ने, सातवीं शती के प्रारम्भ, में हर्ष वर्धन के विरुद्ध खुले रूप में विद्रोह घोषित कर दिया। इन सबसे ऊपर उभर कर आए हूणों के आक्रमण थे। स्कन्दगुप्त के शासन के प्रारम्भिक काल से उनके टिड्डी-दलों का धावा शुरू हो गया था और खदेड़ दिए जाने पर भी, पंजाब और पूर्वी मालवा पर उन्होंने अधिकार जमा लिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने मध्य प्रान्त में भी प्रवेश कर लिया था। जो कसर रह गई उसे गौड़ों ने पूरा किया और इस प्रकार गुप्त-साम्राज्य पूर्ण रूपेण छिन्न-भिन्न हो गया। आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में मगध के सिंहासन पर एक गौड़ नरेश ने अपना अधिकार कर लिया और इसके बाद, नवीं शती के प्रारम्भ में, मगध बंगाल के पाल राजाओं के अधिकार में चला गया।

[२]

भारत में हूणों का प्रभाव

प्रारम्भिक इतिहास

हूणों के सम्बन्ध में—उन हूणों के सम्बन्ध में जिन्होंने गुप्त-साम्राज्य की नींव को हिला दिया था—यहाँ हम अधिक

विस्तार से जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। ये एक विदेशी पर्यटनशील जाति के लोग थे और मूलतः मध्य एशिया के स्टेपीज़ के निवासी थे। चीनियों के साथ ये सम्बद्ध थे। जब इनकी आबादी बहुत बढ़ गई और जिस बंजर भूमि में ये रहते थे उससे काम न चला तो नये प्रदेशों की खोज में निकल पड़े। दो धाराओं में इस समूची जाति के लोगों ने अपने को बाँट लिया। इनकी एक धारा आक्सस की घाटी की ओर बढ़ी और दूसरी वोल्गा के प्रदेश की ओर। जो लोग आक्सस की ओर बढ़े वे श्वेत हूण कहलाए। मूल रूप में ये होआ या होतन कहलाते थे और आगे चल कर इन बर्बर लोगों ने येथाइली का नाम धारण कर लिया जिसका संक्षिप्त रूप येथा प्रचलित हुआ। ई० स० ४२० के लगभग इन्होंने आक्सस नदी को पार किया और फारस के साम्राज्य और पड़ोसी प्रदेशों के लिए एक स्थायी खतरा बन गए। फारस के शशानियन वंश का राजा बहराम प्रारम्भ में इन आक्रमणकारियों से लोहा लेने में सफल रहा, लेकिन ई० स० ४८४ में राजा फिरोज इनके आगे न टिक सका और अन्त में मारा गया।* फारस की इस पराजय के बाद हूणों के लिए भारत के द्वार खुल गए और उनका अगला आक्रमण काबुल के कुशाण राज्य पर हुआ।

तोरमाण

हम देख चुके हैं कि ई० स० ४५८ के लगभग हूणों ने स्कन्दगुप्त के शासन-काल में गुप्त-साम्राज्य पर एक असफल आक्रमण किया था। इसके दस वर्ष बाद, पहले से कहीं अधिक संख्या में, उन्होंने फिर गुप्त-साम्राज्य पर इतने भारी आघात किए कि साम्राज्य के घुटने टूट गए और हूणों का प्रवेश मध्य प्रान्त तक हो गया। हूणों के इन आक्रमणों का नेतृत्व सम्भवतः हूण सरदार तोरमाण ने किया था।

तोरमाण के सम्बन्ध में हम विश्वसनीय जानकारी प्राप्त कर

---

* महाभारत के भीष्म पर्व में इसका उल्लेख है कि हूण पर्शिया के वासी थे; कालिदास ने उनका वर्णन ऐसे देश के वासियों के रूप में किया है जहाँ केसर उत्पन्न होता है और जहाँ की भूमि को आक्सस (वांक्षु) नदी सींचती है।

सकते हैं। मध्य भारत में मगध उसके शासन में आ गया था, इस बात को सभी मानते हैं। उसकी रजत मुद्राएँ जिन-जिन स्थानों में मिली हैं, उनसे अनुमान होता है कि उत्तरी भारत के काफी भाग पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था। उसके अभि-लेखों और सिक्कों से हमने यह जानकारी प्राप्त की है। मध्य प्रान्त के एइन और ग्वालियर से लेकर पंजाब के नमक के पहाड़ों तक उसके अभि-लेख और सिक्के मिले हैं। उसके सिक्के शशानियन सिक्कों की नकल पर बने हैं। राजतरंगिणी में जिस तोरमाण का उल्लेख है, अगर यह वही है तो मानना होगा कि काश्मीर उसके राज्य में सम्मिलित था।

मिहिरकुल

तोरमाण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र मिहिरकुल हुआ (लगभग ई० स० ५०२)। उस काल में हिन्दुस्तान की स्थिति हूण साम्राज्य के अनेक प्रान्तों में से एक के समान थी। हूण साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हेरात के निकट बामयिन नामक स्थान था। कई बौद्ध और जैन लेखक इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मिहिरकुल भारत के शक्तिशाली सम्राटों में से था। उसके नाम से सब भय खाते थे और उसके क्रूर कृत्यों की याद उसके बाद भी बहुत दिनों तक ताजी बनी रही। काश्मीर पर उसने अपना क़ब्जा बनाए रखा और कहा जाता है कि उसने सुदूर स्थित सिंहल पर भी अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया था।*

*काश्मीर के इतिवृत्त में उसके इस आक्रमण का निम्न वर्णन सुरक्षित है—"उसने एक दिन देखा कि उसकी रानी सिंहल का बना हुआ कपड़ा अपने वक्ष पर डाले हुए है। इस कपड़े पर सिंहल के राजा की सुनहरी छाप लगी हुई थी। इस काल्पनिक अपमान से उत्तेजित होकर उसने निश्चय किया वह इस राजा का तख्ता उलट कर छोड़ेगा। फलत: वह सिंहल गया, वहाँ के राजा को उसने पदच्युत किया और वहाँ से लौटते उसने दक्षिण के चोल, करनाट, लटा तथा अन्य राजाओं की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने में सफलता प्राप्त की। जैन और बौद्ध धर्म के प्रति भी वह अत्यन्त क्रूरता के साथ पेश आया। जैन तथा बौद्ध ग्रंथों में इस क्रूरता का उल्लेख है। गुणभद्र नामक एक जैन लेखक ने शक राज और कल्कि राज के रूप में उसका उल्लेख किया है और

हूणों का पतन

मिहिरकुल शक्तिशाली था, लेकिन शीघ्र ही उसे एक संगठित विरोधी मोर्चे का सामना करना पड़ा। जैन लेखक गुणभद्र के शब्दों में 'मानव जाति का दमन करने वाले और दुर्जनों में अग्रणी' इस राजा के क्रूर कृत्यों ने सभी को विक्षुब्ध कर दिया। गुप्त-वंश के राजा बालादित्य ने सबसे पहले हूणों के दाँत खट्टे किए और युद्ध में उन्हें परास्त किया। पूर्ण रूप से मिहिरकुल को मन्दसोर के जनेन्द्र यशोधर्मन ने, ई० स० ५३३ से कुछ ही पूर्व, परास्त किया। कुछ लेखकों का कहना है कि यह यशोधर्मन और गाथाओं में प्रसिद्ध विक्रमादित्य दोनों एक ही व्यक्ति हैं, लेकिन यह वह विक्रमादित्य नहीं है जिसने विक्रम संवत् की नींव डाली थी।*

हूण साम्राज्य का अस्त

मिहिरकुल का इतिहास इसके बाद संक्षेप में बताया जा सकता है। बालादित्य ने उसे परास्त कर बन्दी बना लिया था, लेकिन जैसे भी हो, उसने अपने को मुक्त करा लिया। मुक्त होने के बाद अपनी राजधानी शाकल पहुँच कर देखा कि उस पर उसके एक भाई ने अधिकार जमा लिया है। इसके बाद उसने काश्मीर के राजा के यहाँ जाकर शरण ग्रहण की और आगे चल कर अपने शरणदाता काश्मीर के राजा को धोखा दिया—विद्रोह का षड्यंत्र रच उसे सिंहासन च्युत करने में उसने सफलता प्राप्त की। इस प्रकार वह काश्मीर का राजा बन बैठा।

उसकी जन्म-तिथि महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष बाद बताई है जो, के०वी० पाठक के अनुसार, ई० स० ४७२ होनी चाहिए। कहा जाता है कि उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया था। (देखिए दलाल कृत 'ए हिस्ट्री आफ इन्डिया, भाग २, पृष्ठ १५१-४)

* डाक्टर होएर्न्ले ने जे० आर० ए० एस (१६०६) में इस बात का विवेचन किया है कि यशोवर्धन और विक्रमादित्य एक थे और इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि ऐसा मानने के प्रबल कारण मौजूद हैं। कथासरित्सागर में एक विक्रमादित्य राजा का उल्लेख है जिसने म्लेच्छों के समूहों को मौत के घाट उतारा था—यहाँ तक कि फारस के राजा निमरुक को भी उसने परास्त किया था।

जैसा देख चुके हैं, इसी समय जब वह काश्मीर और आस-पास के प्रदेशों पर शासन कर रहा था, यशोधर्मना ने उस पर—हूणों पर—विजय प्राप्त की। कुटिल उपायों से प्राप्त काश्मीर के राज्य का उपभोग मिहिरकुल अधिक दिनों तक न कर सका, क्योंकि उसकी मृत्यु शीघ्र ही हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं रह सका। इस राज्य के आक्सस की घाटी वाले प्रदेश ५६३ और ५६७ के बीच तुर्क और पर्शियनों के संयुक्त आक्रमणों की ताब न ला सके और, परिणामतः, हूण-साम्राज्य का अधिकांश भाग तुर्कों के हाथ में चला गया।

चीनी यात्री शुंगयून

हूण भारत में कोई प्रत्यक्ष चिन्ह नहीं छोड़ गए। उनकी सभ्यता में ऐसी कोई बात न थी जिसे भारत के निवासी अपनाते। एक चीनी यात्री शुंगयून ने, जिसने ईसा संवत् ५२० में उत्तर-पश्चिमी भारत की यात्रा की थी, हूण-दरबार का वर्णन किया है। इस वर्णन में हूणों के आचार-व्यवहार और रीति-रिवाजों का रोचक विवरण मिलता है। शुंगयून के शब्दों में—"पहाड़ी नदियाँ एफथालाइटों की भूमि को सींचती और उपजाऊ बनाती हुई उनके घरों के सामने से बहती थीं। उनकी बस्तियों के चारों ओर परकोटे नहीं थे और अपनी सुरक्षा तथा शान्ति के लिए वे स्थायी सेना रखते थे। ये सेना बराबर यहाँ-वहाँ घूमती रहती थी। ये लोग फेल्ट-कपड़ों का प्रयोग करते थे। गर्मियों में पहाड़ों की ठंड में शरण लेते थे। जाड़ों में गाँवों में बिखर जाते थे। उनके पास कोई लिखित भाषा न थी और उनके आचार-व्यवहार के नियम दोष-पूर्ण थे। शालीनता से वे अधिक परिचित न थे। सौरमण्डल का उन्हें ज्ञान न था। वर्ष के विभाजन में उन्होंने महीनों को नहीं रखा था, न कोई अतिरिक्त मास उनके यहाँ था। साल को बारह बराबर भागों में उन्होंने विभाजित कर दिया था। सभी पड़ोसी जाति-राज्यों से वे नज़राना वसूल करते थे। पूर्व में कोहटान तक और पश्चिम में फारस तक—कुल मिला कर चालीस देशों से वे नज़राना उगाहते थे। संगीत के लिए उनके पास किसी प्रकार के कोई वाद्य-यंत्र न थे। राजघराने की

महिलाएँ राजसी वस्त्र पहनती थीं जो तीन फुट या इससे भी अधिक धरती पर लटकते चलते थे। अपने लंबे कपड़ों को संभाल कर चलने के लिए वे सेवकों की टोली रखती थीं। सिर पर आठ फुट या इससे भी लंबा सींग पहनती थीं। इस सींग का तीन फुट भाग लाल रंग से रंगा होता था। धनी और निर्धन सब का अपना अलग रंग का पहनावा होता था। इनमें बर्बरों की चारों जातियों (कबीलों) के लोग सम्मिलित थे। ये सब से अधिक शक्तिशाली थे। इनमें अधिकांश बुद्ध में विश्वास नहीं रखते थे, कृत्रिम देवताओं की पूजा करते थे। जीवित पशुओं को मार कर उनका माँस खाते थे। सात बहुमूल्य पदार्थों का वे प्रयोग करते थे—जिन्हें सभी पड़ोसी देश भेंट में लाते थे। हीरे भी उन्हें बहुसंख्या में मिलते थे।"*

भारतीय आबादी में हूणों का मिश्रण

शासक-जाति के रूप में यद्यपि हूणों का लोप हो गया, फिर भी एक शती पर्यन्त उनके आक्रमणों का उत्तरी भारत के समाज और उसकी आचार नीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। शासन-सत्ता का अन्त हो जाने के बाद भी हूणों के असम्बद्ध दल, पहाड़ी प्रदेशों में अपने सुरक्षित गढ़ बना कर, बिना किसी बाधा के, जीवन-यापन करते रहे। समय की गति के साथ-साथ उन्होंने 'राजा' की उपाधि धारण की और श्रेष्ठ इन्डो-आर्यन परिवारों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। "इसमें कोई सन्देह नहीं," हैवल का कहना है—"आज के राजपूतों में जो अनेक श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे उस विदेशी रक्त मिश्रण का परिणाम हैं जो चौथी से छठी शती तक, और बाद में भी, इन्डो-आर्यन समाज में होता रहा।" इसी विद्वान्—अर्थात् हैवल—का यह भी मत है कि इस जातीय मिश्रण के फलस्वरूप हिन्दुओं की आचार-नीति का स्तर भी बहुत कुछ गिरा है।

---

* देखिए बुद्धिस्ट रिकार्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग १, पृष्ठ xc—xcii ग्रीक-मिश्री सन्यासी कासमास ने राजा गोल्ला का वर्णन किया है जो हूणों पर शासन करता था (पाँचवीं शती के प्रारम्भ में) और सम्भवतः चीनी यात्री की भेंट उसी से हुई थी।

अनेक गंदी प्रथाओं के प्रचलन का बहुत कुछ यही कारण है। हैवल का तो यहाँ तक कहना है कि हूणों के भारत में प्रवेश के साथ ही आर्यों की राजनीतिक धारणाओं का भी पतन हुआ और जन-संगठनों—सभाओं आदि—का प्रभाव धीरे-धीरे क्षीण होता गया। परिणाम यह हुआ कि राजसत्ता उत्तरोत्तर निरंकुश होती गई। "पूर्वीय निरंकुशता तातार या मंगोलियनों की देन है। इन्डो-आर्यन परम्परा ने उसे कभी स्वीकार नहीं किया।"* ऐसा मानने के कारण हैं कि इस समय तक राजपूताना के प्रदेश में जो 'मेर' (Meirs) बस गए थे, वे या तो हूण-जाति की किसी प्रमुख शाखा का अंग थे या उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। राजपूताना में अनेक ऐसे नगर हैं जो इस कबीले के नाम 'मेर' के आधार पर रखे गए हैं—जैसे अजमेर, जैसलमेर कोमलमेर। लेखकों का एक वर्ग यह मानता है कि हूणों का भारतीय जनता पर उल्लेखनीय प्रभाव पडा।

वल्लभि के मैत्रक

गुप्त-साम्राज्य के पतन और हूणों के विस्फोट के फलस्वरूप अनेक प्रान्तीय राज्यों की स्थापना हुई। अगले परिच्छेद में हम इनका वर्णन करेंगे। इनमें एक प्रारम्भिक राज्य वल्लभि के मैत्रकों का था। यह सौराष्ट्र में स्थापित हुआ था। इसकी शक्ति २५० वर्ष से भी अधिक तक कायम रही। कहा जाता है कि ये लोग वेही थे जो मेहर या मेर नाम से, काफी शक्ति के साथ, राजपूताना और सौराष्ट्र के प्रायद्वीप भाग में बस गए थे। मिहिर अथवा मेहर (मेर) शब्द सूर्य का पर्यायवाची है। भटारक सेनापति इस वंश का संस्थापक था। वह और उसका उत्तराधिकारी धारसेन केवल सेनापति कहलाते थे। लेकिन इनके बाद जो द्रोणसिंह हुआ, उसने महाराजा की उपाधि धारण कर ली थी। द्रोणसिंह के बाद ध्रुवसेन हुआ। यह इस वंश का प्रथम महत्व पूर्ण राजा था। वह वैष्णव था और अभि-लेखों में उसका 'परम भागवत' कह कर उल्लेख किया गया है। उसके पूर्वाधिकारी शिव के उपासक थे और उसकी भतीजी बौद्ध थी। उसने वलंभि में एक मठ (विहार)

* देखिए हैवल कृत 'हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इन्डिया, पृष्ठ १७७।

बनवाया था। इस वंश के अनेक राजा बौद्धानुरागी थे और शिलादित्य, जो धर्मादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ, एक उल्लेखनीय शासक था। कन्नौज के राजा हर्ष का जब उदय हुआ और उसकी शक्ति बढ़ने लगी तो इस वंश का महत्व घट गया—घटता गया। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने इस बल्लभि राज्य और उसके राजा ध्रुवभट्ट का वर्णन किया है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

ईसा की सातवीं शती

हर्षवर्धन—चालुक्य और पल्लव

[१]

हर्षवर्धन और हुएन्त्सांग

हूणों के आक्रमण और बसने के फलस्वरूप जो गड़बड़ और उथल-पुथल हुई, उसने पुराने राजनीतिक विभाजनों और राज्यों में बहुत कुछ उलट-फेर किया। अनेक पुराने राज्य विलीन हो गए, उनकी जगह नये राज्यों ने जन्म लिया। इन नये राज्यों में एक पूर्वी काठियावाड़ में वल्लभी था। मैत्रक वंश इस पर राज्य करता था। यह वंश, मूलतः, हूण-मिश्रण का परिणाम था।* इसका संस्थापक भट्टारक सेनापति था। वह सम्भवतः गुप्तों की सेना का सेनापति था और स्वतंत्र होने के बाद भी अपनी इस उपाधि को धारण किये रहा। उसके पुत्र ईसा संवत् छठी शती के प्रारम्भ के लगभग तक शासन करते रहे। इन्होंने अपने को हिन्दू धर्म के रंग में रंग लिया था और सुविख्यात चीनी यात्री हुएन्त्सांग के समय में ये अच्छे क्षत्रिय माने जाते थे। हुएन्त्सांग ने ईसा संवत् ६४१-२ के लगभग पश्चिमी भारत की यात्रा की थी।

इस वंश का राजा ध्रुवसेन (ईसा संवत् ६२०—४०) थानेश्वर के सुप्रसिद्ध राजा हर्षवर्धन का दामाद था। अनेक आक्रमणों में उसने उसका साथ दिया था और उस समय प्रयाग में मौजूद था जब, चीनी यात्री हुएन्त्सांग की उपस्थिति में, दान-

---

* देखिए गत परिच्छेद का अन्तिम पैराग्राफ। साथ ही सी० वी० वैद्य कृत 'हिस्ट्री आफ मेडीविअल हिन्दू इण्डिया', भाग १, परिच्छेद ७।

महोत्सव का उसने आयोजन किया था। ध्रुवसेन के बाद उसका पुत्र धारसेन सिंहासन पर बैठा। उसने अन्य बड़ी-बड़ी उपाधियों के साथ चक्रवर्ती की उपाधि भी धारण की। उसकी राजधानी वलभी को, ईसा संवत् ७७५ के लगभग, अरबों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। इस प्रकार, तीन सौ वर्ष के शासन के बाद, राजधानी और समूचा राज्य, दोनों विलीन हो गए। इस वंश के अभि-लेखों से पता चलता है कि उत्तरी गुजरात और पूर्वी काठिया-वाड़, जो उनके शासनाधीन थे, सम्पन्न अवस्था में थे और उनका शासन सुव्यवस्थित तथा सुनियोजित था। धरती की नापजोख (बन्दोबस्त) सावधानी के साथ की गई थी और खेती का प्रबंध अच्छा था। व्यवसाय और विद्या की दृष्टि से वलभी एक अच्छा और उल्लेखनीय केन्द्र बन गई थी।

भीनमल के गुर्जर आदि

गुर्जरों का एक कबीला हूण-मिश्रण की देन था। राजपूताना के आबू पहाड़ के उत्तर-पश्चिम में भीनमल नामक प्रदेश में इन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। कैम्बे की खाड़ी पर भड़ौंच में भी इनका एक शाखा-राज्य स्थापित था। भड़ौंच में गुर्जरों का शासन छठी शती के मध्य से आठवीं शती के मध्य तक फलता-फूलता रहा। यहाँ ये सम्भवतः भीनमल से ही आए थे और वहाँ के राजा के अधीन भी थे। वलभी के शासकों के साथ-ही-साथ इनका भी लोप हो गया। उनके दान-कृत्यों से मालूम होता है कि वे सूर्य की उपासना करते थे। उनका नाम देश की धरती के साथ सदा के लिए डूब गया—आज भी वह प्रदेश गुजरात कहलाता है। आगे चल कर हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि भीनमल के गुर्जरों ने कन्नौज पर कैसे विजय प्राप्त की और नवीं शती में, उत्तर भारत में, सर्वोपरि सत्ता का स्थान उन्होंने कैसे प्राप्त कर लिया।

कन्नौज के मौखरी

मालवा और गंगा की घाटी में जो कतिपय राज्य स्थापित हो गए थे, उनमें कन्नौज के मौखरियों का राज्य अधिक महत्वपूर्ण

था।* मौखरी राजाओं का मगध के गुप्तों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। मौखरी वंश का चौथा राजा ईशानवर्मन था जो महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित था। वह और उसके पुत्र सर्ववर्मन—दोनों ने हूणों से घोर युद्ध किया। विंध्या से अवध और सुदूर पूर्व में बंगाल तक उनके राज्य का विस्तार था। मौखरियों ने मगध के कुछ भाग पर भी विजय प्राप्त कर ली थी और इनके वंश की एक शाखा गया के पास के प्रदेश पर शासन करती थी। सर्ववर्मन के उत्तराधिकारियों में एक राजा का नाम गृहवर्मन था। उसने हर्षवर्धन की बहन से विवाह किया था। वह मालवा के एक राजा द्वारा, ६०६ में, युद्ध करते हुए मारा गया।† जब सब से अन्तिम मौखरी राजा मारा गया तो उसकी विधवा स्त्री राज्यश्री, जो थानेश्वर के राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की बहन थी, बन्दी बना ली गई। राज्यबर्धन ने प्रतिज्ञा की कि वह अपनी बहन के इस अपमान का बदला लेगा। मालवा के राजा को उसने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, साथ ही स्वयं भी शशांक-द्वारा मारा गया।‡ शशांक मध्य बंगाल का राजा और मालवा के राजा का मित्र था। हर्ष ने, जो राज्यवर्धन का छोटा भाई था, इस पर प्रतिज्ञा की कि वह

* मौखरियों के सम्बन्ध में तीन स्रोतों से हमें तथ्यपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है—अफसद का शिला-लेख, देववर्णाक शिला-लेख और सर्ववर्मन का असीरगढ़ का मुहर-लेख।

† मालवा के यशोधर्मन की भाँति शशांक का उदय और अस्त उल्का की तरह हुआ था। उसने बंगाल के राज्य का विस्तार दक्षिण में गंजम और पश्चिम में कन्नौज तक कर लिया। मौखरियों और थानेश्वर के राजा की संयुक्त शक्ति का सामना करने के लिए उसने मालवा के राजा के साथ गठबन्धन किया। शशांक अपने प्रतापी सैनिक जीवन की छाप अपने पीछे छोड़ गया। कम से कम ईसा संवत् ६१६ तक उसने शान के साथ राज्य किया था।

‡ मगध के परवर्ती गुप्तों के अलावा सम्भवतः गुप्तों का एक अन्य वंश मालवा पर शासन कर रहा था जिसने अपनी सत्ता गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद स्थापित की थी और जिसका, प्रभुत्व के लिए, मौखरियों से बराबर संघर्ष चलता रहा। देखिए सी० वी० वैद्य कृत 'हिस्ट्री आफ मेडीविअल हिन्दू इन्डिया', भाग १, पृष्ठ ४०

अपने वंश के इस दोहरे अपमान का बदला लेगा।* सन्तानविहीन अपने बड़े भाई का वह स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। उसने तुरंत अपनी बहन की रक्षा की जो इस बीच बन्दीगृह से निकल भागी थी और विंध्या के जंगलों में छिपी हुई थी। इसके बाद सम्भवतः उसने शशांक को पराजित किया। राज्यश्री की ओर से कन्नौज और शेष मौखरी प्रदेशों को भी हर्ष ने अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार थानेश्वर के हर्ष महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने योग्य पद तक पहुँच गया।

हर्ष का थानेश्वर में राज्यारोहण

हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन दिल्ली के निकट थानेश्वर और धर्म क्षेत्र कुरूक्षेत्र के राजा थे। अपने वंश के वह चौथे राजा थे। बलभी के साथ-साथ ही इस राज्य वंश की भी स्थापना हुई थी। उसका लोहा सभी मानते थे—हूण, इन्दस के बेसिन के राजा और गुजरात तथा मालवा के कानून-आदि का बंधन न मानने वाले लटा—सब उनके दबाव का अनुभव करते थे। प्रताप शिला के नाम से वह प्रसिद्ध हुए, किन्तु ईसा संवत् ६०४ में ही, जब वह हूणों के विरुद्ध मोर्चा ले रहे थे, उनकी मृत्यु हो गई।

अपने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को उन्होंने हूणों से लड़ने के लिए भेजा था। राज्यवर्धन ने किस प्रकार हूणों को पराजित किया, किस प्रकार मालवा के गुप्त नरेश के साथ युद्ध किया और अन्त में किस प्रकार शशांक गौड़ के हाथों मारा गया, यह पहले ही कह चुके हैं। इसके बाद उसके छोटे भाई हर्ष ने युद्ध जारी रखा और इस प्रकार उसने अपनी चहुँदिग्विजय का श्रीगणेश किया। हर्ष ने पहला अभियान विंध्या की ओर किया और वहाँ कुछ जंगली सरदारों की सहायता से अपनी बहन की, उस अवसर पर जब वह अपने-आप को आग में झोंकने जा रही थी, रक्षा की। इसके बाद, एक बौद्ध सन्त के प्रभाव में, वह और उसकी बहन दोनों बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए।

हर्ष की दिग्विजय

अपने शासन के प्रथम ६ वर्षों में हर्ष को निरन्तर संघर्ष में

रत रहना पड़ा। यह वह समय था जब युद्ध-कला काफी प्रगति कर चुकी थी। हाथियों पर हौदे कसे जाते थे और सैनिक
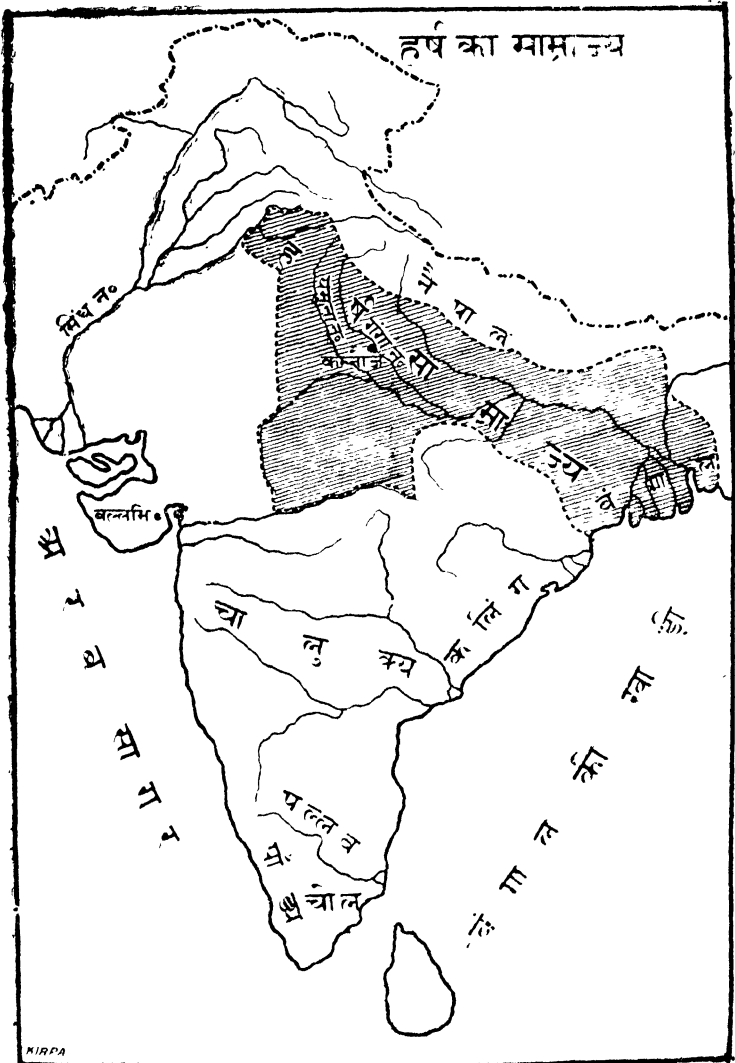
शिरस्त्राण पहनते थे। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने इस काल का प्रामाणिक वर्णन किया है। उसके कथनानुसार हर्ष ने 'पाँचों इन्डीज़'

पर विजय प्राप्त की थी।* ये पाँचों हिन्द थे—पंजाब, कन्नौज, गौड़, (बंगाल), मिथिला और उड़ीसा।

बाण के अनुसार, जो हर्ष के दरबार का सब से बहुमूल्य रत्न था, और जिसने अपने संरक्षक को केन्द्र बना कर संस्कृत में एक ऐतिहासिक प्रेम-गाथा 'हर्ष-चरित' लिखा था, हर्ष ने पश्चिमी बलभी को घुटने टेकने पर बाध्य किया। इसके अलावा कूच, सुराष्ट्र और सिंध पर भी उसने विजय प्राप्त की और आसाम का राजा तो प्रारम्भ से ही उसकी मित्रता और संरक्षण के लिए लालायित था। हर्ष ने नेपाल पर भी विजय प्राप्त की थी या नहीं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन सम्भवतः नेपाल ने उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था।† केवल विंध्या की ओर हर्ष की प्रगति में बाधा पहुँची और दक्षिण के नरेश पुलकेशी द्वितीय चालुक्य ने उसका विरोध किया।

इसी चालुक्य नरेश के हाथ से हर्ष ने बलभी को छीना। ईसा संवत् ६२० में हर्ष ने विंध्या की ओर प्रस्थान किया। अन्तिम युद्ध जिसका हर्ष ने संचालन किया और जिसका उल्लेख मिलता है, ईसा संवत् ६४३ में गंजम में हुआ था। इसके बाद उसने अपना कवच उतार कर अलग रख दिया और अपने जीवन का शेष भाग शान्ति-स्थापन तथा धर्म-कार्य करने में बिताया।‡ अशोक का हृदय तो एक ही युद्ध—

* देखिए टी० वाट्टर्स कृत 'ऑन युवान च्वाङ्ग ट्रैवल इन इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ३४३—४

† नेपाल के राजा अंशुवर्मन ने अपने अभि-लेखों में श्री हर्ष संवत् (जो ईसा संवत् ६०६—७ में प्रारम्भ हुआ) का प्रयोग किया है। इस संवत् का उस काल में उत्तर भारत में व्यापक प्रचलन था। इन अभि-लेखों में उसका वर्णन सामन्त या महासामन्त के रूप में हुआ है। नेपाल के इतिवृत्तों से पता चलता है कि उसके राज्यारोहण से ठीक पूर्व विक्रमादित्य नेपाल आया था और उसने अपने संवत् को वहाँ स्थापित किया था। सम्भवतः विक्रमादित्य से यहाँ आशय हर्ष के नेपाल आक्रमण से है। तभी से यहाँ श्रीहर्ष-संवत् का प्रयोग शुरू हुआ होगा।

‡ देखिए वी० ए० स्मिथ कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया, चौथा संस्करण, पृष्ठ ३५७।

कलिंग युद्ध—से विरक्त हो गया था, लेकिन हर्ष ने अपने जीवन के सैंतीस वर्ष युद्ध-क्षेत्र में बिताए—ईसा संवत् ६०६-४३ तक—जिनमें ६ वर्ष तक तो उसने निरन्तर, अबाध गति से, युद्ध किया और शेष वर्षों में, बीच-बीच में, कुछ अवकाश भी मिलता रहा। इतने वर्षों तक युद्ध करने के बाद उसका मन भरा और उसने अपनी तलवार को म्यान में रख लिया।

हर्ष के साम्राज्य में गंगा की घाटी का समूचा प्रदेश, बंगाल के कुछ भाग को छोड़ कर, उड़ीसा और पंजाब का कुछ भाग, राजपूताना और मध्य भारत, सम्मिलित था। दक्षिण में नर्मदा तक और पश्चिम में मालवा, गुजरात और काठियावाड़ तक उसका प्रभाव स्थापित था। इन प्रदेशों का शासन, वस्तुतः, स्थानिक राजाओं के हाथ में था। हर्ष के साम्राज्य की नींव केवल सैनिक बल पर नहीं पड़ी थी, बल्कि उसका व्यापक प्रभाव और मित्रतापूर्ण व्यवहार भी काम करता था। उसकी सेना प्रमुखतः हाथी, घोड़ों और पैदल सैनिकों से बनी थी। चीनी यात्री का कहना है कि शान्ति काल की उसकी सेना में ६० हज़ार हाथी और एक लाख घोड़सवार थे। सैनिक लंबे भालों और चौड़ी ढालों, फरसों, तलवार और तीरों से सुसज्जित रहते थे। हाथी प्रमुखतः भेंट में मिलते थे, उन्हें जंगलों से भी पकड़ कर मँगवाया जाता था। घोड़े दूर स्थित देशों, फारस आदि, से मँगवाए जाते थे। सेना में ऊँटों का भी प्रयोग होता था।

हर्ष की निरीक्षण-यात्राएँ

अपने राज्य के विभिन्न प्रदेशों का निरीक्षण करने के लिए हर्ष बहुधा यात्रा करता था। ये यात्राएँ पूरे राजसी ठाठ-बाट के साथ होती थीं। साथ में अधीनस्थ सरदार और बहुत से अनुचर रहते थे। ह्वेनत्सांग का हर्ष से प्रथम साक्षात्कार उस समय हुआ जब वह अपनी गंजम और उड़ीसा यात्रा से लौटा था। हर्ष अत्यधिक व्यस्त रहता था। "अपने दिन के तीन भागों में उसने विभाजित कर रखा था—जिनमें एक भाग राज्य और धर्म के कार्य के लिए नियत कर दिया था।"

ग्यारहवाँ परिच्छेद

शासन की व्यवस्था

मंत्रियों की एक परिषद् राज-कार्य में हर्ष की सहायता करती थी। पदाधिकारियों की संख्या भी काफी थी जिन्हें पारिश्रमिक जागीर के रूप में मिलता था। सैनिकों को उनका वेतन नगद दिया जाता था। सरकारी आय राज्य-भूमि के कर से होती थी। इसका एक चौथाई बड़े-बड़े पदाधिकारियों के पास भेंट-स्वरूप चला जाता था और दूसरा चौथाई सरकारी और सार्वजनिक पूजा-कार्यों के मद में जाता था। बड़े-बड़े जनहित के निर्माण-कार्यों में मज़दूरों को श्रम करने के लिए बाध्य किया जाता था, लेकिन इस बाधित श्रम की उन्हें मज़दूरी दी जाती थी। हुएन्त्सांग के कथनानुसार—शासन-कार्य ईमान्दारी के साथ किया जाता था और ्रजा सन्तुष्ट थी, लोगों का एक-दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार होता था और उनका नैतिक आचरण विशुद्ध था। उस काल का दण्ड-विधान काफी कड़ा था। कितने ही अपराधों का दण्ड अंग-च्छेद के रूप में दिया जाता था। कुछ अपराध ऐसे भी थे जिनके लिए लोगों को नगर से बाहर निकाल दिया जाता था और जंगल में रहने के लिए वे बाध्य होते थे। कर का बोझ हल्का था। पैदावार का एक-छठा भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। आयात कर भी भारी नहीं था जो सीमा-स्थित चुंगीघरों पर वसूल किया जाता था। नदी और स्थल-मार्ग से आने वाले सामान पर कर लिया जाता था।*

---

* चीन की तुलना में हुएन्त्सांग को भारत में कर का बोझ हल्का प्रतीत हुआ। यही बात यहाँ की शासन व्यवस्था के बारे में भी उसे प्रतीत हुई। उसने इसका उल्लेख किया है कि व्यक्तियों से बेगार नहीं ली जाती थी और बेगार-प्रथा नाम की यहाँ कोई चीज़ नहीं थी। पुरस्कार या भेंट-रूप में धरती का दान बहुधा किया जाता था और पदाधिकारियों के साथ यह रियायत साधारण बात हो गई थी। सरकारी आय चार मदों में विभाजित थी - (१) सरकारी खर्च और धार्मिक कृत्यों के लिए (२) उच्च अधिकारियों की सहायता के लिए (३) विद्वानों को पुरस्कृत करने के लिए (४) विभिन्न सम्प्रदायों को भेंट करने के लिए। भूमि-कर पाँच प्रकार का था—तुला-मापा—पैदावार का एक भाग, नगद या सेवा के रूप में। इसी तरह अन्य कई रूपों में भी कर वसूल

ह्युएन्त्सांग का वर्णन

हर्ष की शासन-व्यवस्था और उसकी प्रजा की स्थिति का ह्युएन्त्सांग ने बहुमूल्य और सच्चा वर्णन किया है। विदेशों में भारत ब्राह्मण-देश के नाम से प्रसिद्ध था। शिक्षित वर्ग की भाषा संस्कृत थी जिनमें बौद्ध भी सम्मिलित थे; और श्रेष्ठ कोटि की संस्कृत का—लिखित तथा भाषित रूप में—उन दिनों प्रचार था। ब्राह्मणों के अनेक सम्प्रदाय उन दिनों पाए जाते थे—संन्यासी दार्शनिक थे और जैन मतावलम्बी तो थे ही। "बौद्ध धर्म में उन दिनों ह्रास के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे थे जब ब्राह्मण अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था में थे। महायान और हीनयान—बौद्धों के इन दो सम्प्रदायों में विभाजित होने पर ही समाप्ति नहीं हुई, वरन् बौद्ध और भी आगे बढ़कर छोटे-छोटे अठारह दलों में विभाजित हो गए। इन दलों का अपना अलग-अलग साहित्य था जो उनके अपने-अपने मठों और विहारों में तैयार हुआ था।" * बौद्ध मठ काफी संख्या में थे और शिक्षा के केन्द्रों के रूप में प्रसिद्ध थे। इन मठों में विशेषज्ञों को तैयार किया जाता था। साधारण यात्री भी बाहर से आकर इनमें अध्ययन करते थे। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय मठ बुद्ध गया का महाबोधि मठ था। इसमें १००० बौद्ध संन्यासी रहते थे जो अपने विनयानुशीलन के लिए प्रसिद्ध थे। नालन्दा का मठ बहुत बड़ा और विख्यात था। यह उस काल के भारत का विद्या-केन्द्र बन गया था।† इसमें दस हजार विद्यार्थी और डेढ़ हज़ार

किया जाता था। (देखिए 'ऑन युवान च्वांग,' टी० वाट्टर्स कृत, भाग १, पृष्ठ १७६-७ और यूसुफ अली कृत मेडीविअल इन्डिया, पृष्ठ २१,

* देखिए आर० मुकर्जी कृत "मैन एन्ड थाट इन एन्शेन्ट इन्डिया", पृष्ठ १७१।

साथ ही उनकी दूसरी पुस्तक "हर्ष (रूलर्स आफ इन्डिया) का पाँचवाँ परिच्छेद देखिए।

† नालन्दा के शिक्षक और विद्यार्थी किसी एक सम्प्रदाय या पंथ के अनुयायी न होकर सभी प्रकार के होते थे और उनमें बहुधा वादविवाद खंडन-मंडन और शास्त्रार्थ चलता रहता था। इस वादविवाद के फलस्वरूप इस विश्वविद्यालय के बौद्धिक जीवन का स्तर बहुत ऊँचा था। अध्ययन और

शिक्षक रहते थे जो ऐहिक विषयों को भी शिक्षा देते थे—यहाँ तक कि ब्राह्मणों के विद्याध्ययन का भी यहाँ समुचित प्रबन्ध था। इस तरह के मठों और शिक्षण-संस्थाओं के फलस्वरूप देश में शिक्षा का व्यापक प्रसार हो गया था। ब्राह्मणों का देश में प्राधान्य था और इनके अनुयायी अनेक पंथों और सम्प्रदायों में बँट गए थे। इनमें एक सम्प्रदाय संन्यासियों और योगियों का था जिनमें अनेक श्रेणियाँ—जैसे कापालिक आदि—हो गई थीं। चीनी यात्री ने जितने मठों को देखा उनमें प्रत्येक में महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों के भिक्षुओं के अलावा देव-मन्दिरों और ब्राह्मणों के विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति साथ साथ रहते थे। ब्राह्मणों के देवताओं में विष्णु, शिव और सूर्य सबसे अधिक जन-प्रिय थे।

सामाजिक जीवन

कन्नौज को हर्ष की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त था। अपने इस गौरव के अनुकूल ही यह नगर मीलों तक गंगा के तट पर फैला हुआ था। उद्यान-वाटिकाएँ और सरोवर भी इसमें अनेक थे। इस काल के सभी नगर प्रायः ईंटों के परकोटे से घिरे होते थे। इन परकोटों की दीवारों पर गुम्बद बने होते थे। धनी व्यक्तियों के घरों में बड़े-बड़े कमरे होते थे और इनकी पक्की छतें होती थीं। गरीब लोगों के घर ईंट या लकड़ी के होते थे और उन पर छप्पर छाये रहते थे। राज मार्ग के किनारे दूकानें बनी थीं और

वादविवाद में उनके दिन बहुत तेजी के साथ बीत जाते थे और उनका मन कभी नहीं अघाता था। रात-दिन वे इसी में लिप्त रहते थे—गुरु और शिष्य छोटे और बड़े एक-दूसरे को पूर्ण बनाने में सहायक होते थे। इस काल के महान् पंडितों में धर्मपाल—नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान, चन्द्रपाल जिन्होंने बुद्ध के उपदेशों के साथ अपनी प्रतिभा का संयोग कर सोने में सुगंधि की कहावत को चरितार्थ किया था, अद्भुत तार्किक प्रभामित्र, सम्भाषण-पटु जीविमित्र, आदर्श चरित्र और कुशाग्र बुद्धि ज्ञानचन्द्र, अपने समय के ज्ञानोदधि शीलभद्र आदि थे। नालन्दा के पाठ्य विषयों में ब्राह्मणों के शास्त्र, वैद्यक और ज्योतिष भी सम्मिलित थे। (देखिए मुकर्जी कृत 'हर्ष', परिच्छेद पाँचवाँ)

हीन पेशा करने वाले लोग—वधिक, भंगी और मछिहारे—नगर से बाहर रहते थे। मुद्रा-रूप में सोने-चाँदी के सिक्कों और कौड़ी तथा छोटे मोतियों का व्यवहार होता था। प्रत्येक जाति या वर्ग का अपना पेशा होता था और उद्योग-धंधे संघ आदि के रूप में व्यवस्थित थे। सभी लोग, विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय, अपने पवित्राचरण और सीधे-सादे स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे। ऊँचे वर्ग की स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थीं। उदाहरण के लिए हर्ष की बहन राज्यश्री ने बौद्ध संत दिवाकरमित्र से शिक्षा प्राप्त की थी और महायान-सिद्धान्तों पर हुएन्त्सांग के प्रवचनों को वह भलीभाँति समझ और सराह सकती थी। कन्याओं का विवाह छोटी आयु में होता था और सती की प्रथा उन दिनों प्रचलित थी।

विदेश-यात्राएँ

समुद्री यात्रा उन दिनों एक साधारण बात थी। हर्ष ने एक ब्राह्मण को अपना राजदूत बना कर चीन भेजा था। चीन का समुद्री-मार्ग उन दिनों एक जाना-पहचाना मार्ग था। "हर्ष के काल में विदेश-यात्राएँ काफी होती थीं—यहाँ तक कि इसे हम विदेशी यात्राओं का युग कह सकते हैं। जावा भारत का उपनिवेश बन गया था। भारत के पश्चिमी गुजरात-तट से लोग काफी संख्या में बाहर जाते थे। उनके बाहर जाने का एक प्रमुख कारण देश की अस्थिर राजनीतिक स्थिति भी थी। बाहर जाने वालों में अधिकतर कारीगर होते थे। बोरोबदुर और प्राम्बनाम के स्मृतिस्तम्भ, जो भारतीय कला के श्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं, इन्हीं कारीगरों की देन हैं।"*

बौद्ध धर्म का संरक्षण

शासन-काल के प्रारम्भ से ही हर्ष का बौद्ध-धर्म की ओर झुकाव था।† बाद में, हुएन्त्सांग के प्रभाव और शिक्षा के कारण,

---

* देखिए आर० के० मुकर्जी कृत "मैन एन्ड थाट इन एन्शेन्ट इन्डिया," पृष्ठ १६०-१, और 'हर्ष', पाँचवाँ परिच्छेद।

† बाण के अनुसार हर्ष बौद्ध धर्म में बौद्ध भिक्षु दिवाकरमित्र के प्रभाव से दीक्षित हुआ था। वह और उसकी बहन दिग्विजय के बाद बौद्ध धर्म में दीक्षित

महायान सम्प्रदाय की ओर वह स्पष्टतः, उल्लेखनीय रूप में, आकृष्ट हुआ। इस मत को आगे बढ़ाने के लिए उसने कन्नौज में महती धर्म-सभा का आयोजन किया जिसमें सभी करद राजाओं, बौद्ध भिक्षुओं, विद्वानों, ब्राह्मणों और जैन पण्डितों को निमंत्रित किया। राज्याश्रय में होने के कारण हुएन्त्सांग का प्रभाव, अन्य प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों और मतों के मुकाबले में, अधिक था और उसका पलड़ा भारी रहता था। हर्ष इस तरह की धर्म-सभाओं का प्रति वर्ष आयोजन करता और उनमें बौद्ध भिक्षुओं को विशेष रूप से निमंत्रित करता था। निमंत्रित भिक्षुओं में जो सर्वश्रेष्ठ होते उनका वह अपने गुरु की तरह आदर-सम्मान करता था। बौद्ध मठों को उसने बहुत-सी भेंटें दी थीं। कन्नौज के निकट एक बहुत बड़ा बौद्ध मठ था। इस मठ को उसने काश्मीर से लाया हुआ भगवान् बुद्ध का दाँत प्रदान किया था। नालन्दा विश्वविद्यालय के चार अच्छे महायान-प्रचारकों को उसने हीनयानों के प्रभाव को रोकने के लिए उड़ीसा भेजा था। हर्ष के काल में कन्नौज बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा केंद्र था।

प्रयाग की पञ्चवर्षीय सभा

साधारणतया अन्य सम्प्रदायों और मतों के प्रति हर्ष का व्यवहार उदार था। प्रति पाँचवें वर्ष वह एक महती सभा का—जो मोक्ष-महा-परिषद् कहलाती थी—आयोजन करता था। यह सभा प्रयाग में होती थी। वहाँ वह अपना सम्पूर्ण धन दान में बाँट देता था। हुएन्त्सांग ने इस सभा का छठा अधिवेशन देखा था। इस सभा में सभी देवता—बुद्ध, शिव, सूर्य आदि—समान रूप से सम्मानित किए गए थे।

प्रति वर्ष सम्राट् सभी बौद्ध भिक्षुओं को बुलाता था और ये आपस में वाद-विवाद करते थे। इस वाद-विवाद में खरे-खोटे की परख थी। वाद-विवाद के बाद सम्राट् योग्य भिक्षुओं को

हुए थे। महायान सम्प्रदाय की ओर उनका निश्चित झुकाव हुएन्त्सांग के कारण हुआ था। हुएन्त्सांग ने हीनयान सम्प्रदाय के जब दोष दिखाए तो वह उसकी ओर से विरक्त हो गया और महायान सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हुआ। (देखिए मुकर्जी कृत 'हर्ष', पृष्ठ १४२-३)

पुरस्कार प्रदान करता था और जो भिक्षु गलती करते उन्हें दण्ड देता था। कहा जाता है कि सम्राट् प्रतिदिन १००० बौद्ध भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों को भोजन देता था। राजमार्गों और अतिथि-शालाओं का भी उसने निर्माण किया था जिनमें निर्धनों को बिना शुल्क के औषधि वितरित होती थी और यात्रियों के भोजन-पानी का प्रबंध होता था। उसके जीवनी-लेखक बाण ने सार्वजनिक हित के लिए किए गए उसके कार्यों की मुक्तकण्ठ से सराहना की है और उसकी मानवता को बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

सम्राट् बहुत बड़ा विद्याप्रेमी था और विद्वानों का आदर करता था। वह स्वयं कवि था और उसका रचना-कौशल ऊँची श्रेणी का होता था। अपने दरबार के साहित्य-रत्नों को काव्य-रचना के लिए वह बराबर प्रोत्साहित करता था। उसने एक बौद्ध नाटक 'नागानन्द' लिखा था। विद्वानों का कहना है कि इसके अतिरिक्त हर्ष ने संस्कृत में दो नाटक और लिखे थे।* राज्य भूमि के कर का लगभग एक चौथाई भाग विद्वानों को पुरस्कृत करने में चला जाता था और चौथाई का उपयोग धार्मिक व्यक्तियों के लिए होता था। शान्ति, संस्कृत और धर्म के क्षेत्र में उसके ये सब प्रयत्न उसकी सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की ओर इंगित करते हैं। इस सुव्यवस्था का अधिकांश श्रेय स्वयं सम्राट् को देना चाहिए—वही इस प्रणाली का प्रधान केन्द्र था।

सम्राट् की मृत्यु

चीनी ऐतिह्य के अनुसार हर्ष की मृत्यु ईसा संवत् ६४८ से पूर्व होनी चाहिए—या तो ६४६ के अन्त में या ६४७ के प्रारम्भ में।

---

* ये दो नाटक 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' हैं। कहा जाता है कि हर्ष ने एक व्याकरण-सम्बन्धी ग्रंथ भी लिखा था और उसने ५०० कविताओं में जातक-कथाओं का भी एक संकलन तैयार किया था। इस संकलन का नाम जातकमाला था। इस संकलन के रचयिताओं में सुप्रसिद्ध आर्यासुर भी था जिसकी लिखावट बहुत सुन्दर होती थी। बांसखेड़ा में जो ताम्रपत्र मिला है, कहा जाता है कि उसकी सुन्दर लिखावट हर्ष के ही हाथ की लिखी हुई है। उसकी बहन राज्यश्री भी अपने भाई के समान ही प्रतिभावान थी और चीनी यात्री के उपदेशों को भली भांति हृदयङ्गम कर लेती थी।

भारत से हुएन्त्सांग के विदा होने के बाद अधिक दिनों तक हर्ष जीवित नहीं रहा। उसकी एक कन्या थी जिसका विवाह वलभी-नरेश से हुआ था। बाण के कथनानुसार उसके एक पुत्र भी था। लेकिन सम्भवतः अपनी मृत्यु के बाद वह कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ गया और उसका राज्य अशान्ति तथा अराजकतावाद में डूब गया था। जो कसर रह गई, उसे भुखमरी ने पूरा कर दिया। हर्ष के सिंहासन पर उसके मंत्री अर्जुन ने अपना अधिकार जमा लिया। एक चीनी ग्रंथ के अनुसार उसने एक चीनी मिशन का अपमान किया जिसके फलस्वरूप तिब्बत के नरेश ने उसे ताड़ना भेजी थी।

हुएन्त्सांग के भारत-वर्णन का मूल्य

हुएन्त्सांग—जिसका उच्चारण युवान च्वांग भी होता है—जितने भी चीनी यात्री भारत में आए, उनमें सब से अधिक समादृत हुआ। बौद्ध विद्वान् के रूप में उसकी ख्याति सभी बौद्ध देशों में पहुँच गई थी। अपनी यात्राओं में उसने पन्द्रह वर्ष व्यतीत किए थे। ईसा संवत् ६२९ से ६४५ तक वह चीन से बाहर रहा और बहुत से बौद्ध स्मृति-चिन्हों के साथ अपने घर लौटा। अपने साथ बौद्ध ग्रंथों की बहुत सी पाण्डुलिपियों को भी वह लेता गया। भारत के प्रायः प्रत्येक भाग की उसने यात्रा की थी—केवल सुदूर दक्षिणी भाग को छोड़ कर; और उसने अपनी यात्रा के संस्मरण 'रिकर्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड' नामक ग्रंथ में लिखे हैं। अंग्रेज़ी तथा अन्य योरपीय भाषाओं में इस ग्रंथ के अनुवाद हो चुके हैं। इस ग्रंथ में उसने केवल तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था का ही वर्णन नहीं किया है, वरन् उस प्राचीन परम्परा का भी वर्णन किया है जो, यदि वह शब्द-बद्ध न करता तो, शायद अतीत के गर्भ में सदा के लिए विलीन हो जाती। उसका यह ग्रंथ सही जानकारी का ज़खीरा है जिसकी कोई भी पुरातत्ववेत्ता उपेक्षा नहीं कर सकता। इस ग्रंथ ने, लुप्त इतिहास को प्रकाश में लाने में, वह काम किया है जो भूतलविशारदों की हाल की खोजें भी नहीं कर सकी हैं।*

---

* देखिए वी० ए० स्मिथ कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया (चौथा संस्करण), पृष्ठ १४-१५

चीनी यात्री के चरित्र का पता हमें उसके जीवन-चरित से मिलता है जिसे उसके मित्र हुईली ने लिखा है—"उसमें नैतिक और बौद्धिक बल का दुर्लभ संयोग था। यह विशेषता उन्हीं चीनियों में मिलती है जिनका व्यक्तित्व विकसित तथा महान् होता है।"* वह योगी था, लेकिन संकुचित अर्थों में नहीं। वह अपने अथवा किसी दूसरे के मन और शरीर को सुखाना—दुःख पहुँचाना—नहीं चाहता था। उसका हृदय उदार था। बौद्ध चमत्कारों के प्रति उसके हृदय में कोमल—कमज़ोर—स्थल था, सहज ही वह उन्हें स्वीकार कर लेता था, लेकिन बिना किसी जाँच-पड़ताल के वह अन्य चीज़ों को ग्रहण नहीं करता था। पर दुःख यही है कि अ-बौद्ध विषयों के प्रति न उसकी रुचि थी और न वह उनकी विशेष चिन्ता करता था। इसलिए अपनी निरीक्षण शक्ति का जितना व्यापक प्रयोग वह कर सकता था, नहीं कर सका और बहुत कुछ अनकहा छोड़ दिया जो उसे नहीं छोड़ना चाहिए था। अपने जीवन-काल में वह उस समय का साक्यमुनि कहलाता था और मृत्यु के बाद उसका नाम और ऊँचा उठ गया और एक सम्प्रदाय के संस्थापक के पद पर वह सुशोभित हो गया। कुछ चीनी बौद्ध मन्दिरों में उसकी प्रतिमाएँ तक मिलती हैं।

चीनी यात्री भारत में और भारतीय प्रचारक चीन में

चीन बहुत दिनों तक, कोई स्थल-मार्ग न होने के कारण, बाहरी दुनिया के सम्पर्क से अलग रहा। भारत से चीन का समुद्री मार्ग बहुत लंबा तथा संकट-पूर्ण था। शुरू-शुरू में किसी प्रकार अधूरा सम्पर्क पामीर के पठार और खोतान के बीच स्थापित था और चीनी बौद्धों तथा भारतीय पुरोहितों में थोड़ा आदान-प्रदान हो जाता था। ईसा संवत् ६५ में पहला प्रचारक भारत से चीन भेजा गया और उसने सिंहल से कुछ सम्पर्क बनाए रखा। भारतीय भिक्षुओं ने चीन में कई सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किए और इन केन्द्रों से, ईसा संवत् दूसरी शती से वे बौद्ध धर्म का प्रचार करते

---

* देखिए टॉ० वाट्टर्स कृत 'आन युवान च्वाग', भाग १, पृष्ठ १३। इसके अलावा बील कृत हुएन्त्सांग के 'ट्रैवल्स एन्ड लाइफ' भी इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं।

रहे। इन भिक्षुओं में कुमारजीव सब से महान् था। वह खोतान का निवासी था और भारतीय रंग में रंगा हुआ था। उसने १०० संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। फाहियान उसके शिष्यों में था। चीन में भारतीय भिक्षुओं का जा कर बसना निरन्तर जारी रहा और यह छठी शती के अन्त तक चलता रहा। इसके बाद की शतियों में भी भारत से प्रचारक गए जिन्होंने चीन में न केवल बौद्ध धर्म का प्रचार किया, वरन् संस्कृत में लिखा हुआ सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य चीनियों के लिए उपलब्ध कर दिया। भारतीय लिपि और चित्रकला से भी उन्होंने चीन को परिचित कराया।*

उनका मूल्य

ईसा संवत् चौथी शती में चीन में मठ और विहारों का प्रसार हो गया और चीनियों को बौद्ध भिक्षु बनने की सुविधा मिलने लगी। ईसा संवत् ४०० के लगभग फाहियान भारत आया—मध्य एशिया के मार्ग से होकर—और चौदह वर्ष तक यहाँ रहने के बाद सिंहल के मार्ग से वापिस चला गया। वह अपने साथ प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथ ले गया था। चीनी बौद्ध पूर्ण और शुद्ध बौद्ध ग्रंथों को उपलब्ध करने के बारे में बहुत सतर्क थे। पवित्र बौद्ध प्रतिमाओं और स्मृति चिन्हों को भी वे पाना चाहते थे। फाहियान के आगमन के एक शती बाद एक दूसरा चीनी यात्री शंगयून भी इसी उद्देश्य से भारत आया, लेकिन उसका विवरण अधिक नहीं मिलता। सुविख्यात हुएन्त्सांग के बाद यू-कांग की भाँति अनेक चीनी यात्री भारत आए। आठवीं शती में उन्होंने भारत के विभिन्न भागों की यात्राएँ कीं। इन्हीं में इत्सिंग भी था। वह संस्कृत का बहुत बड़ा विद्वान् था और नालन्दा में रह कर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। नालन्दा के बाद उसने सुमात्रा में अपने अध्ययन को जारी रखा। उसने भारत में बौद्ध धर्म पर एक ग्रंथ लिखा था।†

---

* देखिए पी० एन बोस कृत 'दि इन्डियन टीचर्स इन चाइना' और पी० के० मुकर्जी कृत 'इन्डियन लिटरेचर इन चाइना एन्ड दि फार ईस्ट'।

† देखिए ताकाकुसू कृत 'ए रिकर्ड आफ दि बुद्धिस्ट रेलीजन ऐज़ प्रैक्टिस्ड इन इन्डिया एन्ड दि मलाया आर्कीपैलेगो' ईसा संवत् ६७१-६५। इत्सिंग ने भारत में ६७३ से ६८७ तक, १४ वर्ष, बिताए थे।

इन सब का महत्व इस बात में है कि उन्होंने घटना क्रम और उनकी तिथियों का वर्णन सही रूप में किया है। सु-मा-चीन (ईसा संवत् १००) के समय से चीनी इतिहास लेखकों ने भारत के प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश डाला है। आठवीं और बाद की शतियों में चीन में बौद्ध धर्म बहुत जनप्रिय बन गया था। भारतीय बौद्ध कला ने भी चीन की कला पर अच्छा प्रभाव डाला था।

[२]

सातवीं शती के चालुक्य और पल्लव

दक्षिन में चालुक्यों का उत्थान

उत्तर भारत में जिस समय हर्ष अपने साम्राज्य का निर्माण कर रहा था, दक्षिण भारत में भी इसके समानान्तर दूसरे राज्यों की नींव पड़ रही थी। अगले किसी परिच्छेद में दक्षिण के विस्तृत इतिहास का वर्णन हम करेंगे और बताएँगे कि किन-किन वंशों और शक्तियों ने उस पर शासन किया। शक्तिशाली आंध्र साम्राज्य के विलुप्त हो जाने के बाद अनेक छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इन राज्यों के बीच, छठी शती के लगभग चालुक्यों का उदय हुआ। अपने उत्थान की सूचना चालुक्यों ने अश्वमेध यज्ञ करके दी। बौद्ध धर्म का भी उन्होंने विरोध किया—बहुत कुछ उसी प्रकार जैसे गुप्तों ने किया था। आइहोल अभि-लेख तथा अन्य दान-कार्यों से हमें चालुक्यों के वंश के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। इस वंश का पहला महत्वपूर्ण सदस्य पुलकेशी प्रथम था जिसने वातपी (बीजापुर ज़िले में बादामी) को अपनी राजधानी बनाया था, अनेक प्रान्तों पर जिसने विजय प्राप्त की थी, कितने ही अन्य राजा और सामन्तों पर जिसने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और अश्वमेध यज्ञ भी सम्पन्न किया था। ईसा संवत् ५६७ के लगभग उसकी मृत्यु हुई और उसके दो पुत्र कीर्तिवर्मन और मंगलीश उसके उत्तराधिकारी हुए। फिर कीर्तिवर्मन का पुत्र महान् पुलकेशी सिंहासन पर बैठा। इसने दीर्घ काल तक शासन किया—ईसा संवत् ६०८ से ६४२ तक।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

पुलकेशी द्वितीय और हर्ष का संघर्ष

पुलकेशी द्वितीय बहुत ही प्रतापी राजा था। अपने वंश में वह सब से महान् सिद्ध हुआ। जैसा हम देख चुके हैं, वह हर्ष का समकालीन था। हर्ष तेजी के साथ अपने साम्राज्य और प्रभाव का विस्तार कर रहा था—वलभी वंश को उसने अपने नियंत्रण में कर लिया था, गुर्जर नरेश भी उसके प्रभाव में आगया था जो अब तक चालुक्यों के प्रभुत्व में था। लेकिन हर्ष को नर्मदा के तट पर रुक जाना पड़ा और दक्षिण में पाँव रखने की अपनी इच्छा को वह पूर्ण न कर सका।

पुलकेशी बहुत ही शक्तिशाली नरेश था। उसने अपनी शक्ति को दृढ़ता के साथ लट (दक्षिणी गुजरात) पर स्थापित कर लिया था और इस प्रकार उसने, हर्ष के आक्रमण से, अपनी उत्तरी सीमा को अच्छी तरह सुरक्षित कर लिया था। आइहोल के अभि-लेख में उसकी शक्ति का अच्छा वर्णन मिलता है। प्राचीन महाराष्ट्र के इतिहास में उसका शासन सम्पन्न और धनधान्य से पूर्ण था। वह तीन महाराष्ट्रों का स्वामी था जिनमें ९९,००० ग्राम सम्मिलित थे।

पुलकेशी द्वितीय का शासन इसलिए भी स्मरणीय है कि उसके दरबार में फारस के राजा खुसरो द्वितीय ने अपना राजदूत भेजा था। राजदूतों की इस प्रथा का श्री गणेश पुलकेशी ने ही किया था।* उसके दरबार में हुएन्त्सांग गया था और उसने उसका बहुत ही लुभावना वर्णन किया है। दरबार का ही नहीं, हुएन्त्सांग ने पुलकेशी की शक्ति और उसकी प्रजा की स्थिति का भी वर्णन किया है। उस काल के जो प्रमाण अब तक मिले हैं, उनसे पता चलता है कि गुजरात, मालवा और कोंकण के नरेश पुलकेशी का मान करते थे। उत्तरी कन्नड़ में बनवासी के कदम्बों के प्रदेश पर उसने आक्रमण किया और कांची के पल्लवों के साथ भी उसका बहुधा संघर्ष चलता था।

---

* अजन्ता की गुफा नम्बर एक में एक चित्र है, जिसमें फारस के राजदूत के स्वागत का दृश्य अंकित बताया जाता है। यह स्वागत ईसा संवत् ६२५ में हुआ था।

दक्षिण भारत में पल्लवों का उत्थान

पल्लवों के इतिहास का विस्तार के साथ आगे चल कर वर्णन करेंगे। ईसा संवत् तीसरी और चौथी शती में पल्लवों ने आंध्र साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों और उत्तरी सीमा पर स्थित प्राचीन चोल राज्य पर अपना शासन स्थापित कर लिया था। इसके बाद उनकी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता गया और सुविख्यात राज्य-परम्परा के नेतृत्व में उनके साम्राज्य का विस्तार निचले (लोअर) कृष्णा से लेकर कावेरी तक हो गया। नरसिंह वर्मन के हाथ में उन दिनों शासन-सूत्र था। वह बड़े बाप का बड़ा बेटा था। महेन्द्र वर्मन उसके पिता का नाम था।

चोलों के उत्तरी प्रदेश पर भी पल्लवों ने अधिकार प्राप्त कर लिया था। इस प्रदेश के हाथ में आ जाने से दक्षिण में स्थित उनके उत्तरी शत्रु से उनकी सीमा सुरक्षित हो गई। जिस प्रकार दूसरी शती में दक्षिण की आंध्र शक्ति ने अपने अधिकार का दक्षिण की ओर, कृष्णा के उस पार तक, विस्तार कर लिया था और दक्षिणी पेन्नार तक उसकी सीमा पहुँच गई थी—जैसा इस प्रदेश में प्राप्त आंध्रों के नौका-अंकित सिक्कों से मालूम होता है—उसी प्रकार चालुक्यों ने भी कांची के पल्लवों से निरन्तर युद्ध किया था।* महेन्द्र वर्मन पल्लव ने, ईसा संवत् ६००-३० में, अपने प्रदेश पर होने वाले इस प्रकार के चालुक्यों के आक्रमण को रोका था। लेकिन, फिर भी, चालुक्यों ने पल्लवों के उत्तरी प्रदेश पर स्थायी रूप से अधिकार प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य

पुलकेशी ने वेंगी प्रदेश पर—निचली (लोअर) गोदावरी और निचली (लोअर) कृष्णा के प्रदेश पर—विजय प्राप्त कर के, ईसा संवत् ६१०-१ में, पल्लवों के राज्य-विस्तार की दिशा के मुँह को मोड़ दिया।

* फ्लीट का अनुमान है कि चालुक्य राजा विजयादित्य के दक्षिण और त्रिलोचन पल्लव पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में जो अनुश्रुति है, सम्भव है कि वही इन दोनों राज्यों के बीच दीर्घकालीन शत्रुता का कारण हो। लेकिन अन्य लेखकों ने इस तरह के कारण देने का प्रयत्न नहीं किया है। (देखिए एच० हेरास कृत—' स्टडीज़ इन पल्लव हिस्ट्री ', पृष्ठ २८-२९)

इस नव-प्राप्त प्रदेश का शासक उसने अपने छोटे भाई कुब्जा विष्णुवर्धन को नियुक्त किया। विष्णुवर्धन से उस पूर्वी चालुक्य राज्य-परम्परा का श्री गणेश हुआ जो वेंगी राजा के मुन्द्री प्रदेश पर ग्यारहवीं शती तक शासन करती रही। आइहोल के शिला-लेख में पुलकेशी की प्रशस्ति में कहा गया है कि उसने अपने विरोधी पल्लवों के चमकते हुए प्रताप को अपनी सेना के पाँव से उठी हुई धूल से आच्छादित कर दिया और काञ्चीपुर की दीवारों के पीछे विलीन होने के लिए उसे बाध्य किया।*

नरसिंह वर्मन पल्लव की विजय

महेन्द्र के पुत्र नरसिंह वर्मन ने—शासन-काल ईसा संवत् ६३० से ६६८ तक—अपने वंश की शक्ति को फिर से प्राप्त किया और अनेक युद्ध करके पुलकेशी के घुटने तोड़ दिए। कहा जाता है कि उसने पुलकेशी की पीठ पर विजय शब्द लिख दिया था—मानो पीठ न होकर वह तख्ती हो। तामिल प्रदेश में अनेक युद्धों के पश्चात् उसने चालुक्यों को परास्त किया और शत्रु के प्रदेश में जाकर चालुक्यों की राजधानी वातपी पर अधिकार कर लिया। शिला-लेखों के अनुसार उसने वातपी को नष्ट कर डाला और वहाँ अपना एक विजय-स्तम्भ स्थापित किया जिसमें उसके पराक्रम का उल्लेख है।†

---

* देखिए 'एपिक-इन्डिका, भाग ६ पृष्ठ ११—कासाकुड़ी के ताम्रपत्रों से पता चलता है कि महेन्द्र वर्मन ने अपने प्रमुख शत्रुओं का नाश पुल्लालूड़ा में किया था। सभी लेखक इस बारे में एक मत हैं कि ये प्रमुख शत्रु बादामी के चालुक्य थे। आइहोल के शिला-लेख में और कासाकुड़ी के ताम्रपत्रों में इस विषय में विरोध है। फादर हेरास ने इस विरोधाभास को मिटाने का प्रयत्न करते हुए कहा है कि पुलकेशी अपनी विजय के बाद काची के निकट पहुँचा था और महेन्द्र वर्मन तब पुल्लालूड़ा में अपने शत्रुओं का नाश कर अपनी राजधानी की दीवारों के पीछे विलीन हो गया था। इससे स्पष्ट है कि पुलकेशी ने, काचीपुरा के निकटवर्ती प्रदेश तक पहुँच कर, राजधानी पर चढ़ाई क्यों नहीं की।

† देखिए कुरम, कासाकुड़ी और उदयेन्द्रिम के ताम्रपत्र। वेलूपलायम के

पल्लवों और चालुक्यों के बाद के संघर्ष

पुलकेशी को सम्भवतः पल्लवों ने मार डाला था। चालुक्यों की सम्पदा को फिर से लौटाने का श्रेय विक्रमादित्य प्रथम को प्राप्त हुआ—जो पुलकेशी का पुत्र था और चालुक्यों के सिंहासन पर, क्रम-भंग के बाद, बैठा था। ईसा संवत् ६७४ में विक्रमादित्य ने पल्लवों को बुरी तरह पराजित किया और उनकी राजधानी काँची पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने काँची को लूटपाट कर बराबर नहीं किया, बल्कि उसके निर्माण में योग दिया और कई नये मन्दिर भी वहाँ बनवाए। चालुक्यों की जो ऐतिहासिक सामग्री मिली है, उसमें कहा गया है कि उन्होंने पल्लवों पर महान् विजय प्राप्त की थी; लेकिन पल्लवों के शिला-लेखों में कहा गया है कि चालुक्यों की त्रिचनापली के निकट पेरुवलनाल्लूर के युद्ध में कमर तोड़ दी गई थी। इस प्रकार पल्लवों के विरुद्ध विक्रमादित्य का आक्रमण पहले सफल रहा लेकिन बाद में, जब चालुक्यों की छावनी त्रिचनापली के निकट पड़ी हुई थी, पल्लव उन पर गृद्ध की तरह टूट पड़े और विक्रमादित्य को पलायन करना पड़ा। शिला-लेखों

ताम्रपत्र में लिखा है कि उसने शत्रु से वातपी के केन्द्र में स्थित विजय-स्तम्भ को छीन लिया था (साउथ इन्डियन इन्सक्रिप्शन्स, भाग २, पृष्ठ ५०८) इस संघर्ष का विवरण हमें केवल पल्लव स्रोतों से मिलता है और चालुक्य स्रोतों से इसका हल्का-सा आभास मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि पुलकेशी कांजीवरम के निकटवर्ती प्रदेश तक पहुँच गया था। उदयेन्द्रिम के लेख में दो युद्ध-स्थलों का उल्लेख मिलता है और कुरम के लेख में तीन युद्ध-स्थलों का उल्लेख है जिनमें केवल एक, मणिमङ्गल वाला, परखा जा सका है। यह स्थल कांजी-वरम के निकट है। सिंध से एक राजकुमार भाग कर आया था और उसने पल्लव दरबार में आकर शरण ली थी। ऐसा मालूम होता है कि इस युद्ध में वह नरसिंह वर्मन का साथी बन गया था। कुरनूल में विक्रमादित्य प्रथम के ताम्रपत्रों के अनुसार चालुक्य नरेश को तीन राजाओं के गुट ने पराजित किया। सम्भवतः तीसरे युद्ध के बाद पुलकेशी युद्धक्षेत्र से भाग कर अपनी राजधानी में छिप गया था। नरसिंह वर्मन ने उसका पीछा किया और समूची राजधानी वातपी को नष्ट कर दिया।

से यह भी पता चलता है कि विक्रमादित्य के पुत्र विनयादित्य ने भी पल्लवों के विरुद्ध संघर्ष किया। हो सकता है अपने पिता के साथ-साथ उसने भी युद्ध में भाग लिया हो और यह उसी का उल्लेख हो। विक्रमादित्य द्वितीय के समय में—ईसा संवत् ७३५—यह संघर्ष फिर से शुरू हुआ और चालुक्यों ने एक बार फिर काँची पर अपना अधिकार जमा लिया और उसके मन्दिरों को, भेंट-आदि देकर, उन्होंने और भी सम्पन्न बना दिया। इस प्रकार चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष चलता रहा जो दक्षिणी भारत की राजसत्ताओं के विरोध का अनिवार्य परिणाम था। इस संघर्ष का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं है। उदयेन्द्रिम के ताम्रपत्रों के अनुसार नरसिंह वर्मन के उत्तराधिकारी परमेश्वर वर्मन ने चालुक्य आक्रमणकारी से त्रिचनापल्ली के निकट युद्ध किया था। पल्लवों को अपनी उत्तरी सीमा की ओर से—पश्चिमी तट के निकट विजयन्ती (वनवासी) से पूर्व में वेंगी तक—सतर्क रहना पड़ता था। वेंगी में चालुक्य सत्ता के अस्तित्व ने उत्तर-पूर्वी सीमा पर पल्लवों के अधिकार को कमजोर बना दिया था। इस कमजोरी का परिणाम यह हुआ कि पल्लव अधिकाधिक दक्षिणी भारत की एक तामिल सत्ता के रूप में परिणत होते गए।

महेन्द्र वर्मन और नरसिंह वर्मन

तामिल-देश के हृदय में स्थित चोल-प्रदेश पर अधिकार करने के लिए महेन्द्र वर्मन और नरसिंह वर्मन ने भारी प्रयत्न किये। इसके लिए उन्होंने चालुक्य और पंड्या-नरेशों से बहुधा युद्ध किए—नरसिंह के बारे में प्रसिद्ध है कि उसने सिंहल पर दो बार आक्रमण किया था और परवर्ती काल में, पुलकेशी की पराजय के पश्चात्, वह वातपी-कोंड—वातपी का विजेता—के रूप में प्रसिद्ध हुआ। चट्टान काट कर घर-मन्दिर आदि बनाने की कला का इन पल्लवों ने अच्छा विकास किया और तामिल सभ्यता के इतिहास में एक नये युग का श्री गणेश किया। उनके कृतित्व के सम्बन्ध में विस्तार के साथ अगले किसी परिच्छेद में प्रकाश डालेंगे।

भारत के तीन महान् शासक (ईसा संवत् ६४०)

ईसा संवत् ६४० के लगभग भारत में तीन महान् नरेश हुए—हर्ष हिन्दुस्थान में, पुलकेशी और नरसिंह वर्मन दक्षिणी भारत में। हर्ष के दक्षिणी अभियान को पुलकेशी ने रोक दिया था और पुलकेशी के दक्षिणी भारत पर किए गए आक्रमणों को पल्लवों ने उलट दिया था। पल्लव समूचे तामिल प्रदेश पर अपनी सत्ता का जाल फैलाने में लगे हुए थे। नर्मदा-विंध्या और कृष्णा-तुंगभद्रा की सीमाएँ इन तीन सत्ताओं के प्रदेशों को एक-दूसरे से अलग करती थीं। अपने-अपने क्षेत्रों में तीनों की स्वतंत्र सत्ता स्थापित थी और उसे बनाए रखने तथा विरोधी तत्वों को न उभरने देने की तीनों बड़ी सख्ती से कोशिश करते थे। सीमा-विस्तार के लिए भी ये प्रयत्नशील रहते थे। परिणामतः हर्ष का प्रभाव-क्षेत्र वल्लभी और सिंध से लेकर आसाम (कामरूप) तक विस्तृत था। आसाम पर उन दिनों कुमार भास्कर वर्मन शासन करता था। उसने हर्ष का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। पुलकेशी का प्रभाव-क्षेत्र दक्षिण से होता हुआ लट से वेंगी तक और सागर से सागर तक फैला हुआ था। पल्लव-सत्ता ने सहज ही दक्षिणी भारत में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

उस काल की राजनीतिक स्थित पर हुएन्तसांग

हुएन्तसांग ने पुलकेशी और उसके समय की जनता की स्थिति के सम्बन्ध में बहुमूल्य और प्रशंसात्मक विवरण शब्द-बद्ध किया है। उनकी सैनिक शक्ति, साहस और ईमान्दारी की हुएन्तसांग ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। अधिकांश प्रजा अपने राजा की आज्ञा का निर्विरोध रूप में पालन करती थी। हुएन्तसांग ने पल्लव-राज्य का, जिसे उसने द्रविड़ कहा है, और उसकी राजधानी काँचीपुर का भी वर्णन किया है। संक्षेप में हुएन्तसांग का ग्रंथ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। हर्ष कालीन भारत की—काश्मीर से काँची तक और वल्लभी से आसाम तक की राजनीतिक अवस्था के सम्बन्ध में इस ग्रंथ से हम बहुत कुछ जान सकते हैं। ईसा संवत् सातवीं शती के मध्य में भारत की

स्थिति की जो जानकारी इस ग्रंथ से हमें प्राप्त होती है, अन्य शिला तथा ताम्र-लेखों आदि से भी उसकी पुष्टि होती है और उसे हम प्रामाणिक कह सकते हैं। इन्हीं सब कारणों से हुएन्त्सांग के ग्रंथ ने इतना ऊँचा तथा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।*

•

---

* उत्तर-पश्चिम में कपिसा का राज्य था जिस पर एक क्षत्रिय-बौद्ध शासन करता था। गांधार और नगाड़ा के प्रदेश पर भी उसका नियंत्रण स्थापित था। स्वात (या उदयन) का राज्य बौद्धों का दृढ़ गढ़ था। काश्मीर पर करकोटा वंश के दुर्लभवर्धन का शासन स्थापित था। सिंध पर एक बौद्ध राजा शासन करता था और वल्लभी एक क्षत्रिय बौद्ध राजा ध्रुवभट्ट के अधीन था। ध्रुवभट्ट हर्ष का दामाद था। राजपूताना के भीनमल्ल और भंगौच पर गुर्जर शासन करते थे। हुएन्त्सांग ने ओ-ला-पो (मालवा) उज्जयिनी और चिचितो (बुन्देल खंड) के राजाओं का भी उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उसने गंगा की घाटी के छोटे-छोटे राज्यों और हिमालय की तलहटी के सामन्ती सरदारों का भी उल्लेख किया है। पूर्वी भारत में, चम्पा और पौण्ड्रवर्धन (रंगपुर), कर्णसुकर्ण (मुर्शिदाबाद का इलाका), सामटाटा (पूर्वी बंगाल) और ताम्रलिपि भी सम्पन्न राज्यों में से थे। आसाम में कुमार भास्कर वर्मन शासन कर रहा था। और सब से अन्त में ओद्रा (उड़ीसा) और कोंगाडु (गंजम) के राज्य थे। दक्षिण के राज्यों में हुएन्त्सांग ने कलिंग, कोशल, आंध्र, धनकराका (वेंगी), चोल, द्रविड़ (काँची), चलपकूट कोंकणपुर और महाराष्ट्र (बादामी) का उल्लेख किया है। (देखिए भारत का मान चित्र, वी० ए० स्मिथ कृत, जो वाट्टर्स कृत 'आंव युवान च्वंगिस' ट्रावेल्स इन इण्डिया के दूसरे भाग में दिया हुआ है।)

बारहवाँ परिच्छेद

उत्तरी भारत के छोटे राज्य

[१]

राजपूतों का उत्थान

राजपूत-काल

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत में, कई शतियों तक, किसी शक्ति-शाली साम्राज्य की स्थापना सम्भव नहीं हो सकी और समूचा देश विभिन्न राज्यों तथा कबीलों के बीच होने वाले संघर्ष में फँसा रहा। इस काल का इतिहास प्रतिद्वन्द्वी राजपूतों और अन्य राज्यों के निरन्तर संघर्षों से भरा हुआ है। इस काल में आकर हमें राजपूतों का नाम पहली बार सुनाई पड़ता है और इस काल के सभी राज्यों पर प्रायः ऐसे वंशों और कबीलों का अधिकार स्थापित हो गया जो राजपूत कहलाते थे। राजपूतों की यह प्रधानता सातवीं और आठवीं शती में विशेष रूप से प्रकाश में आती है और बारहवीं शती तक दिखाई देती है—मुसलमानों की भारत-विजय के समय तक।* मुसलमानों के शासन-काल में कितने ही राजपूत-

---

* इस काल के उत्तर भारत का इतिहास समकालीन योरप के इतिहास से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दोनों ही देशों में बर्बर आक्रमणों के फलस्वरूप अंधकार-युग का प्रादुर्भाव होता है, दोनों के सम्मुख इस काल में समस्याएँ भी एक सी थीं - विरोधी और संघर्षरत तत्वों का किस प्रकार समन्वय किया जाए। दोनों ही देशों में, इस काल में—दसवीं शती में—एक नये समाज की नींव पड़ती प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, वरन् दोनों देशों के शत्रु भी एक ही थे। जिस समय—ईसा संवत् ७१२—अरबों ने सिंध और मुलतान पर अधिकार कर लिया, सिसली और स्पेन पर सैराकस लोगों का प्रभुत्व स्थापित था। जब महमूद ने पश्चिमी पंजाब को अपने गज़नी साम्राज्य में मिलाया उसके थोड़े ही अन्तर पर सेल्युकों ने बाइजन्टाइन साम्राज्य की सीमाओं पर अपने पाँव जमा लिए थे। इन समानताओं के होते हुए भी, इन दोनों देशों की स्थिति में गहरा अन्तर था। योरप सामन्तवाद और पैपेसी की

राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा और मध्य भारत, मालवा, राजपूताना और हिमालय के उतार वाले प्रदेशों में वे अपनी शक्ति का उपभोग करते रहे। इन राजपूत वंशों में कई आज दिन भी जीवित हैं और शासन कर रहे हैं। "यदि और किसी लिए नहीं तो अपनी इसी विशेषता के लिए भारत के राजपूतों का अपना एक अलग महत्व और विशेषता है जो दूसरों में नहीं पाई जाती।"

राजपूत का अर्थ

डाक्टर वी० ए० स्मिथ के मतानुसार "राजपूत शब्द" किसी सामाजाकि समूह के लिए जब हम उसका प्रयोग करते हैं, किसी एक जाति, वंश, परम्परा या रक्त-सम्बन्ध का अर्थ नहीं सूचित करता। असल में यह एक कबीले-मात्र का सूचक है—एक ऐसी जाति, दल या सम्प्रदाय का सूचक है जो युद्ध प्रिय है, जिसके सदस्य अपने को कुलीन श्रेणी का समझते हैं और जिनके साथ ब्राह्मण प्राचीन ग्रंथों में वर्णित क्षत्रियों की तरह व्यवहार करते थे।* अति-प्राचीन काल से एक ऐसी शासक जाति चली आई है जो राजपूतों के समान होती थी और अपने को क्षत्रिय कहती थी। इस जाति के लोग निरन्तर नये राज्यों और सत्ताओं को जन्म देते रहते थे। प्राचीन कालीन राजाओं और सत्ताओं—जैसे गुप्त आदि—की परम्परा भंग हो चुकी थी। लेकिन फिर भी राजपूतों के कुछ जाति-समूह, जिनमें से कुछ राज्य वंशों का इस काल में उदय हुआ, आज भी जीवित हैं और उनकी जीवित परम्परायें अपना अस्तित्व कायम किए हुए हैं।

राजपूतों का मूलस्रोत

राजस्थान के इतिहास-लेखक टॉड तथा अन्य पूर्वकालीन पश्चिमी विद्वान्—जिन्होंने भारत-सम्बन्धी इतिहास-ग्रंथ लिखे हैं—सभी का इस ओर ध्यान गया है कि राजपूत, काफी हद तक, मूलतः विदेशी हैं। उनका अनुमान है कि वे साइथियनों के वंशज हैं। बाद के

समस्याओं से आक्रान्त था और भारत में नव-हिन्दू-धर्म और राजपूतों की समस्या थी। (देखिए इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया, दि इन्डियन एम्पायर, भाग दो, पृष्ठ ३०३)

* दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इन्डिया, दूसरा संस्करण, पृष्ठ १७२।

लेखकों ने इसी अनुमान की पुष्टि की है और कहा है कि राजपूतों में कितने ही वर्ग ऐसे हैं जिनमें विदेशी रक्त का मिश्रण है।*

हम देख चुके हैं कि ईसा पूर्व दूसरी शती के लगभग से विदेशी जातियों का किस प्रकार उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी भारत में निरन्तर आगमन होता रहा है—बैक्ट्रियन आए, फिर शक-पह्लव आए, उनके बाद कुषाण और, सब से अन्त में, ईसा की पाँचवीं और छठी शती के उत्तरार्द्ध में, हूणों के अनेक दल भारत में आकर बस गए। शक, कुषाण और हूण—ये नाम भारत में आकर बस जाने वाली विभिन्न जातियों में जिनकी संख्या अधिक थी, उन्हीं की ओर इंगित करते हैं। शक और कुषाणों के वंशजों की परम्परा अब पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। हूणों से सम्बन्धित जाति-समूह प्रमुखतः राजपूताना और पंजाब में बस गए थे। इनमें सब से अधिक महत्वपूर्ण अंश गूजरों का था—जो पंजाब के एक कबीले के रूप में आज भी बने हुए हैं और उनका एक जिला है जिसका नाम उन्हीं के नाम पर आधारित है।† उस काल में गूजर शक्तिशाली थे और गुर्जर कहलाते थे। कितने ही राजपूत राजघराने, सुप्रसिद्ध प्रतिहारों की तरह, मूलतः गुर्जर थे। इन्हीं से मिलती-जुलती जाति के लोग जाट थे जो आज कल खेती बारी करते हैं। पंजाब के बहुत से जाट तो आज भी अपने को राजपूतों का वंशज बताते हैं।‡

* इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, भाग दो, परिच्छेद ८। जे० बम्बई, बी० आर० ए० एस, भाग २१ में डॉ० आर० भण्डारकर का गूजरों पर निबंध देखिए। जे० ए० एस० बी (१६०६) में प्रकाशित गहलौतों पर उनका लेख भी देखने योग्य है। इसी जर्नल में प्रकाशित गूजरों पर वी० ए० स्मिथ का लेख भी देखिए।

† गुजरात प्रान्त और पंजाब का गुजरांवाला भी उन्हीं के नाम पर आधारित है।

‡ श्री सी० वी० वैद्य ने अपनी 'हिस्ट्री आफ मेडीविएल इन्डिया, भाग दो में इस धारणा का खण्डन किया है कि गूजर मूलतः विदेशी थे। उनकी मान्यता है कि वे सच्चे मानी में आर्य थे ;—और जब वे आर्य थे तो उनके वंशज राजपूत —अगर यह सच मान लिया जाए—भी अनार्य नहीं हो सकते। उनका मत है कि प्रतिहार अपने को कभी गूजर नहीं कहते थे। उत्कीर्ण लेखों में उन्होंने अपने को सूर्य वंशी कहा है। उनकी एक शाखा राजपूताना में बसती

हिन्दुत्व की गोद में

जो विदेशी जातियाँ भारत में आकर बस गईं, समय के साथ-साथ वे भारत में ही रम गईं और क्षत्रिय तथा हिन्दू नाम से जानी-पहचानी जाने लगीं। इन जातियों ने जब अपने-आप को हिन्दुत्व के रंग में रंग लिया तो इनमें जो राज्यवंश से सम्बन्धित थीं, उन्हें सहज ही क्षत्रिय या राजपूतों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इनके अतिरिक्त जो साधारण लोग थे, उनका पुराना कबीले-वाला रूप लुप्त हो गया और अपने नये रूप में वे हिन्दू जाति का अंग बन गए—नियमित रूप से वे हिन्दू जाति में परिणत हो गए।*

प्रमुख वंश और जातियाँ

इस प्रकार जो वंश और जातियाँ प्रकाश में आईं, वे अपने को महाकाव्यों के प्राचीन चरित-नायकों का वंशज बताने लगीं। इनमें

थी। इस शाखा के लोग अपने को गुर्जर-प्रतिहार कहते थे—यह इसलिए कि वे गूजर देश में जाकर बस गए थे। इसी प्रकार चौहानों और सोलंकियों की अन्य अग्निकुल जातियों का भी गुर्जरों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

* क्रुक ने टॉड कृत 'एनल्स ऑफ राजस्थान' की भूमिका में लिखा है—"वैदिक काल के क्षत्रियों और मध्य काल के राजपूतों के बीच एक चौड़ी खाई है जिसे पार करना सम्भव नहीं है। जब यह निश्चित हो चुका है कि इनमें से विभिन्न वंशों का मूल उद्गम शक या कुषाणों के आक्रमण-काल से सम्बन्ध रखता है—या फिर अधिक निश्चयात्मक रूप से उनका मूल उद्गम वे श्वेत हूण थे जिन्होंने ईसा संवत् ४८० में गुप्त-साम्राज्य को नष्ट कर दिया था। गुर्जर इन्हीं श्वेत हूणों की एक जाति थी जिसने हिन्दुत्व को अपना लिया था और उनके नेताओं में वे लोग थे जिन्होंने उच्च कुल के राजपूत वंशों की स्थापना की थी। राजकीय पदों के इन दावेदारों ने जब ब्राह्मणों के धर्म और उनके नीतिशास्त्र को अपना लिया तो इसके प्रत्युत्तर में ब्राह्मणों ने भी रामायण और महाभारत के चरित-नायकों से उनका सम्बन्ध जोड़ना शुरू कर दिया......क्षत्रिय और राजपूत संज्ञाएँ उनके सामाजिक स्तर या वर्ग की द्योतक थीं, वंश परम्परा का नहीं। इसीलिए विदेशियों को इस वर्ग में बिना किसी जातीय बाधा के सम्मिलित करना सम्भव हो सका। फिर उस काल में जातीय व्यवस्था अच्छी तरह विकसित नहीं हो सकी थी। फलतः विदेशियों को इस आवरण में छिपा कर अपना बनाना सहज-सम्भव हो गया जो आवश्यक था।

जो अधिक महत्वपूर्ण थीं उनका दावा था कि आबू पहाड़ में ब्रह्मा के हवन-अग्नि से वे प्रकट हुई हैं। भारत और राष्ट्रकूट अपने को भगवान् कृष्ण का वंशज बताते थे। मेवाड़ के चालुक्य और सिसोदिया, जो राजपूतों में सब से अधिक गर्वीले माने जाते हैं, अपने को राम का वंशज कहते थे।* सम्भव है राजपूतों में प्राचीन क्षत्रियों के वंशज अब कहीं छिपे हुए पड़े हों। उनकी वंश-परम्परा और मूल स्रोत के सम्बन्ध में जो आख्यान प्रचलित हैं, उनकी रचना निम्न प्रकार से हुई होगी—

उत्तर में रहने वाले राजपूतों में अधिकांश विदेशी जातियों

---

* अग्निकुल की जन्म कथा—इन राजपूत राजाओं के दरबार में ब्राह्मण और चारण रहते थे, उन्होंने अपने-अपने राजाओं को राम, कृष्ण तथा अन्य लोक-नायकों का वंशज सिद्ध करने के लिए अनेक गाथाएँ गढ़ ली थीं। इन गाथाओं में सब से अधिक कवित्वपूर्ण गाथा वह है जो सुप्रसिद्ध अग्निकुल के चारों वर्गों से सम्बन्ध रखती है। ग्यारहवीं शती से यह गाथा चलती आ रही है। ब्राह्मण परशुराम ने प्राचीन क्षत्रियों के कुल का नाश कर दिया था, अतः साधारण लोग राजविहीन होने के कारण पथ और आचार-भ्रष्ट हो गए थे। उनके इस भ्रष्टाचार से त्रस्त होकर देवताओं ने आबू पर्वत की शरण ली जहाँ ऋषि मुनि रहते थे। आबू-पर्वत पर एक अग्निकुण्ड था जिसमें से देवताओं ने प्रतिहारों, पवारों, सोलंकियों (चालुक्यों) और चौहानों को—जो राजपूतों के सर्वप्रसिद्ध वर्ग हैं—प्रकट किया।

इस गाथा से पता चलता है कि भारत के सच्चे इतिहास को किस प्रकार ब्राह्मणों और चारणों ने कथा का आवरण पहना कर छिपाने का प्रयत्न किया है। (देखिए जे० केनेडी का मत इम्पीरियल गजेटियर आफ इन्डिया में ; दि इन्डियन एम्पायर, भाग दो, पृष्ठ ३०६—सम्भवतः यह गाथा अग्नि द्वारा शुद्धि के अनुष्ठान से सम्बन्धी रखती है। इस अग्नि संस्कार के बाद विदेशी जातियों में जो अशुद्धता थी वह जाती रही और वे इस योग्य हो गईं कि उन्हें हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था में दीक्षित किया जा सके। श्री वैद्य इस कथा को कोई महत्व नहीं देते। उनका कहना है कि अग्निकुल वर्ग के लोग, उत्कीर्ण लेखों के अनुसार, ग्यारहवीं शती में सूर्य और चन्द्रवंशी माने जाते थे और अग्निकुल वंश की यह गाथा केवल चारणों की कल्पना कपोल की देन थी जो बाद में सत्य-रूप में स्वीकार की जाने लगी।

के वंशज हैं जो बाहर से आकर राजपूताना और पश्चिम में, पाँचवीं और छठी शती में, बस गई थीं। राजपूतों के कुछ प्रमुख वर्ग दक्षिण और मध्य भारत में भी बस गए थे—ये सम्भवतः गोंड और भर ऐसी आदिम जातियों से उत्पन्न हुए थे। अतः, इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि—"क्षत्रिय या राजपूत जातियों का जो समूह आज है, उसका मुख्य आधार उसका पेशा है। उसमें हिन्दू-प्रथा की विभिन्न जातियों के लोग सम्मिलित हैं—और ये ऐसे लोग हैं जिन्होंने वस्तुतः राज्य के कार्य को अपना लिया था—राज्य के निर्माण में जिन्होंने योग दिया था। फलतः एक-दूसरे से अति भिन्न जाति के अपने को राजपूत कहने वाले इस वर्ग या समूह में एक-साथ पाए जाते हैं। जो अपने को ऊँची श्रेणी का राजपूत कहते हैं तथा अपने को अति ऊँचे कुल और वंश का घोषित करते हैं, उनमें अधिकांश या तो विदेशी आक्रमणकारियों से उत्पन्न हुए हैं या गोंड और भर-ऐसी आदिम जातियों की देन हैं।"*

राजपूतों में सादृश्य और समानता

हर्ष के बाद उत्तरी भारत के इतिहास में शतियों तक राजपूतों

---

* चन्देल राजपूतों का गोंडों और भरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार कन्नौज के गहरवारों का भी भरों से सम्बन्ध पाया जाता है। बुन्देल और उत्तरी राठौड़ इन्हीं गहरवारों की शाखा हैं। दकन के राष्ट्रकूट भी सम्भवतः किसी देशज आदि जाति की ही उपज हैं।

वी० ए० स्मिथ ने अपनी 'अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया,' चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४८०-१ में इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि यद्यपि इस सम्बन्ध में उपलब्ध प्रमाणों को पकड में लाना कठिन है और संक्षेप में उन्हें प्रस्तुत करना असम्भव है, फिर भी यह बात बहुत कुछ सही है। लेकिन श्री सी० वी० वैद्य ने अपनी पुस्तक मेडीविअल हिन्दू इन्डिया के दूसरे परिच्छेद में इस बात का समर्थन किया है कि राजपूत अनार्य नहीं थे, वरन् इस सम्बन्ध में जो वंशगत, परम्परागत और सम्भावनागत प्रमाण मिलते हैं, उनसे इसी बात की पुष्टि होती है कि राजपूत विशुद्ध आर्य थे और उन्हें विदेशी साइथिक जातियों का वंशज नहीं कहा जा सकता। यह मान भी लिया जाए कि उनमें कुछ गूजरों के वंशज हैं तो भी उन्हें अनार्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अग्निकुल के आख्यान को वह निरी कपोल कल्पना मानते हैं।

का प्राधान्य दिखाई देता है। उन्होंने प्राचीन क्षत्रियों का स्थान ग्रहण कर लिया था और प्रत्येक वंश या जाति-समूह, कुछ दिनों के लिए भी जिसे किसी एक जगह पर शासन करने या राजकीय सत्ता का उपभोग करने का अवसर मिला था, राजपूतों के दल में सम्मिलित हो गया था। वे न किसी उपाधि या दत्तक-पत्र को देखते थे, न उनकी समझ में कुछ और आता था। केवल अपनी तलवार के बल को वे जानते थे और उसी के भरोसे नये-नये ठिकानों में बसने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। सिन्ध से लेकर बिहार तक वे सभी जगह पाए जाते थे। उनका मूल स्रोत चाहे जितना भी भिन्न रहा हो, राजपूतों के सभी वर्गों और कुलों ने एक प्रकार का सादृश्य प्राप्त कर लिया था। वे आपस में निरन्तर अन्तर्विवाह करते और एक-सी प्रथाओं का पालन करते थे। यही उनके सादृश्य का प्रमुख कारण था। देखते-देखते वे एक जाति में परिणत हो गए और बिना किसी अन्तर्भेद के उन्मुक्त होकर एक-दूसरे से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने लगे। उन दिनों उन्होंने अभि-लेखों में अपने गोत्रों तक का उल्लेख करना छोड़ दिया था, लेकिन वैसे वे अपने गोत्रों और प्रवरों को स्मृति में सुरक्षित अवश्य रखते थे और कुल को भी बहुत महत्वपूर्ण समझते थे। बिरादरी और आभिजात्य का भाव उनमें प्रबल था और अपने सरदार की आज्ञा का निर्विरोध पालन करते थे; लेकिन इसके साथ-ही-साथ रक्त सम्बन्ध से उत्पन्न अपनी समानता को भी वे नहीं भूलते थे। जातीय सहयोग के अपने भाव को वे, एक क्षण के लिए भी, अपनी आँखों से दूर नहीं करते थे। अपनी कन्याओं का वे ऊँचे कुल में विवाह करते थे और अपने लिए पत्नियों को अपने बराबर या नीचे कुल से भी ले आते थे। स्त्रियों का वे समान भाव से आदर करते थे। विधवाओं को जलाने और जौहर की प्रथा उनमें समान रूप से पाई जाती थी। कृषि के कार्य को सभी समान रूप से हीन दृष्टि से देखते थे और उसे अपनाने से इन्कार कर देते थे। मान-प्रतिष्ठा का यह भाव, प्रथाओं का समान रूप से निर्वाह—ये सब ऐसी बातें थीं जिन्होंने सभी राजपूतों को एक सूत्र में बाँध दिया था, उन्हें एक ऐसी समानता, एक ऐसा सादृश्य प्रदान कर दिया था जो अपनी मिसाल आप थी।

नव हिन्दू-धर्म

राजपूतों के काल में हिन्दू-धर्म का जनसाधारण में अधिक प्रचार हुआ। इस काल में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ, धार्मिक उत्सवों और यात्राओं की संख्या में वृद्धि हुई, पुराणों और महाकाव्यों के पठन-पाठन और कथाओं के श्रवण की प्रथा ने व्यापक रूप धारण किया। इस व्यापक प्रचार का ही परिणाम था कि देश में बसने वाली विदेशी तथा आदिम जातियाँ सहज ही, शीघ्रता के साथ, नव-हिन्दू-धर्म में समा गईं। इस अभिवृद्धि के फलस्वरूप नयी जातियों और सम्प्रदायों की संख्या में अभिवृद्धि हुई। बौद्ध और जैनधर्म गिरते जा रहे थे—इस काल के अन्त तक बौद्ध धर्म का तो प्रायः लोप-सा हो गया। पुराणों का पुनर्सम्पादन और परिवर्द्धन हुआ और शिव ने, कतिपय राजवंशों के इष्ट-देवता का स्थान ग्रहण कर लिया। लेकिन विभिन्न देवताओं की उपासना करने वाले सम्प्रदायों में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा ने स्थान नहीं ग्रहण किया था। शिव, विष्णु, शक्ति या भगवती, आदित्य और गणपति इस काल के प्रमुख देवता थे। इस काल में उत्तरी भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों में नेपाल, कलिंजर, प्रभास (सोमनाथ) और उज्जयिनी में शिव के और मुलतान में सूर्य देवता, कांगड़ा में ज्वालामुखी देवी और गाज़ीपुर में विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर थे। इनके अतिरिक्त विष्णु के भी कई मन्दिर थे। बनारस में विश्वनाथ जी का सुप्रसिद्ध मन्दिर था। आगमों की उत्पत्ति और उनका महत्व इसी काल में बढ़ा। तपस्वियों और संन्यासियों के अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ। ये सब मठों में सामूहिक रूप से रहते थे।

महान् आचार्य-कुमारिल और शंकर

दक्षिण के कुछ भागों में जैन धर्म का प्रचार था। ईसा संवत् ग्यारहवीं और बारहवीं शती में यह धर्म गुजरात में भी फैल गया। जैन पण्डित शास्त्रार्थों और वाद-विवाद में संस्कृत भाष्य का प्रयोग करते थे। संस्कृत में उनकी प्रति अपने चरम रूप में हेमचन्द्र के काल में प्रकट हुई जो जैनों के सब से बड़े पण्डित थे और जिन्होंने गुजरात के कुमारपाल के राजगुरु का पद सुशोभित किया था।

शिव की उपासना सब से अधिक प्रचलित थी। इनके साथ-साथ धर्म-दर्शन के क्षेत्र में भी उन्नति हुई और उच्चतम दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। लाकुलीश का शैवदर्शन उन दिनों प्रचलित था। अद्वैतवाद के महान् प्रवर्तक शंकराचार्य ने इस दर्शन का खण्डन किया। इस काल के दो महान् आचार्य कुमारिल और शंकर थे। आधुनिक हिन्दू-धर्म की नींव उन्होंने डाली थी। ईसा संवत् ७०० में कुमारिल ने वेदों और वैदिक कर्मकाण्ड की श्रेष्ठता को स्थापित किया, जिनका बौद्ध मतावलम्बी खंडन कर चुके थे और कर रहे थे।

शंकर कुमारिल से एक शती बाद हुए। जनश्रुति के अनुसार उनका जन्म ईसा संवत् ७८८ में हुआ था। वह केरल के निवासी थे। श्रम और अध्यवसाय उनके जीवन का आधार था। उन्होंने अपने घर को त्याग दिया था और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहते थे। उपनिषदों पर उन्होंने टीकाएँ और भाष्य लिखे थे। गीता और वेदान्त के सूत्रों पर भी उनके ग्रंथ उपलब्ध हैं। जगद्गुरु के रूप में वह प्रख्यात हुए और चार मठों की स्थापना की—एक मैसूर के श्रृंगेरी में, दूसरा काठियावाड़ द्वारका में, तीसरा उड़ीसा की पुरी में और चौथा हिमालय में बद्री केदार नामक स्थान में। अपने बुद्धि-बल से उन्होंने सभी विचारों के लोगों का मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। अपने उपदेशों के प्रचार के लिए उन्होंने जिस स्थायी व्यवस्था का आयोजन किया था, वह उनके प्रबंध-कौशल का परिचायक है। देश के चारों दिशाओं में उन्होंने चार मठों की स्थापना की। संन्यास के महत्व और प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाया, बलि-प्रथा का विरोध किया और मूर्ति-पूजा का समर्थन किया। इस प्रकार कुमारिल और शंकर दोनों ने वैदिक धर्म को दृढ़ किन्तु नये आधार पर स्थापित किया—ज्ञान और कर्मकाण्ड दोनों की दृष्टि से।

राजपूतों का स्वर्णकाल

दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शती—मुसलमानों का देश पर आधिपत्य स्थापित होने से ठीक पूर्व का समय—राजपूती सभ्यता

का स्वर्णकाल कहा जा सकता है।* राजपूत राजाओं की छत्रछाया में, जो निरंकुश होते थे और प्रजा द्वारा अर्द्ध-देवता के समान माने तथा पूजे जाते थे, ब्राह्मण बहुधा ऊँचे पद पर आसीन थे। राजा और उनके सरदार, कुलीन वर्ग के लोग, वेतनभोगी सेवकों और दासों का अच्छा खासा सेना अपने यहाँ रखते थे। दुर्गम स्थानों में अपने लिए दृढ़ दुर्ग बनाते थे और एक-दूसरे से निरन्तर संघर्ष करते रहते थे। उस काल के नगर चारों ओर से सुरक्षित थे और अपने-आप में इतने दृढ़ होते थे कि सरदारों के उत्पात से अपनी रक्षा कर सकें, लेकिन ग्रामों और देहातों की बुरी हालत थी—वस्तुतः उनकी स्थिति दासों-ऐसी हो गई थी।

सार्वजनिक और निजी युद्ध इस काल का फैशन था। लेकिन इन सब व्याघातों और अस्थिरता के होते हुए भी देश के विभिन्न भागों के बीच आदान-प्रदान और सम्पर्क के पर्याप्त साधन मौजूद थे। व्यापार सम्पन्न अवस्था में था; कवि, चारण और विद्वान् राजाओं के दरबार में जाते थे और वहाँ उन्हें पर्याप्त संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिलता था। मन्दिरों की संख्या काफी थी, राजाओं की ओर से उन्हें सहायता मिलती थी जो विशेष संरक्षक के रूप में, बहुत बड़े पैमाने पर उत्सवों का संचालन करते थे।

राजपूत-काल की प्रारम्भिक शतियों में देश धार्मिक मतभेदों और जातीय ईर्ष्या-द्वेष से बचा हुआ था। सिंध को छोड़ कर देश के अन्य किसी भाग पर विदेशियों का आधिपत्य नहीं था। उस काल के अरब यात्रियों के वर्णनों से देश की सम्पन्न अवस्था की झाँकी मिलती है। उन्होंने लिखा है कि कन्नौज का राज्य विशेष रूप से डाकू और लुटेरों से मुक्त था और राजाओं के बीच जो आपसी द्वन्द्व चलता था उसका जनता के जीवन पर, उसकी सुख-सुविधाओं और सम्पन्नता पर, अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था।

लेकिन इस निरन्तर संघर्ष का फल यह हुआ कि राजपूत रियासतें कमजोर हो गईं। अनुदार और कट्टर वर्ण व्यवस्था तथा

---

* श्री० सी० वी० वैद्य के मतानुसार नवीं और दसवीं शती में भारत जितना सम्पन्न और सुखी था, अपने ज्ञात इतिहास में उतने सुख का उपभोग उसने कभी नहीं किया। (देखिए मेडीविअल इन्डिया, भाग दो, पृष्ठ १४७)

पेशे के अनुसार वर्ग-विभाजन की प्रथा ने शेष जनता को, केवल युद्ध प्रिय जातियों को छोड़ कर, युद्ध के अयोग्य बना दिया—बल्कि उनके हृदय में युद्ध के प्रति अरुचि घर कर गई। विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीय भावनाओं को विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। फलतः प्रजा यह अनुभव नहीं कर पाती थी कि उसका राज्य से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। न जनता राज्य से अपनत्व स्थापित कर सकी, न राजा से। जब विदेशियों का आगमन हुआ तो उनका कोई विरोध नहीं किया गया। गुजरात के तट पर, महाराष्ट्र और कन्नौज के राज्य में, ग्यारहवीं और बारहवीं शती के उलट-पुलट कर देने वाले आक्रमणों से बहुत पहले ही, मुसलमान आकर निर्विरोध बस गए थे। सेना की देख-भाल, अधिकांश राजाओं ने, अपने जागीरदारों और सरदारों पर छोड़ रखी थी। सेना के अस्त्र-शस्त्रों की ओर भी कोई ध्यान नहीं देता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय शक्ति और भावनाओं का पतन हुआ और अन्त में, बारहवीं शती में, देश की स्वतंत्रता हमारे हाथों से जाती रही।

विद्या और कला-कौशल

राजपूत-काल कला और साहित्य की दृष्टि से सम्पन्न काल था और राजपूत योद्धाओं ने आपस में ही निरन्तर संघर्ष करते हुए और अरब तथा तुर्कों के विरुद्ध संयुक्त होकर महान् युद्धों की अवतारणा करके प्राचीन वीरता को मानो पुनरुज्जीवित कर दिया था। इस काल में मालतीमाधव के रचयिता भवभूति जैसे महान् कवि उत्पन्न हुए। राजशेखर, मालवा का कवि-राजा भोज, काश्मीर का इतिहासवेत्ता कल्हण, और चारण-राजाचरड, आदि इसी काल की देन थे। मालवा की राजधानी धार विद्या और व्रती जीवन का केन्द्र बन गई थी। बिहार में नालन्दा और विक्रमशिला ऐसे विद्यापीठ स्थापित थे। बंगाल में नदिया विद्या और शिक्षा का केन्द्र था। सार्वजनिक हित के लिए अनेक निर्माण-कार्य इस काल में हुए—उनमें से कुछ के स्मृति-शेष आज भी देखे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस काल के बड़े-बड़े मन्दिर, दुर्ग, आज भी मालवा, राजपूताना और मध्य भारत में मौजूद हैं। इनमें

से कितने ही मुसलमान आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिए, कुछ थोड़े से शेष हैं जो उस काल की स्मृति को सुरक्षित रखते हैं।

[२]

प्रमुख राजपूत राज्य

सीमावर्ती राज्यों में काश्मीर, नेपाल और आसाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। अशोक के समय में काश्मीर की घाटी मौर्य-साम्राज्य में सम्मिलित थी। कुषाण-साम्राज्य का भी वह एक अंग थी। लेकिन राजपूत-काल में काश्मीर ने एक अच्छे-खासे राज्य का रूप धारण कर लिया और दूर स्थित प्रदेशों को प्रभावित करने में समर्थ था। सब से पहले कारकोटा-वंश का आधिपत्य काश्मीर पर स्थापित हुआ। इस वंश का संस्थापन दुर्लभवर्धन ने हर्ष के शासन-काल में किया था। सम्भवतः इसी नरेश ने ह्वेन्त्सांग का, जब वह काश्मीर गया था, स्वागत-सत्कार किया था। इसके पश्चात् ईसा संवत् ७२५-५२ तक ललितादित्य का शासन रहा। ललितादित्य अपनी सत्ता का विस्तार करने में सफल हुआ—उसने कन्नौज के शक्तिशाली नरेश यशोवर्मन को पराजित किया, तिब्बत और तुर्कों के पड़ोसी-राज्यों को अपने आधीन किया और, सब से बढ़ कर, मार्तण्ड के सुप्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण किया। उसने चीन में अपना राजदूत भेजा और पंजाब के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मुल्तान के उत्तर में स्थित प्रदेश के आधिपत्य को लेकर उसका अरबों से भी संघर्ष हुआ। उसका पौत्र जयपीड़ महत्वपूर्ण नरेश सिद्ध हुआ। उसकी प्रकृति कुटिल और शासन निरंकुश था। एक अन्य नरेश, अवन्तीवर्मन (ईसा संवत् ८५५-८३) अपने कृषि-प्रबंध के लिए उल्लेखनीय है—उसने सिंचाई का अच्छा प्रबंध किया था, पानी के निकास के लिये ड्रेनेज-व्यवस्था अच्छी थी। कवियों को वह उदारता के साथ प्रोत्साहन तथा संरक्षण देता था। वह और उसका पुत्र, जो एक योग्य योद्धा और निर्माता था, अल्पकालिक उत्पल वंश (ईसा संवत् ८८३-९३९) के दो प्रमुख नरेश थे।

कल्हण की राजतरंगिणी

काश्मीर के अधिकांश परवर्ती नरेश निरंकुश और क्रूर थे। लगभग आधी शती तक रानी डिड्डा के कुशासन में काश्मीर राज्य कराहता रहा। वह कुटिलता की साकार प्रतिमा थी, लेकिन साथ ही अद्भुत शक्ति और तत्परता का परिचय देती थी। काश्मीर पर सुप्रसिद्ध आततायी महमूद ग़ज़नी ने आक्रमण किया, मगर उसकी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं कर सका। कल्हण की राज-तरंगिणी, जिसकी रचना बारहवीं शती में हुई थी, काश्मीर के इतिहास की जानकारी प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत है।* इसमें राजा तथा रानियों की एक लंबी सूची दी हुई है—"जो निर्लज्जा, कामुकता, नारकीय क्रूरता और निर्भय कुशासन को अपनी महानता समझते थे।" रानी डिड्डा के अलावा काश्मीर ने एक अन्य निरंकुश आततायी नरेश हर्ष की यातना को सहा है जिसका व्यक्तित्व एक ओर जितना उज्ज्वल था, दूसरी ओर उतना ही काला था—"जो उज्ज्वल गुणों के साथ-साथ अतिविकृत व्यसनों का पुतला था" और जो, कल्हण के शब्दों में—"अपने शुभकृत्यों के कारण जितना आकर्षक था उतना ही अपने अनगिनत पापों के कारण भ्रष्ट हो गया था।"

लगभग ११५० से काश्मीर राज्य की सत्ता का पतन शुरू हो

---

* भूमिका और उपयोगी नोटों के साथ एम० ए० स्टेनी (कान्स्टबेल) ने १६०० में राजतरंगिणी दो भागों में अनुवाद किया है। इस ग्रंथ में जो इतिवृत है, संस्कृत साहित्य में, इसे हम नियमित रूप से लिखे गए इतिहास ग्रंथ के निकटतम रख सकते हैं। कल्हण ने इसकी रचना लगभग ईसा संवत् ११५० में सम्पूर्ण कर दी थी। उसके बाद जोन राजा ने इसके क्रम को जारी रखा। उसने राज्य के इतिहास का वर्णन मुसलमानों के आगमन और उनके आधिपत्य की स्थापना काल तक किया है। कल्हण ने इस ग्रंथ की रचना में पूर्व ऐतिहासिक सामग्री का भी उपयोग किया था। राजाओं के गुणों और दुर्गुणों का खुल कर उसने विवेचन किया है, राज्यों के उत्थान और पतन के कारणों की खोजबीन की है और उन विभिन्न उत्कीर्ण लेखों का उपयोग किया है जिनमें राजाओं के पुण्य-कार्य – मन्दिरों का निर्माण-आदि—का उल्लेख है। इतिहास लेखन का उसका स्तर काफी ऊँचा है।

गया था। ईसा संवत् १२८६ के लगभग राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। शाहमीर नामक एक दुस्साहसी मुसलमान ने, जो पहले राजपूत था, ईसा संवत् १३१३ के लगभग राज्य की नौकरी में प्रवेश किया। धीरे-धीरे वह शक्ति-संचय करता गया और अन्त में सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। शम्सुद्दीन की उसने उपाधि धारण की। उसके वंश के शासन-काल में, जो ईसा संवत् १५६१ तक चलता रहा, काश्मीर की जनता में धीरे-धीरे इसलाम का काफी प्रचार हुआ।

नेपाल

नेपाल का राज्य निचले (लोअर) हिमालय के साथ-साथ सिक्किम से कुमायूँ तक फैला हुआ है। लेकिन नेपाल-विशेष को ही लिया जाए तो इसका क्षेत्र गण्डक और कोसी नामक नदियों के बीच की घाटी तक ही सीमित है। इस घाटी के अन्तर्गत काठमांडू तथा अन्य प्रमुख नगर हैं। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले उत्कीर्ण लेख में इस राज्य का उल्लेख एक करद राज्य के रूप में हुआ है। जनश्रुति के अनुसार यह अशोक के आधीन था। कहा जाता है कि उसी ने इस नगर की स्थापना की थी। हर्ष के काल में इसका शासन आंशुवर्मन के हाथों में था। आंशुवर्मन ने ठाकुरी वंश की नींव डाली और कन्नौज तथा तिब्बत दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखा। तिब्बत उन दिनों एक बहुत ही शक्तिशाली राज्य था और स्रांगत्सान-गैम्पो वहाँ का राजा था। ईसा संवत् ६४२ के लगभग आंशुवर्मन की मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी कौन-कौन हुए, यह कुछ पता नहीं चलता, सिवा इसके कि ईसा संवत् आठवीं शती के प्रारम्भ तक नेपाल तिब्बत की अधीनता में रहा। इसके बाद, ईसा संवत् ८७९ से नेपाल के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है—सम्भवतः इस समय से एक नये राज्य वंश का प्रारम्भ होता है। ग्रंथों और पाण्डुलिपियों के अन्त में दिए गए श्लोकों से अनेक राजाओं के नामों और उनकी तिथियों का पता चलता है। जनश्रुति है कि इनमें से एक ने काठमांडू (काष्ठमण्डप) नगर की स्थापना की थी। भारत, तिब्बत और चीन से व्यापार की अभिवृद्धि हुई। नेपाल और बंगाल के पाल राजाओं में दसवीं और ग्यारहवीं

शती में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित था। यह विश्वास करने के अनेक कारण हैं कि दक्षिण के परवर्ती चालुक्यों ने नेपाल के पदस्थित पहाड़ी प्रदेश पर आक्रमण किया था। तिरहुत के नान्यदेव ने, जो करनाटकी आक्रमणकारियों के वंशजों में से था, बारहवीं शती के प्रारम्भ में नेपाल पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी।* १७६८ तक कितने ही छोटे-छोटे राजा नेपाल पर, स्वतंतत्र रूप में और आपस में संघर्ष करते हुए, शासन करते रहे। खत्री जाति के लोगों ने, जो मूलतः अवध से आए थे, इस प्रदेश को जीत कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और एक शक्तिशाली वंश की नींव डाली। अशोक ने यहाँ बौद्ध धर्म को प्रविष्ट किया, लेकिन शीघ्र ही यह धर्म ह्रासोन्मुखी हुआ—तांत्रिक सिद्धान्तों और कट्टर शैवमत के प्रधान्य से वह भ्रष्ट हो गया।

आसाम

आसाम, जो कामरूप के नाम से विख्यात है, ब्रह्मपुत्र और सूरमा नदियों की घाटियों से बना है। उसके बीच-बीच में पहाड़ियाँ स्थित हैं। मंगोल स्रोत से उत्पन्न जातियाँ इसमें आकर बस गई थीं। यह समुद्रगुप्त के सीमा स्थित करद राज्यों में से था। हर्ष जिस समय कन्नौज में शासन कर रहा था, उस समय यहाँ का शासन भास्करवर्मन के हाथों में था। हर्ष के दरबार में आगमन से पूर्व कुमार ने चीनी यात्री हुएन्त्सांग का आदर-सत्कार किया था।†

---

* ऐसा प्रतीत होता है कि चालुक्य सोमेश्वर प्रथम और उसके पुत्र विक्रमादित्य चतुर्थ ने उत्तर-पूर्वी भारत पर सफल आक्रमण किए थे। बंगाल और तिरहुत के प्रदेशों में कुछ करनाटकी दुस्साहसियों ने अपने स्वतंत्र इलाकों का निर्माण कर लिया था। सेन-वंश की स्थापना सम्भवतः इसी प्रकार हुई थी। नान्य देव और उसके उत्तराधिकारियों का नेपाल पर इसी प्रकार आधिपत्य स्थापित हुआ था। (देखिए एच० सी० राय कृत 'डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नारदर्न इन्डिया', भाग १, पृष्ठ २०३-८)

† उसके पूर्व के राजाओं के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। लेकिन, नवीं और दसवीं शती में, इस प्रदेश का सम्पर्क बंगाल के पाल राजाओं

आहोम

आहोमों की शान जाति तेरहवीं शती के प्रारम्भ में इस देश में रहती थी।* उन्होंने इस देश को अपने ही नाम से सम्बोधित किया और अपने शासन की नींव डाली जो, भीतरी भागों में, अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित होने तक (१८२५) चलता रहा। बौद्ध धर्म, जो तेजी के साथ यहाँ फैल गया था, कोछ-जैसी आदिम जातियों की आसुरी उपासना के कारण भ्रष्ट हो गया। जो कसर रह गई, उसे मध्य कालीन बंगाल में प्रचलित तांत्रिक सिद्धान्तों के मिश्रण ने पूरा किया। गौहाटी के निकट जो कामाख्या का मन्दिर है, वह शक्ति की उपासना का केन्द्र बन गया। शक्ति की उपासना तांत्रिकों की प्रमुख विशेषता थी। मुसलमानों के आधिपत्य से आसाम मुक्त रहा, यद्यपि उस पर विजय पाने के अनेक बार प्रयत्न किए गए।

अन्य कतिपय राज्य

इन्डो-गंगा के बेसिन में एक ओर जहाँ राजपूतों की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ फल-फूल रही थीं, वहाँ दूसरी ओर बंगाल में पाल और सेन-वंशों, गूजर-प्रतिहारों और, उनके बाद, कन्नौज के राठौरों, अजमेर के चौहानों, मालवा के परमारों, गुजरात के सोलंकियों, बुन्देलखंड के चन्देलों और चेदि के कलचुरियों—अन्य छोटे-छोटे रजवाड़ों के अतिरिक्त—के भी राज्य स्थापित थे।

राजनगर कन्नौज

इस समूचे काल में कन्नौज भारत का प्रमुख नगर माना जाता था। हर्ष के काल से लेकर मोहम्मद गोरी की विजयों तक, कन्नौज

से हुआ था। बंगाल के राजा देवपाल (ईसा संवत् ८१५-५४) के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने आसाम पर विजय प्राप्त की थी और आसाम के राजाओं का एक वंश पालों के नाम से प्रसिद्ध है।

* देखिए एल० डब्ल्यू कृत—हिस्ट्री ऑफ अपर आसाम, अपर बरमा एन्ड नार्थ ईस्टर्न फ़न्टियर (१६१४), परिच्छेद दो और सात। जनश्रुति के अनुसार कामरूप नरकासुर का प्राचीन निवास स्थान था। नरकासुर ने ही कामाक्ष्या के मन्दिर को बनवाया था और उसके पुत्र भागदत्त ने कौरवों की ओर से महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। (देखिए गैट की हिस्ट्री आफ आसाम और बी० एल० बरुआ की 'अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप')

ने सर्वमान्य रूप में हिन्दुस्थान की राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था।* महत्त्वाकांक्षी राजाओं की दृष्टि हमेशा इस नगर पर लगी रहती थी। इसकी सम्पन्नता और शान की पुष्टि अरब इतिहास-लेखकों और यात्रियों ने भी की है। वे इसे हिन्द की राजधानी कहते थे। मुसलमानों के शासन-काल में दिल्ली और मौर्यों तथा गुप्तों के शासन-काल में पाटलीपुत्र का जो स्थान था, वही स्थान और पद कन्नौज ने इस काल में प्राप्त कर लिया था।

यशोवर्मन

हर्ष के काल में कन्नौज की सम्पन्नता और श्री का हुएन्त्सांग ने वर्णन किया है। हर्ष की मृत्यु के बाद सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो गया और अराजकतावाद का प्राधान्य था, लेकिन ईसा संवत् ७० में, यशोवर्मन के शासन में, कन्नौज ने फिर अपनी ख्याति प्राप्त कर ली। यशोवर्मन शक्तिशाली नरेश था। उसने चीन में अपना राजदूत भेजा था। मालतीमाधव के विख्यात रचयिता भवभूति को उसने प्रोत्साहन तथा संरक्षण दिया था। वाक्पतिराज द्वारा रचित प्राकृत काव्य गोडवाहो में एक गौड़ राजा पर उसकी विजय प्रशस्ति मिलती है। इस काव्य में वर्णन किया गया है कि वह सोमवंश का क्षत्रिय था और सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की आकांक्षा रखता था। आगे चल कर, बाद में, यशोवर्मन को काश्मीर के शक्तिशाली नरेश ललितादित्य से, और दक्षिण के चालुक्य नरेश से, पराजित होना पड़ा।

यशोवर्मन के शासन काल में प्राचीन हिन्दू-धर्म का प्राधान्य स्थापित हो गया था। पूर्व मीमांसा के महान् प्रवर्तक कुमारिल भट्ट भवभूति का शिक्षक और वाक्पतिराज का धर्म गुरु था। कन्नौज प्राचीनतावादियों का केन्द्र बन गया था और बहुत ही

* हर्ष के साम्राज्य की आभा इस नगर पर बहुत समय तक छाई रही और प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी राजा यहीं अपने राज्य की गद्दी स्थापित करना चाहता था; देखिए सी० वी० वैद्य कृत हिस्ट्री आफ मेडीविअल हिन्दू इण्डिया भाग १, पृष्ठ २७। ईलियट और डासन कृत 'हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्ट्रोरियन्स, भाग एक भी देखिए।

मान्य स्थान प्राप्त कर लिया था। समूचे उत्तरी भारत में कन्नौजिया ब्राह्मणों की धाक जम गई थी। वेदों और पूर्व मीमांसा के अध्ययन का फिर से प्रचलन हुआ। वैदिक-कर्म-काण्ड के सिद्धान्तों और दर्शन का प्रसार, इसी काल में, दक्षिण तक पहुँच गया और वहाँ के बौद्ध धर्म को अपदस्थ कर उसके लोप होने में उसने सहायता दी।

यशोवर्मन के उत्तराधिकारी निर्बल सिद्ध हुए और काश्मीर तथा बंगाल के राज्यों के दबाव ने उनकी स्थिति को नगण्य बना दिया।

गुर्जर-प्रतिहार

ईसा संवत् ८१६ के लगभग गुर्जर-प्रतिहार वंश के राजा नागभट्ट ने, जो राजपूताना के भानमल का शासक था, कन्नौज पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार कन्नौज गुर्जरों की राजधानी हो गया। गुर्जरों का यह वंश अपनी उन्नति और शक्ति के शिखर पर मिहिर भोज (ईसा संवत् ८४०-६०) और महेन्द्रपाल (ईसा संवत् ८६०-६०८) के शासन-काल में पहुँचा। इनका राज्य-क्षेत्र विस्तृत था—पंजाब का अधिकांश भाग, राजपूताना, अवध और मध्य भारत उनके राज्य में सम्मिलित थे।

दक्षिण की आक्रमणशील राष्ट्रकूट शक्ति से मिहिर भोज की गहरी शत्रुता बनी रही और गुजरात को विजय करने का उसने प्रयत्न किया। बंगाल पर उसने सफल आक्रमण किया और जेजकभुक्ति (बुन्देलखंड) की बढ़ती हुई चन्देल सत्ता पर भी अंकुश रखने में सफलता प्राप्त की।

मिहिरभोज का पुत्र महेन्द्रपाल था। वह पंजाब से बिहार तक के विस्तृत प्रदेश पर शासन करता था। सुविख्यात कवि राजशेखर का वह संरक्षक था। गुजर-प्रतिहारों की शक्ति की पुष्टि तत्कालीन अरब लेखकों ने भी की है। सिंध की ओर से पूर्व दिशा में होने वाले अरबों के विस्तार को उन्होंने सफलता पूर्वक रोक दिया था। भोज की शासन-व्यवस्था की अरब-लेखक अलमसूदी (ईसा संवत् ८५१) ने भी प्रशंसा की थी। अरब कन्नौज के साम्राज्य को जुज्र या गुर्जरों का साम्राज्य कहते थे। राष्ट्रकूटों की अरबों से मित्रता थी और प्रतिहारों से वे शत्रुता रखते थे। प्रतिहारों

को वे गुर्जर कहते थे—क्योंकि वे गुर्जराष्ट्र, पश्चिमी राजपूताना, के मूल निवासी थे।

महीपाल

महीपाल (ईसा संवत् ९१०-४०) ने कुछ काल तक साम्राज्य की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा। समकालीन अरब-यात्री अल-मसूदी ने उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति की पुष्टि की है। अल-मसूदी ने ईसा संवत् ९१२-१६ में भारत की यात्रा की थी।

महीपाल को पूर्व में पालों का और दक्षिण में राष्ट्रकूटों के विरोध का सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने, ईसा संवत् ९१७ के लगभग, कन्नौज पर अधिकार कर लिया और महीपाल को वहाँ से पलायन करना पड़ा। लेकिन प्रतिहारों ने अपने साम्राज्य के अधिकांश भाग को फिर से प्राप्त कर लिया, यद्यपि उसे वे कायम न रख सके। बाद के राजा निर्बल सिद्ध हुए। कुछ सामन्ती शासकों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। परिणामतः साम्राज्य का क्षेत्र संकुचित होकर दोआबे तक ही सीमित रह गया।

कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों के साम्राज्य ने सिंध से होने वाले अरबों के आक्रमणों को रोकने में बहुत कुछ मदद दी थी। लेकिन अरब शक्ति स्वयं नवीं शती में क्षीण हो गई और प्रतिहारों के साथ-साथ वह भी संकुचित-सीमित होकर रह गई। जब सुबुक्तगीन के तुर्की वंश ने भारत के द्वार को आकर खटखटाया—दसवीं शती के अन्तिम चतुर्थांश में—तब प्रतिहारों का ह्रास काफी आगे बढ़ चुका था।

गुर्जरों का पतन और महमूद गजनी

महीपाल के पुत्र के शासन-काल में साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया और, ईसा संवत् ९१६ में, कन्नौज पर शक्तिशाली राष्ट्रकूट नरेश ने अपना आधिपत्य जमा लिया। चन्देलों की सहायता से कन्नौज फिर मुक्त हुआ—जो धीरे-धीरे शक्तिशाली होते जा रहे थे। गुर्जरों की सत्ता छिन्न-भिन्न होती गई और, १०१८ में, मुसलमान आक्रमणकारी महमूद गज़नी के सम्मुख उसने अस्त्र डाल दिए।

महमूद गज़नी ने एक ही दिन में नगर के सात दुर्गों पर अधिकार कर लिया और भारी मात्रा में लूट का माल लेकर लौट गया। भीरु गुर्जर-नरेश राज्यपाल कन्नौज छोड़कर चला गया और गंगा के उस पार बारी में जाकर शरण ली। अगले वर्ष फिर चन्देल राज्य की ओर प्रस्थान करते हुए महमूद गज़नी ने नगर पर आक्रमण किया और नयी राजधानी बारी पर अधिकार कर लिया।

गहड़वाल या गहरवार—ईसा संवत् १०९०

गुर्जर-प्रतिहारों के वंश का लोप हो गया और कन्नौज, जिस पर राष्ट्रकूटों के एक स्थानिक वंश का शासन था, ईसा संवत् १०६० से कुछ पूर्व, गहड़वाल जाति के चन्द्रदेव के अधिकार में चला गया। चन्द्रदेव का बनारस और अयोध्या पर पहले से ही आधिपत्य स्थापित था। इस प्रकार चन्द्रदेव के वंश का, जो राठौर-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ, शासन एक शती से अधिक तक चलता रहा।*

गोविन्द चन्द्र ने (ईसा संवत् १११४-५५) जो राठौर वंश के संस्थापक चन्द्र देव का पौत्र था, दीर्घ काल तक शासन का उपयोग किया और उसके शासन में कन्नौज की लुप्त श्री और शक्ति फिर से जीवित हो उठी।† उसका पौत्र जयचन्द्र (ईसा संवत् ११७०-११९३) था। वह दिल्ली के पृथ्वीराज के घातक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में, अनेक काव्यों और गाथाओं में, प्रसिद्ध

* जोधपुर के राठौर सरदार ने यह घोषित किया था कि वह अन्तिम गहड़वाल राजा जयचन्द्र के वंश से सम्बन्ध रखता है।

† कहा जाता है कि गोविन्द चन्द्र ने पंजाब के मुसलमानों से युद्ध किया था और मुसलमानों से होने वाली लड़ाइयों का खर्च जुटाने के लिए उसने एक विशेष कर—तुरुक दण्ड—जारी किया। मुसलमानों के पाँव पंजाब में दृढ़ता के साथ जम चुके थे और उनके आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिये गोविन्द चन्द्र को घोड़सवार सेना रखनी पड़ती थी। मुसलमान स्वयं अच्छे घोड़सवार थे और उनका मुकाबला भारतीय सेना के धीमे चलने वाले हाथियों या पैदल सैनिकों से नहीं किया जा सकता था। देखिए सी० वी० वैद्य कृत हिस्ट्री आफ मेडीविअल हिन्दू इन्डिया भाग दो, पृष्ठ २१३। आर० डी० भारद्वाज कृत हिस्ट्री आफ इन्डिया, पृष्ठ १४१ भी देखिए।

हो चुका है। जयचन्द्र ने चन्देल राजा परमार्दी को, पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता की थी। इस सामन्ती संघर्ष और पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र की कन्या के प्रेम और विवाह की गाथा चन्दबरदायी कृत पृथ्वीराजरासो में वर्णित है। इस संघर्ष के फेर में पड़ कर न तो जयचन्द्र, न पृथ्वीराज और न चन्देल राजा ने उस खतरे का अनुभव किया जो मोहम्मद गोरी के पंजाब में घुस आने से उत्पन्न हुआ था।

जयचन्द्र एक शक्तिशाली नरेश था। लेकिन पृथ्वीराज से उसकी शत्रुता इतनी अधिक थी कि उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करने के लिए, मोहम्मद गोरी को निमंत्रित किया था। ऐसा करके उसने पृथ्वीराज का ही नहीं, स्वयं अपना भी, अन्त में, नाश किया।

कुछ इतिहास-लेखकों का कहना है कि ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते जिनके आधार पर जयचन्द्र को, एक विदेशी को निमंत्रित करने के अपराध में दोषी ठहरायें। यह भी हो सकता है कि मोहम्मद गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज की सहायता करने से उसने इंकार कर दिया हो। कारण यह कि जयचन्द्र ने, जब मोहम्मद गोरी कन्नौज की ओर बढ़ा, उससे युद्ध करने में अद्भुत साहस का परिचय दिया था और शत्रु के हाथ में पड़ने के बजाय गंगा में डूब कर मर जाना अच्छा समझा। इस प्रकार, ईसा संवत् ११९४ में, जयचन्द्र की मृत्यु के बाद कन्नौज की स्वतंत्रता लुप्त हो गई, जयचन्द्र के पुत्रों को मुसलमान शत्रु से जान बचा कर भागना पड़ा और बनारस तक पूरा दोआब हिन्दुओं के हाथ से निकल गया।*

अजमेर के चौहान

राजपूताना के छोटे से राज्य सांभर—जिसके साथ अजमेर भी सम्बद्ध था—पर चौहान बहुत दिन से शासन करते आ रहे थे।

* मुसलमानों को निमंत्रित करने के सम्बन्ध में जयचन्द्र का दोष कितना था, इसके सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध हैं या नहीं, यह सी० वी० वैद्य कृत हिस्ट्री आफ मेडीविअल हिन्दू इन्डिया, भाग ३ (डाउनफाल आफ हिन्दू इन्डिया) की सातवीं पुस्तक के आठवें और ग्यारहवें परिच्छेद देखिए।

टॉड के कथनानुसार चौहान राजपूतों में सब से साहसी और शूरवीर थे। उनके प्रारम्भिक राजा नवीं और दसवीं शती में हुए थे। उनमें से एक—अजयदेव—के बारे में कहा जाता है कि उसने ग्यारहवीं शती के अन्त में अजमेर के दुर्ग को बनवाया और इस नगर की स्थापना की। बारहवीं शती के मध्य में विशालदेव (अथवा विग्रह राजा) हुआ। वह बहुत बड़ा योद्धा था और दिल्ली पर विजय प्राप्त की थी। वह कवि भी था और दूसरे कवियों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान करता था। किरातार्जुन के आधार पर कहा जाता है कि उसने एक नाटक लिखा था। अजमेर में एक सरोवर और संस्कृत के विद्यालय की भी उसने स्थापना की थी जिसे, बाद में, मुसलमानों ने मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर लिया।*

पृथ्वीराज

अगला महत्वपूर्ण राजा, उसका भानजा पृथ्वीराज हुआ।† वह इस वंश का अन्तिम राजा था। चन्द के पृथ्वीराजरासो में उसके साहसी कृत्यों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। चन्दबरदायी उसका समकालीन था। अन्य ऐतिहासिक काव्यों, जिनका हाल ही में आविष्कार हुआ है, से भी हम उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। कहा जाता है कि उसने अपने अत्यधिक शक्तिशाली नरेशों—गुजरात के भीमदेव चालुक्य, परमार्दी चन्देल और कन्नौज के जयचन्द्र—से भी युद्ध किया और उन पर विजय प्राप्त की। चन्द का सम्पूर्ण कार्य उसके साहस और शूरवीरता की कथाओं से भरा हुआ है जिनमें कितनी ही कल्पित भी हो सकती हैं। चक्रवर्ती पद के लिए उसे जयचन्द्र से प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ी थी। जयचन्द्र के दादा शक्तिशाली राजा थे और उसके पिता को अजमेर के विशाल देव के सम्मुख नीचा देखना पड़ा था।

---

* दिल्ली के लौहस्तम्भ के उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि उसने मुसलमानों की सामूहिक हत्या करके आर्यावर्त को फिर से वास्तविक आर्यावर्त—आर्यों का देश—बना दिया था।

† राय पिथौरा और पृथ्वीराज के नाम से भी वह प्रसिद्ध है। उसके जन्म और राज्यारोहण की तिथियाँ निश्चयात्मक रूप से नहीं बताई जा सकतीं।

विशाल देव ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार चौहानों की शक्ति बढ़ गई।*

इसके बाद विशाल देव के उत्तराधिकारी का, स्वभावतः जयचन्द्र के प्रपौत्र गोविन्द चन्द्र से युद्ध हुआ। चन्द ने अपनी काव्य-गाथा में पृथ्वी राज का जयचन्द की कन्या से विवाह कराया है। पृथ्वीराज उसे, अपनी प्रेमिका को, सम्भवतः, आकस्मिक आक्रमण कर भगा लाया था। जो भी हो, पृथ्वीराज और जयचन्द की प्रतिद्वन्द्विता ने उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया और वे इस योग्य नहीं रह सके कि मोहम्मद गोरी से लोहा ले सकें। फलतः, अन्त में, दोनों का नाश हुआ। मोहम्मद गोरी की सेना के साथ अपनी पहली मुठभेड़ में पृथ्वीराज ने तलयारी (तिरौरी) में, ईसा संवत् ११९१ में, विजय प्राप्त की थी और शत्रु को इन्दस के उस पार पीछे होने के लिए बाध्य कर दिया था। अगले वर्ष, इसी युद्ध क्षेत्र में, उसकी मोहम्मद गोरी से फिर मुठभेड़ हुई। इस दूसरी मुठभेड़ में वह पराजित हुआ और मारा गया। अजमेर लुट गया, बरबाद हो गया और दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। पृथ्वीराज के पतन के बाद जयचन्द्र का पतन हुआ और मुसलमानों का अधिकार कन्नौज और बनारस पर भी हो गया। इस प्रकार उत्तर भारत में हिन्दुओं की स्वतंत्रता के युग का अन्त हो गया।

---

* दिल्ली प्राचीन इन्द्रप्रस्थ के निकट स्थित थी। ग्यारहवीं शती के मध्य में इसकी स्थापना अनंगपाल तोमार ने की थी। इसने लाल किले का निर्माण किया था। प्रसिद्ध प्राचीन लौहस्तम्भ भी, कहा जाता है कि, ईसा संवत् १०५२ में उसी ने मथुरा से लाकर यहाँ खड़ा किया था। जैसा हम देख चुके हैं, एक शती बाद चौहानों का इस पर आधिपत्य हो गया। पृथ्वीराज ने इस नगर का विस्तार किया और उसके चारों ओर परकोटा बनवाया। गोरी के सूबेदार कुतुबुद्दीन ने जब इस पर अधिकार किया तो उसने हिन्दू और जैन मन्दिरों को मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर लिया। कहा जाता है कि कुतुबुद्दीन की लाट भी, अपने मूल रूप में, एक अर्द्ध-निर्मित कीर्तिस्तम्भ था जिसे परिवर्तित कर मीनार बना दिया गया। उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि दिल्ली का पुराना नाम ढिल्लिका था।

जेजकभुक्ति के चन्देल

जेजकभुक्ति के चन्देलों (जेजक प्रान्त में जमुना और नर्मदा के बीच का प्रदेश सम्मिलित था) का शासन नवीं शती में शुरू हुआ। इस राजवंश ने दीर्घ काल तक अपने शासन का उपभोग किया। चन्देल सम्भवतः गोंड थे जिन्होंने हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लिया था और अपने मूल रूप में कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन सामन्ती इलाकों के सरदार थे। नन्नूका इस वंश का वास्तविक संस्थापक था। नवीं शती के प्रथम चतुर्थांश में उसने सत्ता प्राप्त की थी। यशोवर्मन (ईसा संवत् ९२५-५०) इस वंश का पहला महान् राजा था जिसने पड़ोसी कलचुरियों को पराजित कर कलिंजर के दुर्ग पर विजय प्राप्त की। पहले ही दुर्बल हुए कन्नौज के राजा को परास्त किया और वहाँ से विष्णु की एक प्रतिमा ले आया जिसे खजुराहो के सुन्दर मन्दिर में प्रतिष्ठित किया।

चन्देल राजा, वस्तुतः, महान् निर्माता थे। समूचा बुन्देलखंड उनकी निर्माण-शक्ति के नमूनों से—ऊँचे दुर्गों, राजसी मन्दिरों और तट-निर्मित (तटयु) सरोवरों—के अवशेषों से भरा पड़ा है।

धांगा और गांडा

यशोवर्धन का पुत्र धांगा (ईसा संवत् ९५०-९९) इस वंश का सब से बड़ा राजा था। उसने सुबुक्तगीन से—महमूद गजनी के पिता—अन्य राजपूत राजाओं के साथ लोहा लिया था। उसके पुत्र गांडा (ईसा संवत् ९९९-१०२५) ने सुलतान महमूद के विरुद्ध राजपूत राज्यों को फिर से एक सूत्र में बाँध कर संयुक्त मोर्चा स्थापित किया किन्तु १०२३ में उसे आक्रमकों के सम्मुख कलिंजर के दृढ़ दुर्ग को छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा।

कीर्तिवर्मन

एक अल्पकालिक अंधकार के बाद चन्देल शक्ति ने कीर्तिवर्मन के शासन में फिर से जीवन प्राप्त किया। ईसा संवत् १०४९ से ११०० तक कीर्तिवर्मन ने शासन किया। उसने प्रतिद्वन्द्वी चेदी राजा पर विजय प्राप्त की थी और एक विचित्र नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय'—कृष्ण मिश्र रचित—को उसने प्रोत्साहन तथा संरक्षण दिया था। यह नाटक वेदान्तिक दर्शन पर आधारित था और इसके पात्र

भक्ति, विनय, शील आदि गुणों के प्रतीक थे।* इसमें राजा की विजय का गुण-गान किया गया है। यह नाटक राजा के सम्मुख ईसा संवत् १०६५ में खेला गया था।

मदनवर्मन एक प्रतापी राजा था। उसने ११२५ से ११६५ तक शासन किया। गुजरात के पड़ोसी राज्य पर उसने विजय प्राप्त की थी और महोवा में एक ताल का निर्माण किया था। इस ताल को उसने बहुत आकर्षक तथा सुन्दर रूप दिया था।

अन्तिम चन्देल राजा परमार्दी या परमल था। ११८२ में पृथ्वी राज ने उसे पराजित किया था। १२०३ में, कलिंजर का दुर्ग भी उसके हाथों से निकल कर गोरी के वाइसराय कुतुबुद्दीन के अधिकार में चला गया था। इसके बाद इस वंश का पतन हुआ और चन्देल जाति कुछ स्थानिक सरदारों के रूप में, सोलहवीं शती तक, 'जीवित' बनी रही।

चेदी के कलचुरी

कलचुरी या हैहेय वंश के राजा चन्देलों से सम्बन्धित थे। अति प्रचीन काल से वे नर्मदा की घाटी में बसे हुए थे। कहा जाता है कि उन्होंने अयोध्या के सूर्यवंशी राजा सागर से युद्ध किया था। अभी हाल तक दक्षिणी कोशल (छत्तीस गढ़) पर उनका अधिकार स्थापित था। नर्मदा पर स्थित महिष्मती या महेश्वर उनकी पहली राजधानी थी।

कलचुरी, असंदिग्ध रूप से, हैहेय क्षत्रियों की ही एक शाखा थे। त्रिपुरा (आधुनिक जबलपुर) में उन्होंने अपना एक अलग राज्य स्थापित कर लिया था। उनकी शक्ति का विस्तार कलिंजर तक हुआ था जिस पर बहुत दिनों तक उनका अधिकार बना रहा। चेदी प्रदेश पर भी उनका आधिपत्य स्थापित था और इसी लिए उनका नाम चेदी पड़ा।

वे अपने-आपको नर्मदा की घाटी में रहने वाली क्षत्रियों की एक प्राचीन जाति का वंशज बताते थे। उन्होंने अपने संवत्—चेदी संवत्—की भी ईसा संवत् २४८ में स्थापना की थी और इसी का वे प्रयोग करते थे। कोकल्लदेव कलचुरी-वंश का संस्थापक

---

* इस नाटक का संक्षिप्तसार सिलविएन लेवी ने अपनी पुस्तक 'इन्डियन थियेटर' में पृष्ठ २२९-३५ पर दिया है।

था और ईसा संवत् ८५० में उसने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। इस वंश का सब से बड़ा राजा ईसा संवत् १०१५-४० में गांगेय देव था। उसने पड़ोसी-राज्यों पर विजय प्राप्त की थी और चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा रखता था। उसके पुत्र कर्णदेव (ईसा संवत् १०४०-७०) ने बंगाल के पालों से युद्ध किया था और मालवा के भोज को पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी; किन्तु अन्त में चन्देल राजा कीर्तिवर्मन ने उसे कुचल दिया और बारहवीं शती के अन्त तक यह वंश नगण्य स्थिति को प्राप्त हुआ। इस वंश का स्थान रीवा के बघेलों ने ले लिया और जो कुछ कसर रह गई उसे मुसलमानों के आक्रमण ने पूरा कर दिया।

मालवा के परमार

मालवा के परमार (या पवार) अग्निकुल जाति के थे। नवीं शती के आरम्भ में आबू-पर्वत के निकट इन्होंने अपने राज्य की स्थापना की थी। कृष्णराज उर्फ उपेन्द्र इस वंश का संस्थापक था। इन्हें अपने सभी पड़ोसी-राज्यों से घोर संघर्ष करना पड़ा। चन्देलों से, कलचुरियों से, गुजरात के राजाओं और दक्षिण के परवर्ती चालुक्यों से—सभी से इन्होंने भीषण युद्ध किया था।

मुंज

सियाक (श्री हर्ष) इस वंश का छठा राजा था। उसे हूणों (सम्भवतः अरबों) पर विजय पाने का श्रेय प्राप्त था। राष्ट्रकूटों पर भी उसने विजय प्राप्त की थी। उसकी तिथि ईसा संवत् ९५०-७३ मानी गई है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी इस वंश का सातवाँ राजा था। वाकयति या मुंज उसका नाम था और ९७४ से ९७ तक उसने शासन किया। वह बहुत ही विद्वान् था। कवियों को प्रोत्साहन देता था। काव्य-प्रेम के साथ-साथ वह योद्धा भी था। अपने दक्षिणी पड़ोसी, दक्षिण के चालुक्य, के साथ उसका बहुधा संघर्ष चलता रहता था। मुंज का शक्तिशाली शत्रु तैलप था जिसने राष्ट्रकूट शक्ति को नष्ट कर दिया था और पश्चिमी चालुक्यों (परवर्ती चालुक्यों) की एक दूसरी परम्परा का श्रीगणेश किया था। अतिशय आत्मविश्वास

के वशीभूत हो उसने सातवें आक्रमण का आयोजन किया, किन्तु उसकी सेना टुकड़े-टुकड़े कर दी गई और बर्बर व्यवहार के पश्चात् उसे मृत्यु दण्ड दे दिया गया।

मुंज एक प्रतिभा सम्पन्न कवि था। उसके संरक्षण प्राप्त कवियों में सुप्रसिद्ध कवि पद्मगुप्त, और धनंजय, 'दसरूप' का रचयिता भी था। यह ग्रंथ नाट्य-रचना पर लिखा गया था। मुंज ने बहुत से मन्दिर और ताल बनवाए जिनमें एक आज दिन भी उसके नाम से प्रसिद्ध है। यह ताल मांडू के निकट स्थित है।

भोज

भोज के शासन-काल (ईसा संवत् १०१८-६०) में मालवा की ख्याति और श्री में और भी वृद्धि हुई। वह अपने चचा मुंज से अधिक विद्वान् और विद्याप्रेमी था और "सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि से भारतवर्ष के श्रेष्ठ क्षत्रियों का प्रतीक था......वह महाकाव्यों में वर्णित राम और युधिष्ठिर के या विक्रम और हाला के समान था।" उसने ज्योतिष विज्ञान, काव्य शास्त्र, व्याकरण आदि पर अनेक ग्रंथों की रचना की थी और एक बड़ी झील के अतिरिक्त संस्कृत-अध्ययन के लिए एक बहुत बड़े विद्यालय का निर्माण किया था। इस विद्यालय को उसने अपनी राजधानी धार में बनवाया था जिसमें, पत्थरों पर खोदे हुए, विभिन्न विषयक संस्कृत के प्रचलित सूत्र लगे हुए थे।

अपने पड़ोसी राज्यों से उसने घोर युद्ध किए—चालुक्यों से, चेदियों से, गुजरात के राजाओं से—यहाँ तक कि मुसलमानों से भी उसे भिड़ना पड़ा था। उसके शासन-काल में मालवा अत्यन्त श्री-सम्पन्न था। वह कविराज मालवा-चक्रवर्तिन् कहलाता था और उसे हम हिन्दू भारत के महानतम नरेशों की पंक्ति में रख सकते हैं।* अपनी राजधानी धार में उसने एक विश्व-विद्यालय की स्थापना की थी जो सरस्वती का मन्दिर कहलाता था। १०४ मन्दिरों का उसने निर्माण किया था और इसी अनुपात से १०४ कविताओं की रचना की थी। इनमें से २८ का

* देखिए सी० वी० वैद्य लिखित हिस्ट्री ऑफ मेडीविअल हिन्दू इन्डिया के भाग तीन की पुस्तक ७ का चौथा परिच्छेद, पी० टी० श्रीनिवास आयंगर कृत 'भोज राजा' के चौथे से आठवें परिच्छेद तक भी देखिए।

अब तक पता चला है। उसके शासन-काल में काव्य में भावों से अधिक शब्दों के कुशल प्रयोगों को महत्व दिया जाने लगा था। अन्त में गुजरात के और चेदियों की संयुक्त शक्ति के सम्मुख उसे पस्त होना पड़ा और उसके बाद जो उसके उत्तराधिकारी हुए वे निर्बल सिद्ध हुए और तेरहवीं शती का अन्त होते-होते इस वंश की शक्ति हीन और नगण्य स्थिति को प्राप्त हो गई। मालवा पर दूसरी जातियों का अधिकार हो गया और इसके बाद, धीरे-धीरे, मुसलमानों का देश पर अधिकार होता गया—यहाँ तक कि, १४०१ के लगभग, मुसलमानों ने अन्तिम हिन्दू राजा को समाप्त कर अपना शासन पूरी तरह से स्थापित कर लिया।

गुजरात (अ) अनहिलवाड़ के चावड़ा

वलभी-राज्य के पतन के बाद उत्तरी गुजरात के पाटन में चावड़ों का राज्य स्थापित हुआ। ये लोग, प्रत्यक्षतः, कन्नौज के अधीन रह कर, कुछ दिनों तक शासन करते रहे। इनका पहला महत्वपूर्ण राजा बनराज था। उत्तरी गुजरात (अनहिलपुर) में, ईसा संवत् ७४५ के लगभग, उसने अनहिलवाड़ की स्थापना की थी। यह नगर आगे चल कर शक्तिशाली सोलंकियों की राजधानी बना। बनराज के उत्तराधिकारी ईसा संवत् ९६१ तक शासन करते रहे। फिर मूलराज ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। ईसा संवत् ९६० के लगभग मूलराज ने सोलंकी वंश की स्थापना की।

चावड़ों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे सूर्य के उपासक थे। वे सम्भवतः शैव थे और जैन पण्डितों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण देते थे। इन्हीं का एक अन्य छोटा राज्य-वंश, चापस-वंश, काठियावाड़ के वधवान (वर्धमान) पर शासन करता था। इसी प्रकार एक अन्य शाखा, चूड़ासम, वामनस्थली (वानथली या वनस्थली) में ईसा संवत् ८७५ से राज्य कर रही थी—पाँच सौ वर्ष से भी अधिक उसे राज्य करते हो गए थे।

(ब) सोलंकी

सोलंकियों के इतिहास का बम्बई गजेटियर में, जैन स्रोतों और उत्कीर्ण लेखों पर आधारित, भली भाँति वर्णन मिलता है। यह दक्षिण के चालुक्य-वंश का समानवाची नहीं था; इसका बारहवीं शती के मध्य से उत्कीर्ण लेखों में सारस्वत मण्डल की गुर्जर भूमि

के रूप में उल्लेख मिलता है। अरब ज्योतिषी अलबेरूनी ने भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए राजपूताना में जयपुर के निकटवर्ती प्रदेश को गुजरात कहा है। सालंकी वंश के सदस्य, यद्यपि अपने को गुर्जर नहीं कहते थे, फिर भी उनका इस रूप में उल्लेख मिलता है। ये शैव थे, किन्तु जैनों के प्रति इनका बहुत ही उदार-भाव था और इनका इष्ट देवता सोमनाथ था।

मूलराज

मूलराज (ईसा संवत् ९६१-९६) को राजपूताना, दक्षिणी गुजरात और सिंध के अपने पड़ोसी राज्यों के साथ जमकर युद्ध करना पड़ा था। अपनी राजधानी में उसने शिवजी का एक मन्दिर बनवाया था। देश के विभिन्न भागों से विद्वान् ब्राह्मणों को बुला-बुला कर उसने अपने राज्य में बसाया था।

मूलराज के बाद अगला महत्वपूर्ण राजा भीम प्रथम (ईसा संवत् १०२२-६४) हुआ। वह मालवा के राजा भोज और चेदि वंश के राजा कर्ण का समकालीन था और इनसे उसका बहुधा संघर्ष रहता था। उसके शासन-काल के प्रारंभिक दिनों में महमूद गज़नी ने सोमनाथ पर अपना सुप्रसिद्ध आक्रमण किया था जो काठिया-वाड़ के दक्षिणी तट पर स्थित था। लेकिन भीम प्रथम के शासन-काल में उसके राज्य ने उन्नति की और पहले से अधिक दृढ़ हो गया। उसके पुत्र कर्ण ने तीस वर्ष तक निर्विघ्न शासन किया और कर्णावती नाम से एक नगर भी बनवाया। इस नगर को, शीघ्र ही, उसने अपनी राजधानी बना लिया। आगे चलकर यही नगर अहमदाबाद के रूप में विकसित हुआ।

सिद्धराज

जयसिंह सिद्धराज (ईसा संवत् १०९३-११४३) इस वंश का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसने बहुत से मन्दिर बनवाए थे, कुछ म्लेच्छों को भी पराजित किया था—जो सम्भवतः विदेशी आक्रमणकारी थे और सिंध की ओर से आए थे। अनेक विद्वानों का उसने पोषण किया था जिनमें जैन पण्डित हेमचन्द्र सब से बड़ा था और सब से बढ़ कर अनेक गाथाओं का चरितनायक बनने का भी उसे गौरव प्राप्त हुआ था। उसने चन्द्रवर्तिन नाम से अपने एक संवत् को भी चालू किया था।

कुमारपाल

इस वंश का अन्तिम महत्वपूर्ण राजा कुमारपाल (ईसा संवत् ११४३-११७२) था। वह बहुत ही बुद्धिमान और न्यायप्रिय राजा था। जैन धर्म और उसके प्रवर्तकों-प्रचारकों का वह बहुत आदर करता था। अपने पूर्वाधिकारियों के समान वह भी एक महान् निर्माता और योद्धा था—और उसे सोमनाथ के पुनर्निर्माण का—अथवा पुनर्निर्माण के कार्य को सम्पूर्ण करने का—श्रेय प्राप्त था। अपने शासन के परवर्ती काल में उसने वस्तुतः जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और अहिंसा के सिद्धान्त का बड़ी तत्परता के साथ पालन करता था। लेकिन उत्कीर्ण लेखों में उसका उल्लेख शिव-भक्त के रूप में मिलता है। सम्भवतः वह जैनधर्म का बहुत बड़ा प्रशंसक था और उसके सिद्धान्तों का उस पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा था। जैन इतिवृत्तों के अनुसार अपने मार्ग दर्शक हेमचन्द्र का संकेत पाकर ही उसने सोमनाथ के पुनर्निर्माण-कार्य को पूरा किया था।

उसके उत्तराधिकारी शक्तिशाली नहीं थे, फिर भी उन्होंने मोहम्मद गोरी का (ईसा संवत् ११७८) पीछे धकेल कर गुजरात को मुसलमानों के हाथ में पड़ने से बचा लिया था और लगभग एक शती तक उसे मुसलमानों के आधिपत्य से सुरक्षित रखा। ११९६ में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया, पर सफल न हो सका। लेकिन सामन्ती राजाओं और सरदारों की छीनझपट से यह राज्य न बच सका और अनहिलवाड़ में बघेलों ने अपना शासन स्थापित कर लिया। इस प्रकार बघेलों के वंश का शासन प्रारम्भ हुआ जो कुछ दिनों—१३०४ में मुसलमानों की विजय तक—चलता रहा। गिरनार और आबू पर्वत में जो जैन मन्दिर मिलते हैं, वे बघेल-मंत्रियों के ही बनवाए हुए हैं। रीवा में आज कल इन्हीं बघेलों के प्रतिनिधि शासन कर रहे हैं। सोलंकियों का वंश, असंदिग्ध रूप से, उल्लेखनीय वंश था और इस वंश के प्रायः सभी राजा योग्य और क्रियाशील शासक थे।

मेवाड़ के गहलौत

इस काल में राजपूताना में जो विभिन्न राज्य उठ खड़े हुए, उनमें मेवाड़ के गहलौत (सिसौदिया) प्रसिद्ध थे। आज के राजपूतों में,

प्रतिष्ठा और मान में, ये सब से अधिक आगे माने जाते हैं। ये अपने को, बिना किसी क्रमभंग के, सीधा सूर्यवंशी बतलाते हैं। इस प्रतापी राज्य-परम्परा का संस्थापक बप्पारावल था। भीलों का उपयोग करके उसने ईसा संवत् ७३० में अरबों के आक्रमण को व्यर्थ कर उन्हें पीछे धकेल दिया था। उसके जन्म और शूरवीरता के सम्बन्ध में तरह-तरह की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। उसके पुत्र गुहिला ने राजपूताना में स्थित चित्तौर पर कब्जा कर लिया जो आठ शतियों तक, अकबर के शासन-काल तक, उसकी राजधानी बना रहा।

तेरहवीं शती से इस वंश ने ख्याति प्राप्त करनी शुरू की। मुसलमान-काल में इस वंश का जौहर प्रकाश में आया। आधुनिक जयपुर कच्छवाहा, जिन्होंने नवीं शती में ग्वालियर के दुर्ग का निर्माण किया था, दिल्ली के तोमार तथा अन्य राजपूतों के सम्बन्ध में, उनका उल्लेख-भर करने के सिवा, और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

बंगाल के पाल

हर्ष के बाद बंगाल दीर्घकाल तक अंधकार में पड़ा रहा। सातवीं शती के परवर्ती काल में मगध के गुप्तों और सामटाटा के खड्गों द्वारा बंगाल और बिहार पर शासन करने का उल्लेख मिलता है। ईसा संवत् ७५० तक बंगाल पर बाहर से बराबर आक्रमण होते रहे—कन्नौज के यशोवर्मन की तरह यह भूमि भी आक्रमणों से त्रस्त-पस्त होती रही। अन्त में गोपाल ने यहाँ अपना शासन स्थापित किया और पाल वंश की नींव डाली। पाल अपने को महाकाव्यों के नायकों अथवा अन्य किसी देवकुल का वंशज नहीं घोषित करते थे। इस वंश के प्रारम्भिकतम ताम्रपत्र में—धर्मपाल के खलीमपुर वाले ताम्रपत्र में—गोपाल के सम्बन्ध में लिखा है कि "तत्कालीन अराजकवाद का अन्त करने के लिए उसे भाग्यलक्ष्मी का वरण करना पड़ा था।"

गोपाल ने ईसा संवत् ७३० से ४० तक शासन किया। उसकी शक्ति का विस्तार पश्चिमी बंगाल और दक्षिणी बिहार तक था। वह एक विनयशील बौद्ध था। उद्दान्तपुर में, बिहार के निकट,

उसने एक बहुत बड़े विहार का निर्माण किया था। उद्दान्तपुर उसकी राजधानी भी था।

धर्मपाल और देवपाल

गोपाल का उत्तराधिकारी धर्मपाल था। वह ईसा संवत् ८०० में हुआ था। उसने दीर्घकाल तक विजयपूर्ण शासन का उपभोग किया और उसका प्रभुत्व कन्नौज से विंध्या तक स्थापित था। कन्नौज के शासक को सिंहासन-च्युत कर उसने अपने प्रतिनिधि के हाथों में वहाँ का शासन सौंप दिया। तिब्बत की अनुश्रुति के अनुसार गंगा के तट पर स्थित विक्रमशिला के सुप्रसिद्ध विहार और विश्वविद्यालय की स्थापना उसी ने की थी।

देवपाल (ईसा संवत् ८१५-८५४) इस वंश का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था और बौद्ध धर्म का उग्र समर्थक तथा पोषक था। उसके सेनापति लवसेन ने पूर्व में आसाम और दक्षिण में कलिंग पर विजय प्राप्त की थी। पालों के उत्कीर्ण लेखों में—जैसे मुंगेर का ताम्र-पत्र—देवपाल का एक महान् विजेता के रूप में वर्णन मिलता है। अपने मंत्रियों धर्वपाणि और केदार मिश्र—की सहायता से, कहा जाता है कि उसने उत्कलों की जाति का नाश किया, हूणों के गर्व का भंजन किया और द्रविड़ तथा गुजरात के शासकों के दम्भ को चूर-चूर कर दिया। नालन्दा में प्राप्त एक ताम्र-पत्र के विवरण के अनुसार, स्वर्णद्वीप के राजा के प्रार्थना करने पर—जो युवाभूमि के राजा शैलेन्द्र का प्रपौत्र था—नालन्दा के एक बौद्ध विहार की सहायता के लिए उसने कई गाँवों का दान किया था। युवाभूमि और स्वर्णद्वीप आज के जावा और सुमात्रा बताये जाते हैं। इस प्रकार उस काल में लोअर गंगा के प्रदेश और आर्कीपैलेगो के द्वीपों के बीच आदान-प्रदान स्थापित था।

इस वंश का अगला महत्वपूर्ण राजा नारायण पाल (ईसा संवत् ८५७-९११) था। उसके हाथ से विहार का काफी बड़ा टुकड़ा निकल कर मिहिरभोज के अधिकार में चला गया था। मिहिरभोज कन्नौज का शक्तिशाली प्रतिहार राजा था। राष्ट्रकूटों ने नारायण पाल के राज्य पर आक्रमण किया। इस प्रकार क्षीण हुई पाल-शक्ति को फिर, राज्य पाल के शासन-काल (९११-९३५) में,

कुछ सिर उठाने का अवसर मिला, क्योंकि गुर्जर-शक्ति का तब तक पतन शुरू हो गया था।

महिपाल

महिपाल इस वंश का नवाँ (ईसा सवंत् ९७८-१०३०) राजा था। उसने इस वंश की शक्ति को फिर से स्थापित किया और उस क्षति की पूर्ति की जो पहाड़ी जातियों के आक्रमण से हुई थी। उत्तरी बंगाल पर, इस काल में, खम्बोजों (कम्भोज) का अधिकार था। कम्भोज सम्भवतः मंगोल जाति के लोग थे और गुर्जरों के साथ आए थे। पालों की शक्ति बढ़ा कर उनका फिर से भाग्योदय करने वालों में महिपाल का नाम लिया जाएगा। उसने बिहार पर फिर से अधिकार प्राप्त किया और उसकी शक्ति का विस्तार बनारस तक हो गया।

कल्याण के चालुक्यों ने उसके राज्य पर आक्रमण किया। महिपाल ने इस आक्रमण को रोका। लेकिन इस सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुए हैं, वे स्पष्ट नहीं हैं।

महिपाल ने बौद्ध उपदेशकों को तिब्बत भेजा था और उस देश में बौद्ध धर्म के प्रचार का वह एक शक्तिशाली साधन बन गया था। सुदूर दक्षिण की ओर से चोलों ने उसके राज्य पर आक्रमण किया और उसे, चोलों के राजा राजेन्द्र गंगईकोंड के सम्मुख, पराजित होना पड़ा था। चोल कलिंग को पार कर (निचली) लोअर गंगा की घाटी तक, ईसा संवत् १०२३ में, बढ़ आए थे। चोलों का यह उत्तरी आक्रमण, मोटे रूप में, ईसा संवत् १०२१ और १०२५ के बीच हुआ था—राजेन्द्र चोल के शासन-काल के नवें और तेरहवें वर्ष में। चोल राजा के तिरुमलई वाले उत्कीर्ण लेख में वर्णित है कि उसने उड़ीसा और दक्षिणी कोशल के राजा, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर के जिले) के राजधर्म पाल, पश्चिमी बंगाल के रणपुर, पूर्वी बंगाल के गोविन्द चन्द्र और उत्तर लड्ढा तथा तक्काना लड्ढा (सम्भवतः राधा या पश्चिमी बंगाल का प्रदेश) के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। यदि चोलों के इस उत्कीर्ण लेख की बात ठीक है तो पश्चिमी और पूर्वी बंगाल में, और उड़ीसा के सीमावर्ती प्रदेश में, स्वतंत्र राज्य स्थापित थे।

यह मान लिया जाए तो फिर महिपाल का राज्य काफी छोटा रहा होगा और पूर्वी बंगाल तथा अन्य प्रदेश उसके हाथ से निकल गए होंगे।*

महिपाल के उत्तराधिकारी दुर्बल थे और राज्य-द्रोह की घटनाओं से त्रस्त रहते थे। यह स्थिति रामपाल (ईसा संवत् १०८४-११३०) के मिथिला (उत्तरी बिहार में) और आसाम की विजय तक बनी रही। रामपाल ने पतनशील बौद्ध धर्म को सम्भालने और प्रोत्साहन देने में पूरी सहायता की। संध्याकर नन्दी रचित तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथ रामचरित—जो कलियुगी रामायण कहलाता है—रामपाल की प्रशस्ति से पूर्ण है।

मुसलमानों-द्वारा पालों का पतन

रामपाल के बाद पालों का पतन तेजी के साथ हुआ। अपने को ब्रह्म-क्षत्रिय वंश से उत्पन्न कहने वाले सेनों की बढ़ती हुई शक्ति ने उन्हें बंगाल से निकाल बाहर किया। सेन-वंश का संस्थापक सामन्त सेन था। वह करनारा जाति का था और राधा में आकर बस गया था—सम्भवतः वह करनारा-राजा के यहाँ लगभग ग्यारहवीं शती के मध्य में नौकरी करता था। उसका पौत्र विजय सेन स्वतंत्र राजा बन गया था। इस प्रकार, दो ओर से दबाव पड़ने के कारण, पाल-शक्ति नष्ट हो गई—एक ओर से कन्नौज के गहड़वालों ने दबोचा, दूसरी ओर से सेनों ने (ईसा संवत् ११८०) दबाव डाला। पाल-शक्ति इन दोनों के बीच में पिस कर रह गई।

पालों के विलुप्त हो जाने के बाद दो शक्तियाँ मगध के प्रदेश में रह गईं—एक कन्नौज के गहड़वालों की, दूसरी बंगाल के सेनों की। लेकिन तुर्कों के आगमन के कारण इन दोनों में आपस में मुठभेड़ नहीं हो सकी।

इस प्रकार रामपाल के बाद पाल वंश का लोप होता गया

* देखिए साउथ इन्डियन इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, पृष्ठ ९५-९९ और 'एपिग इन्डिका', भाग ९, पृष्ठ २२९-३३ और एस० के० आयंगर कृत राजेन्द्र चोल और एच० सी० राय कृत डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नारदर्न इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ३१८-२४ भी देखिए,—चोल-लेख में वर्णित स्थानों और राजाओं के नामों को पहचानने और उनका पता लगाने के लिए।

और अन्त में, ईसा संवत् ११९७ में, बख्तियार खिलजी के पुत्र मोहम्मद ने बिहार पर आक्रमण किया और पालों के साथ-साथ बौद्ध धर्म के क्षीण अवशेष का भी उसने अन्त कर दिया।

पाल-वंश ने दीर्घ काल तक शासन किया था। यह वंश शक्तिशाली था। धर्म पाल और देव पाल के शासन-काल में साहित्य, शिल्प और चित्रकला के क्षेत्र में काफी उन्नति और प्रगति हुई थी। राजाओं ने बहुत से तालों और झीलों को बनवाया, विद्वानों को प्रोत्साहन तथा पोषण दिया तथा विहारों का संरक्षण किया।* किन्तु पालों के समय के बहुत ही कम स्मृति चिन्ह ऐसे हैं जो अब तक बचे रह सके हैं।

सेन वंश

सेन, मूलतः, दक्षिण के एक वंश से सम्बन्ध रखते थे। ईसा संवत् १०५० में इन्होंने पश्चिमी बंगाल में अपनी शक्ति की स्थापना की थी। सामन्त सेन इनका संस्थापक था। वह सम्भवतः चालुक्य राजा कल्याण के विक्रमादित्य का उस समय में भी वेतनभोगी सैनिक था जब अपने पिता के शासन-काल में, उसने उत्तरपूर्वी भारत पर आक्रमण किया था। सामन्त सेन के पौत्र विजय सेन ने, ग्यारहवीं शती के अन्त काल में, अपने को स्वतंत्र राजा के पद पर स्थापित कर लिया था। पतनशील पालों के हाथ से उसने बंगाल का काफी बड़ा भाग छीन लिया था। उसने दीर्घ काल तक—ईसा संवत् १०९७-११५९—तक शासन का उपभोग किया।

विजय सेन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने गौड़, तिरहुत, नेपाल, कामरूप और कलिंग के राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। ब्राह्मणों और निर्धनों के प्रति वह उदार था। वह शिव का भक्त था। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी बल्लाल सेन ने हिन्दू धर्म का संशोधन किया, वर्ण-व्यवस्था का फिर से संगठन किया और ब्राह्मणों तथा अन्य ऊँचे वर्गों में कुलीनत्व और आभिजात्य की भावना भर दी थी। उसने ब्राह्मण-उपदेशकों को मगध, अराकान तथा दूसरे-दूसरे प्रदेशों में भेजा था। स्वयं

* देखिए आर० डी० बनर्जी कृत 'दि पाल्स आफ बंगाल'—मेमायर्स आफ दि ए० एस० बंगाल भाग ५।

बल्लाल सेन प्रसिद्ध विद्वान् था। कहा जाता है कि कर्मकाण्ड पर उसने कई ग्रंथों की रचना की थी।

लक्ष्मण सेन

बल्लाल सेन का उत्तराधिकारी, लगभग ईसा संवत् ११८५ में, लक्ष्मण सेन हुआ जो मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट होने तक शासन करता रहा। मोहम्मद गोरी के नेतृत्व में इन तुर्क आक्रमणकारियों ने दिल्ली के चौहानों और कन्नौज के गहड़-वालों की शक्ति और सत्ता को नष्ट कर दिया था। पाल-शक्ति के पहले ही नष्ट हो जाने के कारण बिहार उस समय स्वामी-विहीन हो गया था, फलतः उस पर तुर्की सैनिक मोहम्मद बिन बख्तियार खिलजी के लिए अधिकार करना कोई कठिन बात नहीं थी। अतः उसने बिहार के पड़ोसी इलाकों पर और बिहार पर—उसकी स्थिति उन दिनों, चारों ओर से परकोटा-द्वारा घिरे हुए विश्वविद्यालय से अधिक नहीं थी—ईसा संवत् ११९३ में अधिकार कर लिया। नदिया में लक्ष्मण सेन पर मुसलमानों ने ईसा संवत् १२०५ में विजय प्राप्त की। नदिया के पतन के बाद लक्ष्मण सेन ने पूर्वी बंगाल में जाकर शरण ली और इसके बाद, शीघ्र ही, उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद कुछ काल तक उसके पुत्रों ने शासन किया।

सभी सेन ब्राह्मण हिन्दू थे और बौद्ध पालों के कट्टर विरोधी थे। लेकिन सेनों का ब्राह्मण-धर्म और पालों का बौद्ध धर्म, दोनों तांत्रिकों के प्रभाव के कारण, भ्रष्ट हो गए थे। पालों के अन्त के साथ-साथ बौद्ध धर्म के संगठित रूप का भी भारत से लोप हो गया। मुसलमानों की तलवार से जो बौद्ध भिक्षु बच सके वे भाग कर तिब्बत, नेपाल और दक्षिणी भारत में चले गए। सेन साहित्य और संस्कृति के प्रेमी थे। गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव बल्लाल सेन के दरबार के ही रत्न थे। स्वयं बल्लाल सेन ख्याति-प्राप्त कवि था।

राजपूतों की असफलता

इस प्रकार, १२०० ई० तक, हिन्दू प्रायः सभी प्रदेशों में अपनी स्वतंत्रता खो चुके थे—केवल राजपूताना, मालवा, गुजरात और

दक्षिण के भीतरी भागों को छोड़ कर। मुसलमानों के आक्रमणों को न रोक सकने का कारण राजपूतों की दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था और युद्ध के उपयुक्त साधनों—अस्त्र-शस्त्रों—का अभाव था। कतिपय कारणों से उनका पतन हुआ। इस सम्बन्ध में हम आगे चल कर, मुसलमानों के विजय-काल का वर्णन करते समय, विचार करेंगे।

तेरहवाँ परिच्छेद

दक्षिण के राज्य

चालुक्यों से पूर्व दक्षिण की अवस्था

(१)

'दक्षिण' संस्कृत के शब्द दक्षिण या दक्षिणापथ से बना है और, अपने व्यापक अर्थ में, इस के अन्तर्गत नर्मदा के दक्षिण का समूचा भूखंड आ जाता है। कुछ और अधिक सीमित रूप में लिया जाए तो इसके अन्तर्गत महाराष्ट्र का सम्पूर्ण भाग, बम्बई प्रेज़ीडेन्सी का कन्नड़ी ज़िला, निज़ाम-राज्य का प्रदेश और वह भूखंड जहाँ तेलगु-भाषा-भाषी बसते हैं—जो आज आंध्र देश कहलाता है और कृष्णा नदी के उत्तर में स्थित है—आजाते हैं।

दक्षिण का पठार, भूगर्भ वेत्ताओं के कथनानुसार यद्यपि भारत का सब से प्राचीन भूखंड माना जाता है, किन्तु इसके इतिहास का जहाँ तक सम्बन्ध है, अपनी इस प्राचीनता के साथ वह उपलब्ध नहीं है—विस्मृति के गर्भ में वह अभी तक डूबा हुआ है और निकट अतीत का इतिहास ही अब तक प्रकाश में आ सका है।

दक्षिण आर्यावर्त से भिन्न प्रदेश समझा जाता रहा है। यह भिन्न प्रदेश हिमालय से विंध्या तक प्रसरित था। विंध्य पर्वतमाला, बहुत दिनों तक, आर्यावर्त को दक्षिण से अलग किए रही और आर्य उसे लांघ कर दक्षिण की ओर न फैल सके। लेकिन अन्त में वह समय भी आया जब—अनुश्रुति है कि—अगस्त्य ऋषि ने विंध्यमाला को आदेश दिया—"बस, अब और ऊँचा न उठो।"

साधारण शब्दों में इसका अर्थ यह हो सकता है कि अगस्त्य ऋषि ने विंध्य को पार करने में सफलता प्राप्त की और दक्षिण में जाने का मार्ग खोल दिया। अगस्त्य ने वहाँ जाकर अपना एक आश्रम भी स्थापित किया।

दक्षिण का प्राचीनतम भूखंड—जिसमें आर्य जाकर बसे—निश्चय ही विदर्भ-प्रदेश रहा होगा। रामायण-काल में दण्डकारण्य

एक अति विस्तृत वन्य प्रदेश था। यह वन्य प्रदेश सम्भवतः वही था जहाँ आज महाराष्ट्र बसा हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में—जो समूचे प्राचीन संस्कृत साहित्य से अपना एक अलग (बाहरी) अस्तित्व रखता है—आंध्रों, पुंड्रों, साबरों, पुलिन्दों और मुतिबों का उल्लेख मिलता है। इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि ये विश्वामित्र के पुत्रों के वंशधर थे जिन्हें ऋषि ने अभिशाप दिया था। इस अभिशाप के फलस्वरूप ही ये आर्य-बस्तियों के सीमावर्ती भूखंडों में रहते थे।

पुलिन्द और साबर जंगली जाति के लोग थे और विंध्या के आस-पास रहते थे। व्याकरणाचार्य पाणिनि (ईसा पूर्व सातवीं शती) ने कलिंग का उल्लेख किया है,—और सम्भवतः उसी काल में आर्यों ने पूर्वी तट के उत्तरी छोर के भूप्रदेश से सम्पर्क स्थापित किया था—विंध्य की पर्वतमाला को पार करके नहीं, वरन् उससे बचते हुए पूर्वी-मार्ग का अनुगमन करके।

पाणिनि के भाष्यकार कात्यायन ने (ईसा पूर्व चौथी शती) पांड्यों और चोलों का उल्लेख किया है। उसने नासिक्य नामक नगर (आज का नासिक) का भी उल्लेख किया है। व्याकरण-वेत्ता पतंजलि (ईसा पूर्व दूसरी शती) ने महिष्मति, वैदर्भ, केरल, कांचीपुर, तथा दक्षिणी भारत के अन्य स्थानों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार, ईसा पूर्व लगभग चौथी शती से दक्षिण और प्रायद्वीप के विभिन्न स्थानों से आर्य परिचित हो गए थे। सिंहल या ताम्रपर्णि—प्राचीन काल में यही नाम प्रचलित था—से भी आर्य, मौर्यों के समय से बहुत पूर्व, परिचित हो गए थे।*

---

* प्रोफ़ेसर भण्डारकर का मत है कि सुदूर दक्षिण के पांड्य उत्तर भारत के एक कबीले के वंशधर थे। इस कबीले का नाम पाडु था। अपनी राजधानी का नाम उन्होंने मदुरा रखा, यह भी इस बात का प्रमाण है कि वे उत्तर से ही आए थे—किसी ऐसे प्रदेश से जिसका प्रमुख नगर मथुरा था। इतना ही नहीं ये लोग सिंहल भी गए और उसका नाम—अपने छोड़े हुए प्रदेश की नदी की स्मृति में—ताम्रपर्णि रखा। इसी प्रकार गोदावरी के तट पर एक उपनिवेश मिलता है जिसका नाम प्रतिष्ठान (पैठान)

आर्य सम्भवतः अवन्ती से होकर दक्षिण, नर्मदा और विंध्य से होकर विदर्भ और यहाँ से उपरि (अपर) गोदावरी तक पहुँचे थे। इनके अतिरिक्त एक समुद्री मार्ग भी था। पूर्वी तट से भी प्रतीत होता है कि आर्य दक्षिण में जाकर बसे थे।

मौर्यों के काल में दक्षिण की अवस्था

मौर्यों की शासन-सत्ता स्थापित हो जाने के बाद मे उत्तर और दक्षिण के सम्बन्ध की पूरी जानकारी हम प्राप्त कर सकते हैं। मदुरा के सुप्रसिद्ध तामिल संघ—विद्यापीठ (ईसा पूर्व

था। यह नाम भी उस प्रदेश की स्मृति में रखा गया प्रतीत होता है जो गंगा-यमुना के संगम पर स्थित था—अर्थात् प्राचीन प्रमुख नगर प्रतिष्ठान।

आर्य सभ्यता और संस्कृति का दक्षिणी भारत में प्रसार उनकी उपनिवेशीकरण और वहाँ जाकर बस जाने की नीति के द्वारा हुआ था। इसका कुछ श्रेय आर्य ऋषियों के उत्साह और लगन को भी है। उदाहरण के लिए अगस्त्य का नाम लिया जा सकता है जो तामिल भाषा और साहित्य के संस्थापक माने गए और तामिल ऋषि के रूप में प्रसिद्ध हुए। बौद्ध और जैन प्रचारकों ने भी आर्य-संस्कृति के प्रसार में काफी योग दिया था। (देखिए कार्माइकेल लेक्चर्स, १६१८, पृष्ठ ११-२२)

तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्यिक प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् डॉक्टर सर आर० जी० भण्डारकर इस निर्णय पर पहुँचे हैं—"ईसा पूर्व सातवीं शती से पहिले के आर्य दक्षिण भारत से परिचित नहीं थे। पूर्वी मार्ग से वे उत्तरी सरकार तक ही पहुँच सके थे और विंध्या के दक्षिण में स्थित प्रदेश से उनका कोई परिचय या सम्पर्क नहीं था। किन्तु प्राय: उसी समय में, ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगे बढ़ने के प्रयत्न सफल होने लगे थे—क्योंकि उनके विंध्या और कलिंग के बाह्य प्रदेश में बसने या उससे सम्पर्क स्थापित होने के चिन्ह मिलते हैं। सब से पहले वे विदर्भ या बेरार में जाकर बसे, यहाँ तक वे पूर्वी मार्ग से ही आए थे। लेकिन आगे चल कर, समय बीतने पर, उन्होंने विंध्या को भी पार किया और गोदावरी के तटवर्ती दण्डकारण्य प्रदेश में जाकर बस गए—अर्थात् महाराष्ट्र या दक्षिण में पहुँच गए। इस प्रकार ईसा पूर्व ३५० से पहले तक तंजोर और मदुरा तक फैले इस समूचे प्रदेश से उनका सम्पर्क स्थापित हो गया था। (बम्बई गज़ेटियर, भाग १, खंड २, पृ० १४१)

दूसरी शती) के एक विद्वान् भामूलनर ने नन्दों के वैभव का अच्छा वर्णन किया है। डाक्टर एस० कृष्णा स्वामी आयंगर का कहना है कि सुदूर दक्षिणी भारत पर मौर्यों का आक्रमण एक सत्य घटना है।* अशोक-काल के अभि-लेखों से सिद्ध होता है कि दक्षिण भारत के समूचे प्रदेश पर मौर्यों का आधिपत्य स्थापित था। अशोक की मृत्यु के बाद कलिंग और आंध्रों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था, यह हम पहले ही कह चुके हैं। आंध्र-साम्राज्य में दक्षिण का अधिकांश भाग सम्मिलित था।

मैसूर पर आंध्रों का शासन

मैसूर के पठारी प्रदेश से आंध्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। आधुनिक नगर चितालदुर्ग के निकट स्थित प्राचीन नगर चन्द्रवल्ली में उनके सिक्के पाये गए हैं। तालगुंडा के सुप्रसिद्ध स्तम्भ-लेख में शातकर्णि का उल्लेख है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह एक महान् राजा था और यहाँ के एक मन्दिर में उपासना की थी। प्रोफेसर रैप्सन के शब्दों में -" आंध्रों की सत्ता के अन्त के चिन्ह उस प्रदेश में सब से अधिक स्पष्ट रूप में देखे जा सकते हैं, जिसकी राजधानी बनवासी थी।"

मालवल्ली के दो स्तम्भ-लेखों से—जहाँ शातकर्णि के तुरंत बाद कदम्ब का एक दान-लेख है—इस बात का पता चलता है कि "यह भूखंड चूत्-वंश के हाथों से कदम्बों के हाथ में—शिवस्कन्द वर्मन के बाद ही—चला गया था।" सम्भवतः तीसरी शती के मध्य में यह भूखंड कदम्बों के अधिकार में चला गया था और, इस प्रकार, सातवाहनों के पश्चात्, मैसूर के उत्तर-पश्चिम में, कदम्बों का शासन स्थापित हो गया था।†

---

* देखिए डाक्टर एस० के० आयंगर कृत 'बिगिनिंग ऑफ साउथ इन्डियन हिस्ट्री', परिच्छेद २।

† देखिए एपिग्राफिया करनाटिका, भाग ७ (शिमोगा, शिकारपुर, २६३); १९२८-२९ की मैसूर आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट के सप्लीमेंट में चन्द्रवल्ली की खोदाई का विवरण भी देखिए। इस सम्बन्ध मे मैसूर गज़ट, नया संस्करण, भाग दो, पृष्ठ ४९०-४ भी देखिए।

प्रारम्भिक इतिहास

ईसा संवत् की तीसरी शती में साम्राज्य का पतन होते ही राजनीतिक सत्ता और भूखंडों पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए विभिन्न सैनिक प्रान्तपतियों के बीच होड़ सी मच गई और वे आपस में झगड़ने तथा संघर्ष करने लगे। होड़ के परिणाम स्वरूप तथा कथित आंध्र-भारतीय—चूतू और नागों—ने दक्षिण के विभिन्न भागों पर अपना अल्पकालिक किन्तु दृढ़ शासन स्थापित कर लिया था। बनवासी के एक शक्तिशाली सरदार की कन्या और एक पल्लव राजकुमार के विवाह-सम्बन्ध के फलस्वरूप पल्लवों के हाथ में आंध्र साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्त का अधिकांश भाग आ गया था। इसी बीच, फैली हुई अराजकता से लाभ उठा कर, आभीरों ऐसी विदेशी जातियों ने भी दक्षिण के पश्चिमी भागों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। ऐसी स्थिति में कदम्बों का जिस समय बनवासी के प्रदेश पर—जिसमें मैसूर का समूचा पश्चिमी प्रदेश हैगा, उत्तरी कन्नड़, तुलावन और दक्षिणी कन्नड़, वरदा के तट पर स्थित प्रमुख नगर विजयन्तीपुर सम्मिलित थे—आधिपत्य स्थापित हुआ, दक्षिण का कुछ भाग राष्ट्रकूटों के हाथ में चला गया। महावली अथवा वाण और पल्लवों ने दक्षिण-पूर्वी भागों पर और गंगों ने मैसूर के मध्य तथा दक्षिणी भाग पर—महावलियों को आंशिक रूप में वहाँ से बहिष्कृत कर—अपना अधिकार कर लिया।

आभीर

आभीर सम्भवतः उत्तर भारत में रहने वाली गड़रियों की जाति के लोग थे। वायुपुराण के अनुसार उन्होंने दक्षिण में सत्तर वर्ष तक राज्य किया था। उनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि उनका राज्य बम्बई प्रेसीडेन्सी के नासिक और खान देश के ज़िलों तक सीमित था। नासिक की गुफाओं में, वीरसेन आभीर के शासन के नवें वर्ष का एक अभिलेख मिला है। इसकी लिपि भी वही है जिसमें परवर्ती आंध्रों के अभिलेख मिलते हैं।

राष्ट्रकूट

आभीरों के पश्चात् दक्षिण के विभिन्न राजाओं और सरदारों के हाथ से निकल कर राजनीतिक शक्ति जिन लोगों के हाथ में चली गई वे राष्ट्रकूट थे। वे दक्षिण में बहुत दिनों से रह रहे थे। अनेक नामों से वहाँ प्रसिद्ध थे—राठी, भोज और राष्ट्रिक। सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार वे क्षत्रियों की एक जाति से सम्बन्धित थे। महाराष्ट्र के भू-प्रदेश का नाम इन क्षत्रियों ने अपने नाम पर ही रखा था और वे अशोक के काल में भी दक्षिण में पाए जाते थे। वे, सच्चे अर्थों में, इस प्रदेश के देशी शासक थे—उनके अपने देश में ही उनका राज्य स्थापित था। कुछ काल के लिए विदेशी आक्रमकों ने उन्हें अंधकार में डाल दिया था—जैसे सातवाहन और चालुक्य जो अपनी सार्वभौम सत्ता का उपभोग करते थे, लेकिन राष्ट्रकूटों का पूर्ण नाश करने में वे सफल न हो सके और उन्होंने, क्षत्रप और आंध्रभृत्यों की जड़ उखड़ जाने के बाद, अपनी स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त किया। ईसा संवत् तीसरी शती के प्रारम्भ से छठी शती तक दक्षिण के अधिकांश भाग पर उन्होंने शासन किया और अपनी सत्ता का उपभोग करते रहे।*

चालुक्यों का उत्थान

ईसा संवत् की छठी शती के मध्य के लगभग दक्षिण में राष्ट्रकूटों की सत्ता पीछे पड़ गई और चालुक्यों का राज्य आरम्भ हुआ।

* देखिए आर० जी० भण्डारकर—बम्बई गज़ेटियर, अर्ली हिस्ट्री आफ दकन खंड ६ और ११, पृष्ठ १७८ और १९४। उनका कहना है कि राष्ट्रकूट यदुवंशी थे। वरदा के अभिलेख के अनुसार वे इस वंश की सात्यकि शाखा से निकले थे और रट्ट नामक राजा के वंशज—उत्तराधिकारी थे। रट्ट के एक पुत्र का नाम राष्ट्रकूट था। उसी के नाम पर इस वंश का नाम पड़ा जिसके अतिरिक्त उनके वंशानुक्रम के अन्य विवरण भी प्रचलित हैं। इनके अनुसार तेलुगू जिला के वासी राजपूत राठौर और आधुनिक रेड्डियों से वे सम्बन्धित थे। फ्लीट का मत है कि दक्षिण भारत में राष्ट्रकूटों का कोई चिन्ह नहीं मिलता, अतः वे सम्भवतः उत्तरी भारत से आए थे। पाठक का कहना है कि मराठा कुलों में यह सरनाम मिलता है और ये सम्भवतः शिवाजी के वंशजों में से थे।

चालुक्यों ने अन्य राजवंशों के मुकाबले में अधिक दिनों तक और ओज के साथ राज्य किया। इतना ही नहीं, सच तो यह है—जैसा कि डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने भी कहा है—दक्षिण का इतिहास व्यवहारतः चालुक्यों से आरम्भ होता है।

चालुक्यों के इतिहास का अध्ययन करने से पूर्व दो अन्य राजवंशों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। दक्षिण और मैसूर के इतिहास में इन दो वंशों का एक अपना स्थान रहा है—कभी स्वतंत्र सत्ता के रूप में और कभी अन्य शक्तिशाली शासकों के करद के रूप में। इन दोनों राजवंशों के नाम थे—कदम्ब और गंग।

कदम्ब

कदम्बों के सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि वे ब्राह्मण थे। उनका कदम्ब नाम इसलिए पड़ा कि वे अपने घरों के सामने कदम्ब का वृक्ष लगाते थे। उनके राज्य के अन्तर्गत मैसूर का सम्पूर्ण पश्चिमी भाग और दो कन्नड़ी ज़िले थे। वनवासी उनकी मूल राजधानी थी—जिसका विजयन्ती के रूप में उल्लेख मिलता है। तोलेमी ने उसका वर्णन किया है। लेकिन उनके कई आदेश पत्र ऐसे भी हैं जो अन्य स्थानों से प्रज्ञापित हुए हैं।

अनुश्रुति के अनुसार इस वंश का संस्थापक त्रिलोचन कदम्ब था। उसका जन्म चमत्कारिक ढंग से हुआ बताया जाता है। राज्य के एक हाथी ने, जिसकी सूंड में राजा-विहीन जनता ने एक हार देकर इसलिए छोड़ दिया था कि जिस किसी श्रेष्ठ पुरुष के गले में वह डालेगा वही राजा होगा, उसके गले में राजमाला डाल दिया था।

तालगुंडा के अभिलेख से—ल्युविस राइस ने इस अभिलेख का उससे पहले आविष्कार किया था—इस वंश के संस्थापक और कदम्ब राज्य का निर्माण करने वाली परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।* त्रिलोचन कदम्ब और मयूर वर्मन

* मानव्य गोत्रोत्पन्न हरितिपुत्र नामक ब्राह्मणों का एक परिवार था। हरितिपुत्र अपने घरों के पास कदम्ब का वृक्ष लगाते थे और बड़ी सावधानी के साथ उसकी देख-भाल करते थे। इसलिए इस परिवार का नाम कदम्ब पड़ गया। इस परिवार में मयूर वर्मन हुआ था जो अपने धर्मगुरु के साथ पल्लवों

के बीच कई और राजा हुए। इनमें एक का नाम चन्द्र वर्मन था। वह कुर्ग अथवा कोडग जाति का जनक था।

मयूर वर्मन

मयूर वर्मन ने कदम्बों की सत्ता को फिर से स्थापित किया। सम्भवतः नागों ने कदम्बों को पीछे ढकेल दिया था। मयूर वर्मन ने उन्हें फिर से उभारने में सफलता प्राप्त की। कुछ अभिलेखों में उसी को इस वंश का संस्थापक बताया गया है। उत्तरी भारत के ब्राह्मणों को यहाँ लाकर बसाने का उसे श्रेय प्राप्त था। घाटों के नीचे वाले भूखंड को उसने ६४ भागों में विभाजित कर लिया था और ये भाग अपने साथियों में बाँट दिये थे। इन्हीं ब्राह्मणों से मैसूर के उत्तर-पश्चिमी भाग के हैगा ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे।

मयूरवर्मन के पुत्र त्रिनेत्र (या मुकन्ना) के शासन-काल में ब्राह्मण घाटों के उपरले भू-प्रदेश में—मैसूर के शिकारपुर तालुका में स्थित स्थान गुंडूर या तालगुंडा में बस गए थे। सम्भवतः

के प्रमुख नगर में, थोड़े ही समय में, प्रार्थना नामक धर्मग्रंथों का अध्ययन करने के उद्देश्य से गया था। एक दिन जब वह अपने अध्ययन में व्यस्त था, पल्लवों के अस्तबल में शोरगुल होने लगा और उसके अध्ययन में व्याघात पहुँचा। इस व्याघात ने मयूर वर्मन को क्रुद्ध कर दिया और उसने प्रतिज्ञा की कि वह दिखा देगा, कि इस कलियुग में भी ब्राह्मणों में शक्ति है और वे किसी क्षत्रिय जाति से कम नहीं हैं। विद्याध्ययन छोड़ कर उसने सैनिक बाना धारण किया और युद्ध करके पल्लव-राज्य की सीमा के रक्षकों को अपने अधिकार में कर लिया। श्री पर्वत के सम्मुख एक दुर्गम वन में उसने अपना अड्डा जमाया और बाण आदि कई राजाओं से नजराना वसूल करना शुरू कर दिया। काँची के पल्लव राजाओं ने उसे पराजित करने के लिए कई बार उस पर आक्रमण किए, किन्तु अपनी समुद्र की बाढ़ के समान सेना लेकर उसने उनके आक्रमण व्यर्थ कर दिये और उन्हें नतमस्तक होने के लिए बाध्य किया। अन्त में पल्लव-राजाओं ने उसकी शक्ति को स्वीकार किया और उससे मित्रता बनाए रखना अच्छा समझा। उन्होंने उसकी सत्ता और बुजुर्गी को स्वीकार किया, पश्चिमी सागर का तटवर्ती भूखंड उसे प्रदान कर दिया और पूरा आश्वासन दिया कि यह भूखंड आक्रमणों से मुक्त रहेगा। (देखिए एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग ७, शिमोगा, शिकारपुर, पृष्ठ १७६)

ब्राह्मणों की बस्ती का यह फैलाव कदम्बों की सत्ता के विस्तार के साथ ही हुआ। तालगुंडा के उस सुप्रसिद्ध अभिलेख का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कदम्बों के उत्थान और मयूर वर्मन की सफलताओं का वर्णन है।

परवर्ती राजा

कदम्ब राजाओं में एक काकुस्थ वर्मन हुआ था। उसने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त और गंगवंश के राजाओं के साथ किया था। ईसा संवत् चौथी शती के अन्त में वह हुआ था। इस वंश के एक दूसरे राजा का नाम मृगेश वर्मन था। पल्लवों के लिए वह विनाशकारी अग्नि के समान था।

कदम्बों का शासन

कदम्बों के वंशानुक्रम और शासन-काल के सम्बन्ध में अभी बहुत से सन्देह शेष हैं। सम्भवतः उनके अधिकार में उत्तरी मैसूर और मराठा देश का दक्षिणी भू-भाग था। विजयन्ती (बनवासी) के अतिरिक्त उनकी राजधानी हालसी (बेलगाँव जिला) और उच्छ्रागी (चित्तालदुर्ग जिला) भी थी। बनवासी का मधुकेश्वर उनका कुलदेवता था। जैनों की उन्होंने बहुत कुछ सहायता की थी।

उनका अस्पष्ट इतिहास

कदम्ब राजाओं में से कुछ—जैसे मृगेश वर्मन और रवि वर्मन—जैन धर्म के बहुत बड़े संरक्षक थे। अपने पड़ोसी राज्यों—पल्लव और गंग—से उनकी शत्रुता थी। आस-पास के नाग सरदारों से भी उन्हें हिसाब चुकता करना पड़ता था। ईसा संवत् ५६६ के लगभग एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में उनका अस्तित्व शेष नहीं रह गया था। इसके बाद छोटे सामन्ती सरदारों के रूप में वे कई शतियों तक बने रहे। उन्होंने बहुत ही सुन्दर स्वर्णमुद्राएँ चलाई थीं—तथाकथित पद्मातंक मुद्रा उन्हीं की थी। कदम्ब वंश के कितने ही सरदार चालुक्यों के शासनाधीन रह कर राज्य करते रहे।

कदम्ब वंश की परवर्ती शाखाएँ

दसवीं शती के अन्तिम भाग में प्राचीन राजवंशों पर काली छाया मंडराने लगी थी। इस काल में कदम्ब वंश से उत्पन्न कई

राज्य उठ खड़े हुए थे। ये कदम्ब राजा दसवीं से बारहवीं शती तक हंगल (धारवाड़) में और दसवीं से चौदहवीं शती तक बनवासी बारह हजारी (मैसूर का शिमोगा जिला) में उनका राज्य स्थापित था।

कदम्बों के शासन-काल में शैवमत खूब फूला-फला। शैव संन्यासी अपने मठों में रहते थे। जैनधर्म का भी अच्छा प्रचार हुआ। अभिलेखों में जैन भिक्षुओं के अनेक सम्प्रदायों के अस्तित्व का उल्लेख है। कुछ ऐतिहासिकों ने तो यहाँ तक लिखा है कि कदम्ब जैन मतानुरागी थे। कुछ कदम्ब राजाओं ने अश्वमेध आदि अनेक यज्ञ भी किए थे। प्राचीन करनाटक में बौद्धमत के भी कुछ चिन्ह मिलते हैं। उनका राज्य अनेक बड़े भागों में विभाजित था। प्रत्येक भाग में कई जिले होते थे जिनका काम काज गवर्नर संभालता था। छोटे भागों का प्रबंध अन्य अधिकारियों के हाथ में था जो 'माम्नेय' कहलाते थे।

शासन-प्रणाली

राजा की सहायता के लिए एक मंत्रिमण्डल होता था जिसमें पाँच सदस्य होते थे। भूमि कर पैदावार का एक छठा भाग होता था। बाहर से जो सामान आता उस पर चुंगी लगती थी। पान और नमक पर भी कर लगता था। प्रत्येक गाँव में स्वायत्त शासन की प्रथा थी। गाँव का एक अपना गौड़ (मुखिया) और पंचायत होती थी। न्याय और प्रबंध का कार्य पंचायत के द्वारा होता था। गाँव वालों की सभा-समितियों का भी उल्लेख मिलता है। कस्बों में कार्पोरेशन होते थे और उनका मेयर पाटनवास्री कहलाता था। राजा की ओर से कस्बों को बहुधा अधिकार-पत्र प्रदान किये जाते थे। उद्योग-धंधों और व्यवसाय की व्यवस्था अपने संगठनों द्वारा होती थी। ब्राह्मणों को विद्वान् मण्डली द्वारा, (ब्रह्मपुरी और मठों में, उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी।*

* इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए देखिए जी० एम० मोरेस कृत 'दि कदम्ब-कुल—ए हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट एन्ड मेडीविअल करनाटक, १९३१, भाग ७. इन्टर्नल हिस्ट्री।

गंग वँश

ईसा संवत् दूसरी शती से गंग-राजा मैसूर और कावेरी नदी के बेसिन के उपरले भाग पर शासन कर रहे थे। इस वंश की एक और शाखा पूर्वी गंगा, कलिंग में राज्य कर रही थी। इनका राज्य आधुनिक उड़ीसा, गंजम और विजगापट्टम के जिलों में फैला था। जहाँ तक सम्भव प्रतीत होता है, पूर्वी गंग, मद्रास प्रेसीडेन्सी के उत्तर-पूर्वी भाग में गंग-शक्ति के पुनरुत्थान को सूचित करते हैं।

मैसूर के अभिलेखों से पता चलता है कि गंगों के पश्चिमी राज्य की स्थापना कैसे हुई। इन अभिलेखों से इस बात का आभास मिलता है कि गंग उत्तरी भारत के रहने वाले थे और अधिकांश पश्चिमी गंग, इसमें सन्देह नहीं, जैन धर्म के दृढ़ समर्थक थे।

गंगवादी

जिस प्रदेश पर गंगों का आधिपत्य था, उसका नाम गंगवादी हुआ। कुवलालपुर (कोलर) उनकी पहली राजधानी था। लेकिन बाद में उन्होंने कावेरी के तट पर स्थित तालकंद को अपनी राजधानी बना लिया।

गंगों का उद्गम

गंगों के उद्गम का अभी तक रहस्योद्घाटन नहीं हो सका है। कहा जाता है कि वे कराबायन गोत्र के थे। किन्तु दादिग और माधव के समय से राजाओं के उत्तराधिकार का जो क्रम मिलता है, मैसूर के विभिन्न भागों में प्राप्त प्रमाणों से उसकी पुष्टि होती है। जैन आचार्य सिंह नन्दी की सहायता से दादिग और माधव ने इनके राज्य की स्थापना की थी।* ईसा संवत् तीसरी शती में

---

* सिंहनन्दी ने दादिग और माधव को परामर्श दिया था—

"यदि अपने दिए हुए वचनों का पालन नहीं करोगे, जिनासन से विचलित होगे, दूसरों की पत्नियों को ग्रहण करोगे, मद्य-माँस का सेवन करोगे, हीनों की संगति करोगे और दीनों की सहायता नहीं करोगे, युद्धक्षेत्र छोड़कर पलायन करोगे—तो तुम्हारे वंश और जाति का नाश हो जाएगा।"

नन्दगिरि उनका गढ़ था, कुवलाल उनकी राजधानी और ६६००० देश में उनका राज्य था, युद्ध में विजय उनके साथ रहती थी, जिनेन्द्र उनका देवता

ये हुए थे। इनसे लेकर दसवीं शती के अन्त तथा ग्यारहवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों तक इनके राजाओं का क्रमिक तथा अखंड विवरण मिलता है। चोलों ने इनके राज्य का, ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में, अन्त कर दिया। इनके वंश के वर्णन में अनेक त्रुटियाँ हैं और कई की तिथियों तथा काल का कुछ पता नहीं चलता।

माधव और उसके उत्तराधिकारी

माधव प्रथम गंग-राजा था। कोंगनी वर्मा उसकी उपाधि थी, जिसे बाद के सभी राजाओं ने धारण किया। इस वंश के राजा अपने को धर्म महाराजाधिराज कहते थे। बाणों से उसने युद्ध किया था और जंगली आग की तरह बाण नामक वन्य प्रदेश को भस्म कर दिया था। लगभग अर्द्ध शती से ऊपर तक उसने शासन किया। उसका शासन-काल दूसरी शती में निर्धारित किया गया है। उसके उत्तराधिकारियों ने राज्य की ख्याति और प्रतिष्ठा में और भी वृद्धि की। उनमें से एक, हरिवर्मा, ने तलाकंद में अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर ली थी। युद्ध में हाथियों का वह प्रयोग करता था और अपने धनुष के बल से प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी। एक अन्य राजा का नाम तदगल माधव था। उसने कदम्ब राजकुमारी—सम्भवतः काकुस्थ वर्मन की कन्या—से विवाह किया था। इस विवाह से अविनीत नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अविनीत की शिक्षा-दीक्षा सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् विजयकीर्ति के संरक्षण में हुई। कहा जाता है कि "वह विद्वानों में प्रथम था, उसकी उदारता निष्कलंक थी और दक्षिण जातीय तथा धार्मिक व्यवस्था के संरक्षण में वह तत्पर रहता था।"

और जिन मत उनका धर्म था—इस प्रकार दाद्गि और माधव ने राज्य किया। उनके राज्य की सीमा उत्तर में मरंडेल (अज्ञात) और पूर्व में तोंडाइनद (तोंडारमंडलम), दक्षिण में कोंगू और चेदा की दिशा में समुद्र का स्पर्श करती थी।

राइस ने अपनी पुस्तक 'मैसूर और कुर्ग', पृष्ठ १६८, में गंग-राज्य के निर्माण में सिंहनन्दी और होयशालों के राज्य के निर्माण में जैन मुनि का जो भाग रहा उसकी समानता की तुलना की है।

दुर्विनीत

अविनीत के पुत्र का नाम दुर्विनीत था। वह एक अन्य जैन विद्वान् पूज्यपाद का शिष्य था। भारवि कृत किरातार्जुनीयम् की उसने एक टीका लिखी थी।* चालीस वर्ष से अधिक तक उसने शासन किया। अभिलेखों से पता चलता है कि उसने पैशाची ग्रंथ वृहत्कथा का संस्कृत में रूपान्तर किया था। बाद में इस ग्रंथ का अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान् सोमदेव सूरी और क्षेमेन्द्र ने किया। दुर्विनीत कन्नड़ का महान् लेखक था। उन्नीसवीं शती में रचे गए ग्रंथ अलंकार शास्त्र में एक महान् लेखक के रूप में उसका उल्लेख मिलता है। साथ ही वह दमदार योद्धा भी था। दक्षिण और पूर्व की ओर गंग-राज्य को विस्तारित करने में उसने सफलता प्राप्त की थी। उसके उत्तराधिकारियों में से एक ने पल्लव राजा नरसिंह पोत वर्मा को, भारी युद्ध में, परास्त किया था और, कहा जाता है कि, उसने समूचे पल्लव-राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था।

श्रीपुरुष

गंग शक्तिशाली चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करते थे और चालुक्य भी उन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे। श्रीपुरुष के शासन-काल में गंगों का राज्य अपने उत्कर्ष की सीमा पर पहुँच गया था। श्रीपुरुष शिवमार का पौत्र और उत्तराधिकारी था। उसके शासन-काल में गंग-राज्य 'श्री राज्य'—लक्ष्मी का राज्य—कहलाता था। राष्ट्रकूटों से उसे डट कर युद्ध करना पड़ा था।

* अवन्ति सुन्दरी कथासार में—जिसे कुछ वर्ष पूर्व मद्रास की ओरियंटल एम-एस-एस लाइब्रेरी ने आविष्कृत किया था—इस बात का उल्लेख मिलता है कि भारवि कुछ समय तक दुर्विनीत के दरबार में रहा था और वह विष्णुवर्धन प्रथम का समकालीन था। सम्भवतः यह वही विष्णुवर्धन है जिसने पूर्वी चालुक्यों के राज्य की स्थापना की थी। कांची का पल्लव-राजा सिंहविष्णु भी इसी समय में हुआ था। इस प्रकार दुर्विनीत का शासन-काल सातवीं शती का प्रथमार्द्ध होना चाहिए (मैसूर आर्केलियाजिकल रिपोर्ट, १९२०-२१, पैरा ५८-५९) कुछ का यह भी कहना है कि वह इससे आधी शती पहले हुआ था।

पल्लवों को भी उसने युद्ध में परास्त किया था और उनके राजा को मार कर राज्य-छत्र को छीन लिया था।

ईसा संवत् ७७६ में उसके शासन का अन्त हो गया। राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से उसके राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी और उसके बाद के राजा शिवमार को अपने शत्रुओं के हाथों में पड़ कर दो बार बन्दी हो जाना पड़ा था। लेकिन बाद में, राष्ट्रकूट और पल्लव दोनों राजाओं ने मिल कर, उसे फिर से गद्दी पर बिठाया।

इस प्रकार ईसा संवत् ८१५ तक वह शासन करता रहा। वह विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। हाथियों पर उसने एक महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की थी। उसके एक पुत्र का नाम पृथ्वीपति था। उसने राष्ट्रकूट राज्य से भागे हुओं को शरण दी थी और पांड्य राजा वर्गुण वर्मन को, पुरंबियम (कुम्भ कोणम के निकट) में परास्त किया था। इस युद्ध में अपने विरुद 'अपराजित' को सार्थक करने के बाद उसकी मृत्यु हो गई।

गंग-वंश के अन्तिम राजा

रच्छमल्ल या राजमल्ल सत्यवाक्य ईसा संवत् ८१७ के लगभग गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि उसने अपने देश को राष्ट्रकूटों के बन्धन से मुक्त किया जो बहुत दिनों से उसके देश पर अधिकार स्थापित किए थे—"वाराह अवतार के रूप में जिस प्रकार विष्णु ने भूलोक की रक्षा की, वैसे ही राष्ट्रकूटों से सत्यवाक्य ने अपने देश को बचाया।"

सत्यवाक्य के शासन-काल में शान्ति और श्री की वृद्धि हुई। राष्ट्रकूटों के उत्पात उसके उत्तराधिकारियों के काल तक चलते रहे। रच्छमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ के शासन-काल में—ईसा संवत् ९७७ के लगभग—गद्दी पर बैठा था। उसके मंत्री और सेना नायक चामुण्डराय ने—गंग-इतिहास में वह महानतम मंत्रियों में से एक था—श्रावण बलगोला में एक जैन स्मृति-स्तम्भ, एक शिलाखंड से निर्मित गोमाता की भीमकाय प्रतिमा बनवायी थी। यह प्रतिमा ईसा संवत् ९८३ में निर्मित हुई थी। इतने बड़े आकार-प्रकार की

प्रतिमा की कल्पना करना, सचमुच, साहस का काम था। भारत में यह मूर्ति बेजोड़ है।*

चोलों की विजय

कुछ वर्ष पश्चात् तालकंद पर चोलों ने अधिकार कर लिया। गंग-राज्य के पूर्वी भाग में वह पहले ही प्रवेश कर चुके थे। इस प्रकार, ईसा संवत् १००४ के बाद, यद्यपि गंग-राज्य का लोप हो गया, किन्तु इतिहास से उनका लोप न हुआ। एक गंग-राजकुमारी ने चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम से विवाह किया था। उससे सुप्रसिद्ध विक्रमांकदेव (१०७६-११२६) उत्पन्न हुआ। चोल और होयसालों की अधीनता में गंग-सरदार अपने सामन्ती शासन की बागडोर संभाले रहे। १११६ में एक गंग-सेनापति ने मैसूर से चोलों को भगाया और अपने स्वामी विष्णुवर्धन के राज्य की फिर से वहाँ स्थापना की। गंग-वंश का अन्तिम प्रतिनिधि उम्मातूर का राजा था। कावेरी के जल-प्रपात के निकट शिवसमुद्रम् द्वीप में उसने अपनी शक्ति को केन्द्रित किया और, विजय नगर के कृष्णदेवराय ने ईसा संवत् १५११ में, अन्तिम रूप से उसे परास्त किया।

कलिंग के पूर्वी गंग

कलिंग में भी गंगों का एक राज्यवंश था जो उड़ीसा के एक भाग, गंजम और विजगापट्टम के ज़िलों पर, राज्य करता था। इनके शासन-काल की जो सामग्री मिली है, और उस पर जो तिथियाँ अंकित हैं, उनमें गांगेयवंश के अपने संवत् का उल्लेख है। कलिंग नगर से (गंजम जिला) आदेश और दान-पत्र प्रज्ञापित होते थे और गजपति का विरुद इस वंश के राजा धारण करते थे। ये महेन्द्र पर्वत के गोकर्ण स्वामी के उपासक थे और समूचे कलिंग पर शासन करते थे। इनके एक राजा राजराजा ने चोल नरेश राजेन्द्र की कन्या से विवाह किया था। उसके पुत्र अनन्त वर्मन या

---

* श्रावण बेलगोला की प्रतिमा और मन्दिर का विस्तृत वर्णन श्री० आर० ए० नरसिंहाचार ने 'एपिग करनाटिका, दूसरा खंड, श्रावण बेलगोला के संशोधित संस्करण में किया है।

चोलगंग ने १०७८ से ११४२ तक शासन किया। पूर्व में उत्कल (उड़ीसा) के भूपति देवता को उसने फिर से प्रतिष्ठित किया और पश्चिम में वेंगी के डूबे हुए देवता को उबारा। यह वंश सोलहवीं शती के मध्य तक—मुसलमानों के आक्रमण तक—शासन करता रहा।*

[२]

प्रारम्भिक चालुक्य और राष्ट्रकूट

पाँचवीं शती से आठवीं शती तक और फिर, दसवीं शती के उत्तरार्द्ध से बारहवीं शती तक, दक्षिण में चालुक्यों की शक्ति का प्राधान्य रहा। उनके उद्गम और प्रारम्भिक इतिहास की जानकारी हम उनके कतिपय अभिलेखों से प्राप्त कर सकते हैं।†

---

* इस वंश के राजाओं का विवरण उनके विभिन्न अभिलेखों में दिया हुआ है (देखिए मद्रास एपिग्राफिस्ट्स रिपोर्ट, १९२५)। इनका एक अभिलेख मैसूर में पाया गया है। कलिंगनगर आज का मुखलिंगम ही बताया जाता है। इनकी प्रथम राजधानी दन्तपुर—विजगापट्टम पत्र-लेखों में वर्णित जन्तवर—थी। देखिए जर्नल आफ दि आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द ५, ६, ७ में कलिंग के पूर्वी गंगों का इतिहास।

† एक अभिलेख में यह कथा वर्णित है कि जिस समय ब्रह्मा अपनी तपस्या मे लीन थे, इन्द्र उनके पास गए और कहा कि मृत्युलोक के निवासी न अब यज्ञादि करते है, न देवताओं को भेंट चढ़ाते है जिससे सभी देवता चिन्तातुर हो उठे है। यह सुनकर ब्रह्मा ने क्रुद्ध होकर अपना हाथ फैलाया और हथेली की ओर ध्यान से देखने लगे। तभी उनकी हथेली में से एक योद्धा प्रकट हुआ। मृत्युलोक मे धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए वही चालुक्यों का प्रथम जनक था। उसके वंश में दो महान् चरितनायक उत्पन्न हुए—एक हरित, दूसरे मानव्य। उन्होने चालुक्य जाति को गौरवमय पद प्रदान किया।

इसी तरह की अन्य सुन्दर कथाएँ इनके सम्बन्ध में मिलती है। इन सभी कथाओं में अयोध्या उनकी राजधानी बताई गई है। विष्णु इनका कुलदेवता था और इसी लिए वाराह को इन्होने राज्य-चिन्ह के रूप में अपनाया था।

इन अभिलेखों में उन्होंने अपने को सोमवंशीय कहा है। वे मानव्य गोत्रीय थे और अपने को हरितिपुत्र बताते थे। 'सत्याश्रय-कुल पृथ्वी-वल्लभ परमेश्वर' उनका विरुद था और अभिलेखों में इसी रूप में उनका वर्णन हुआ है। वाराह उनका प्रमुख राज्य-चिन्ह था। वस्तुतः उनका उद्‌गम क्या था, यह स्पष्ट नहीं पता चलता। कहा जाता है कि दक्षिण में आने से पूर्व वे, लगभग साठ पीढ़ियों तक, अयोध्या से राज्य करते थे।

जयसिंह और उसके उत्तराधिकारी

इस वंश का प्रथम राजा जयसिंह था। वह एक युद्धप्रिय शासक था। देशी शासक राष्ट्रकूटों के हाथ से उसने महाराष्ट्र छीन लिया था। उसके पश्चात् इस वंश का महत्वपूर्ण राजा पुलकेशी प्रथम था। पुलकेशी प्रथम जयसिंह का पौत्र था और ईसा संवत् ५५० के लगभग गद्दी पर बैठा था। वह एक महान्, विशिष्ट, राजा था और अपने राज्य में बहुत कुछ विस्तार किया था। बम्बई प्रेसीडेन्सी में बीजापुर जिला में वातपी (बादामी) उसकी राजधानी थी। उसने पृथ्वी-वल्लभ और सत्याश्रम का विरुद धारण किया था। अपनी राजधानी में अनेक मन्दिर बनवाकर उसकी शोभा बढ़ाई थी और उस महान् भूमि की जमीन पूरी तरह तैयार कर दी थी जिसका निर्वाह, इस राज्यवंश ने, आगे चल कर किया।

ईसा संवत् ५६७ के लगभग उसका पुत्र कीर्ति वर्मन गद्दी पर बैठा। चौबीस वर्ष के अपने शासन-काल में उसने उत्तरी कोंकण और उत्तरी कन्नड़ के भू-भाग को अपने राज्य में मिला लिया। ईसा संवत् ५९१ में जब उसकी मृत्यु हुई तो अपने एक भाई मंगलीश के लिए काफी बड़े साम्राज्य को थाती वह छोड़ गया। मृत्यु के समय उसका बड़ा पुत्र पुलकेशी द्वितीय छोटा था, अतः मंगलीश ने ही राज्य की देख-भाल की।

*डॉ० होर्नले का कहना है कि चालुक्य सम्भवत: विदेशी थे—गुर्जर या हूण। एक अन्य लेखक ने चालुक्य और यूनानी सेल्युकिड की समानता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

मंगलीश बहुत बड़ा योद्धा था। कहा जाता है कि उसके बाहुबल का प्रभाव पूर्वी और पश्चिमी सागर तक स्थापित हो गया था। लेकिन उसने गलती यह की कि अपने ही पुत्र को सिंहासन पर बैठाना चाहा। पुलकेशी द्वितीय यह देख कर सतर्क हो उठा। इसके पश्चात् चचा-भतीजे में युद्ध हुआ और मंगलीश, ईसा संवत् ६०८ में, मारा गया।

पुलकेशी द्वितीय

पुलकेशी इस वंश का सब से बड़ा—महान्—राजा था। दक्षिणी भारत के सभी राजा उससे भय खाते थे। ६११ ईसा संवत् से ६३४ तक वह समूचे दक्षिण को अपने प्रभुत्व में लाने के प्रयत्नों में लगा रहा और सर्वोपरि सत्ता का पद प्राप्त कर लिया। सबसे पहले वह राष्ट्रकूटों की ओर झुका जो अपने राज्य और शक्ति को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके बाद उसने कदम्बों पर आक्रमण किया और उनकी राजधानी बनवासी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसकी शक्ति से आतंकित होकर गंग-राजा और अलूपों ने अपने-आप ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। कोंकण के मौर्य और लाट (अथवा लता), मालवा और गुर्जर के राजा भी उसके सम्मुख नतमस्तक हो गए—उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। लेकिन इन सब विजयों से अधिक प्रतिष्ठा उसे सम्राट् हर्ष के विरुद्ध दृढ़ता के साथ लोहा लेने से प्राप्त हुई। उसके अद्‌भुत साहस का परिणाम था जो हर्ष को नर्मदा के तट से वापिस लौट जाना पड़ा—जैसा हम पहले बता चुके हैं।

पूर्वी चालुक्यों के राज्य की स्थापना

पुलकेशी की विजयों का विस्तार दक्षिण तक ही सीमित नहीं रहा। उसने पल्लवों को परास्त कर उनकी राजधानी पर आक्रमण किया। वेंगी-देश पर भी उसने अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की और इस प्रकार, कृष्णा के निचले काँठे और गोदावरी के बीच का भू-प्रदेश उसके अधिकार में आगया। इस भू-प्रदेश का शासन उसने अपने भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को सौंप दिया। ईसा संवत् ६१५ में कुब्ज विष्णुवर्धन ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर एक नये राज्य-वंश की स्थापना की। पूर्वी चालुक्यों

के इस वंश का शासन १०७० तक चलता रहा। पुलकेशी ने कावेरी को पार कर चोलों के प्रदेश पर आक्रमण किया; पांड्य और करेल भी उससे नहीं बचे और इन सब को उसका प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा।

पुलकेशी और पल्लव

पुलकेशी ने महेन्द्र वर्मन पल्लव के विरुद्ध युद्ध किया था। इस युद्ध का विवरण ऐहोल के अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में कहा गया है कि उसने पल्लवों के राजा के गौरव को—जिसने उसकी उभरती हुई शक्ति का विरोध करने का साहस किया था—अपनी सेना के पदों से उड़ी हुई धूल से आच्छादित और उसे कांचीपुर की दीवारों के पीछे भाग कर छिप जाने के लिए बाध्य किया। लेकिन वह स्वयं राजधानी में प्रवेश करने में समर्थ नहीं हो सका। इसका कारण सम्भवतः यह था कि प्रथम विजय के बाद उसे कुछ पिछड़ जाना पड़ा था।

इसके बाद पल्लवों से उसने फिर, दूसरी बार, युद्ध किया। इस युद्ध में उसे महेन्द्र वर्मन के पुत्र नरसिंह वर्मन का सामना करना पड़ा। इस दूसरे युद्ध का श्रीगणेश स्वयं नरसिंह वर्मन ने, चालुक्यों की राजधानी पर आक्रमण करके, किया था।

पर-राष्ट्रों से सम्बन्ध

पुलकेशी की ख्याति दूर-देशों तक फैल गई थी। फारस के राजा खुसरो द्वितीय ने, ईसा संवत् ६२५ में, उसके दरबार में अपना एक विशेष राजदूत भेजा था। इस राजदूत के स्वागत का सम्पूर्ण दृश्य, अनेक विद्वानों का कहना है कि अजन्ता की गुफाओं के एक चित्र में अंकित है।*

* देखिए जे० आर० ए० एस० (न्यू सीरीज़), खंड ११, पृष्ठ १६५। एक अरबी इतिवृत्त में इस बात का उल्लेख मिलता है कि खुसरो द्वितीय के शासन के ३३ वें वर्ष में (ईसा संवत् ६२५-६) उसके और पुलकेशी के बीच पत्रों तथा उपहारों—भेंटों—का आदान-प्रदान हुआ था।

हुएन्त्सांग द्वारा पुलकेशी का वर्णन

हुएन्त्सांग ने, पुलकेशी द्वितीय के शासन-काल में उसके राज्य में भ्रमण किया था। इस चीनी यात्री की डायरी का सब से अधिक रोचक भाग वही है जो पुलकेशी और उसकी शासन-प्रणाली से सम्बन्ध रखता है।*

पुलकेशी के उज्ज्वल जीवन का अन्त बहुत दुःखद हुआ। पुलकेशी के आक्रमण और वेंगी के हाथ से निकल जाने के कारण पल्लवों के हृदय में गहरा घाव लगा था। योग्य और कुशल राजा नरसिंह वर्मन के शासन-काल में उन्होंने एकाएक चालुक्यों के राज्य पर आक्रमण कर दिया और उनकी राजधानी वातापी पर अधिकार कर उसे जला डाला। इस युद्ध में, जहाँ तक प्रतीत होता है, पुलकेशी द्वितीय भी मारा गया।†

---

* पुलकेशी के सम्बन्ध में हुएन्त्सांग ने लिखा है कि—"वह क्षत्रिय जाति का था। उसके विचार उदार और गम्भीर थे और उसकी सहानुभूति तथा उसके शुभकृत्यों का क्षेत्र व्यापक था। उसकी प्रजा पूरी श्रद्धा के साथ उसकी सेवा करती थी।"—इसी प्रकार महाराष्ट्र के लिए हुएन्त्सांग के हृदय में प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता—"यहाँ की भूमि सम्पन्न तथा उपजाऊ है। अन्न भरपूर होता है......यहाँ के निवासियों का जीवन सीधा-सादा और ईमानदारी से पूर्ण है। यहाँ के निवासियों का कद लम्बा होता है। गर्व उनमें कूट-कूट कर भरा होता है। जो उनके साथ भलमनसाहत से पेश आता है, उसे वे कभी नहीं भूलते, लेकिन जो उन्हें हानि पहुँचाता है, उससे बदला लेना भी नहीं भूलते। यदि कोई उनका अपमान करता है तो अपनी जान देकर भी वे उस अपमान का बदला लेने की कोशिश करते हैं...युद्ध में भगोड़ों का ही पीछा करते हैं, लेकिन जो स्वयं आत्मसमर्पण कर देते हैं, उनकी कभी हत्या नहीं करते। वे अध्यवसायशील होते हैं, और प्रचलित धारणाओं और सत्यों का पालन करते हैं.....विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी, संन्यासी आदि, और विद्रोही भी, उनमें काफी मिलते हैं"—एस० पुलिएन कृत फ्रैंच पुस्तक हुएन्त्साग के ट्रेवल्स से किनकैड द्वारा अनुवादित तथा उसकी पुस्तक हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, भाग १, पृष्ठ २१ पर उद्धृत।

† देखिए पृष्ठ १६२ पर दिया गया फुटनोट नम्बर दो। फादर हेरास ने इस युद्ध से सम्बन्धित तीन बातों का उल्लेख किया है—(१) मणिमंगल तथा अन्य दो स्थानों पर पुलकेशी की पराजय (२) उसका युद्ध कौशल और (३)

पुलकेशी द्वितीय के उत्तराधिकारी

उसके बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम, ईसा संवत् ६५३ में, गद्दी पर बैठा। पल्लवों पर आक्रमण तथा कांची पर अधिकार कर उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला पल्लवों से लिया। इस प्रकार विक्रमादित्य ने चालुक्यों की प्रतिष्ठा तथा सत्ता को फिर से स्थापित किया। किन्तु तीन चालुक्य अभिलेखों में जहाँ पल्लवों पर भारी विजय का उल्लेख है, वहाँ पल्लवों के अभिलेखों में चालुक्यों को बुरी तरह पराजित करने का उल्लेख मिलता है।*

उसके शासन-काल में चालुक्य-वंश की एक और शाखा का राज्य दक्षिणी गुजरात में स्थापित हो गया था। पल्लवों से उनका संघर्ष क्रमशः विनयादित्य प्रथम, विनयादित्य द्वितीय और विनयादित्य तृतीय के शासन-काल में भी चलता रहा। इनके बाद विक्रमादित्य द्वितीय सिंहासन पर बैठा और उसने पल्लवों पर आक्रमण कर एक बार फिर कांची पर अधिकार कर लिया। उसने ईसा संवत् ७४० में, तांडमंडलम में, पल्लव राजा नन्दिपोत वर्मन पर, महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की और उसे पलायन करने के लिए बाध्य किया। पल्लवों की छावनी को उसने लूट लिया, उनके राज्य-चिन्ह को अपने अधिकार में कर लिया और विजयी होकर कांची में प्रवेश किया। कांची में जाकर उसने राजसिंहेश्वर तथा अन्य मन्दिरों में भेंट चढ़ाई। दक्षिणी समुद्र-तट पर उसने एक विजय स्तम्भ प्रतिष्ठित किया—पांड्य, चोल, केरल, कालाभ्र तथा अन्य राजाओं को हराने के बाद। तीन बार पल्लवों पर विजय प्राप्त करने की

पल्लवों का वादामी पर अधिकार जिसे उन्होंने नष्ट कर दिया था, लेकिन पूर्ण रूपेण नहीं। स्टडीज़ इन पल्लव हिस्ट्री, पृष्ठ ३४-९)

* रेवरेन्ड एच-हेरास ने इस विरोधाभास में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हुए कहा है कि विक्रमादित्य ने पहले कांची पर अधिकार कर लिया था जैसा गद्दवाल और करनूल के ताम्रपत्रों और विनयादित्य के सैराव दानपत्र से प्रकट होता है। इसके बाद दक्षिण की ओर मुड़ कर उसने चोलिका प्रान्त के उरागपुर में अपना पड़ाव डाला। यहीं से उसने गड़वाल वाला दानपत्र जारी किया था जिसमें घोषित किया गया है कि—" श्री बल्लभ ने नरसिंह को पराजित कर उसके गर्व को धूल में मिला दिया। यह वही नरसिंह है जिसने महेन्द्र की

स्मृति में उसकी रानी ने पट्टादिकल में एक मन्दिर का निर्माण कराया था।*

विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र कीर्ति वर्मन द्वितीय ने—उस काल में जब वह राजकुमार थे—नन्दि वर्मन पल्लव मल्ल का पीछा किया और उसे किसी किले में भाग कर छिप जाने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार पल्लवों के साथ अपने परम्परागत संघर्ष में उसने भी भाग लिया; किन्तु वह अपने ही एक राष्ट्रकूट सरदार दन्तिदुर्ग द्वारा मारा गया। इस प्रकार दक्षिण पर एक बार पुनः राष्ट्रकूटों का—जो चालुक्यों के पुराने शत्रु थे—प्रभुत्व स्थापित हो गया।

प्रारम्भिक चालुक्यों के शासन काल में धर्म का प्रसार

प्रारम्भिक चालुक्यों के शासन काल में जैन धर्म को अच्छा प्रोत्साहन मिला और उसका प्रचार काफी मात्रा में हुआ। पुलकेशी द्वितीय ने रविकीर्ति नामक एक जैन कवि को संरक्षण दिया था। इस वंश के संस्थापक जयसिंह के बाद आठवें राजा विनयादित्य का धर्म-मंत्री एक सुप्रसिद्ध जैन पण्डित था।† एक अभिलेख से पता चलता है कि विक्रमादित्य द्वितीय ने एक जैन मन्दिर की मरम्मत कराई थी और इसी सिलसिले में महान् जैन तार्किक विजय पण्डित को सहायता प्रदान की थी। लेकिन चालुक्य अन्य धर्मों के प्रति भी सहनशील थे। जैसा इस काल में बने ब्रह्मा,

---

सत्ता को छिन्न-भिन्न किया था, ईश्वर को भी जिसने अपनी राजसत्ता के सम्मुख झुका लिया था और महामल्ल वंश को नष्ट कर दिया था।" वेलूरपलेयम और कुरम के अभिलेखों में पल्लवों की विजय (पेरूवलानल्लूम वाली) और केवल एक चिथड़े से अपना बदन ढके हुए विक्रमादित्य के पलायन का उल्लेख है। ऐसा मालूम होता है कि इस पराजय के पूर्व चालुक्यों ने अपनी विजय वाला अभिलेख जारी कर दिया होगा। (स्टडीज़ इन पल्लव हिस्ट्री, पृष्ठ ४३)

* पल्लव शैली के मन्दिरों को दक्षिण में बनवाने का श्रेय विक्रमादित्य को दिया जाता है। पट्टादिकल के मन्दिरों के विमान पल्लव मन्दिरों के विमानों की नकल पर ही बने हैं।

† देखिए बम्बई गजेटियर भाग १, खंड दो, पृष्ठ १८१-२

विष्णु और महेश के अनेक मन्दिरों से पता चलता है। बौद्ध धर्म का इस काल में प्रत्यक्षतः ह्रास हुआ। गुफाओं की निर्माण-कला इस काल में विशेष रूप से आगे बढ़ी। उदाहरण के लिए मंगलीश ने बादामी में विष्णु का एक गुफा-मन्दिर बनवाया। बलिदानों की प्रथा ने भी उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लिया। प्रायः सभी अभिलेखों में पुलकेशी प्रथम द्वारा किए गए अनेक यज्ञों का—जिनमें अश्वमेध भी था—उल्लेख मिलता है। इस काल में बलिदान सम्बन्धी सूत्रों के तीन महान् भाष्यकार हुए।

राष्ट्रकूटों का प्रारम्भिक इतिहास

राष्ट्रकूट, चालुक्यों को अपदस्थ कर जिन्होंने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, प्रारम्भिक काल से ही दक्षिण में बसे हुए थे। उनके उद्गम के सम्बन्ध में हम पहले ही बता चुके हैं। जिस भू-खंड पर उनका आधिपत्य था, पहले उसका नाम रट्टावाडी था। उनकी दो राजधानियाँ थीं—एक मयूरखंडी (नासिक जिला) में और दूसरी, नवीं शती के बाद जो राजधानी बनी, मल्यखेत (मालखेद) में जो निजाम के राज्य में स्थित है। उनका सब से पहला राजा—जिसका उल्लेख मिलता है—कृष्ण का पुत्र इन्द्र था। उसे प्रारम्भिक चालुक्य वंश के राजा जयसिंह ने परास्त किया था। उसके बाद के राजा गोविन्द को पुलकेशी प्रथम से परास्त होना पड़ा। गोविन्द के जितने उत्तराधिकारी हुए वे सब चालुक्यों के अधीन थे। इनका अगला महत्वपूर्ण राजा दन्तिदुर्ग हुआ। उसने राष्ट्रकूट वंश को प्रतिष्ठा को, जैसा हम बता चुके हैं, अन्तिम चालुक्य राजा कीर्ति वर्मन द्वितीय को परास्त कर ऊँचा उठाया। उसने नये राष्ट्रकूट राज्यवंश की स्थापना की। इस नये राष्ट्रकूट वंश का लगभग ढाई शतियों तक दक्षिण की राजनीति पर प्रभुत्व बना रहा।

दन्तिदुर्ग

दन्तिदुर्ग, जैसा उसके विरुदों से प्रकट होता है, निश्चय ही एक शक्तिशाली राजा रहा होगा।* ईसा संवत् ७५४ से पहले ही

* उसके विरुद थे—खड्गावलोक—जिसकी दृष्टि खड्ग की धार के समान तेज थी; पृथ्वीवल्लभ; महाराजाधिराज; परमेश्वर और परमभट्टारक। उसके एक

उसने केवल दक्षिणी भाग को छोड़ कर चालुक्यों के समूचे भू-प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। प्रायः इसी काल में दन्तिदुर्ग ने अपनी विजय-यात्रा को कांची, कलिंग और श्री शैल (कुरनूल) के राजाओं को पराजय के साथ सम्पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की। इसके साथ-ही घटनाओं ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि राष्ट्रकूटों के मालखेद वंश का यह संस्थापक और योद्धा राजा अप्रिय हो गया और अपने चचा कृष्ण प्रथम के पक्ष में उसे गद्दी छोड़ देनी पड़ी—वह गद्दी से च्युत कर दिया गया।

दन्तिदुर्ग के पश्चात्, इस प्रकार, कृष्ण प्रथम सिंहासन पर बैठा और अकालवर्ष तथा शुभातुंग के विरुद धारण किये। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य की नींव को दृढ़ किया तथा उसकी सीमाओं का विस्तार कर अपने विरुदों को सार्थक सिद्ध किया। उसकी एक बहुत बड़ी देन वह कैलाश-मन्दिर है जो उसने निज़ाम राज्य में स्थित एलोरा में बनवाया था। यह मन्दिर चट्टान काट कर बनाया गया था और निर्माण-कला का अद्भुत चमत्कार माना जाता है।*

गोविन्द तृतीय और ध्रुव

ध्रुव के पश्चात् उसका छोटा पुत्र, गोविन्द तृतीय, गद्दी पर बैठा।

अभिलेख में घोषित किया गया है कि उसके हथियों ने मही, महानदी और नर्मदा के तटों को क्षतविक्षत कर दिया था। (देखिए बम्बई गजेटियर, खंड १, भाग २, पृष्ठ ३८६)

* देखिए ई० बी हैवल की पुस्तक 'एन्शेन्ट एन्ड मेडीविअल आर्कीटेक्चर आफ़ इन्डिया। इस पुस्तक में इस मन्दिर का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। बर्गेस्स कृत 'केव टेम्पल्स' में भी इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। हैवल का कहना है कि तेरहवीं शती तक दक्षिण में यह कैलाश-मन्दिर शिव की उपासना का प्रमुख केन्द्र था। इतना ही नहीं दक्षिण में अन्य जितने भी मन्दिर बने हैं, उनके निर्माण में इस कैलाश मन्दिर का ही अनुकरण हुआ है—जैसा वैकुण्ठपेरुमल और कंजीवरम और विजय नगर के विट्ठलस्वामी के मन्दिरों से पता चलता है।

कर्कराज के बरोदा वाले ताम्रपत्रों (इन्डियन एन्टीक्वेरी, १२) में कृष्ण प्रथम द्वारा बनवाए गए एक मन्दिर का उल्लेख मिलता है।

उसे इस प्रतापी वंश का सही मानी में सब से महत्वपूर्ण राजा कहा जा सकता है।* उसके राज्याभिषेक के समय विरोधी राजाओं के एक गुट्ट ने—जिसका नेतृत्व उसका भाई कर रहा था—बाधा डालने का प्रयत्न किया। किन्तु गोविन्द ने इस गुट्ट के प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। उसने गुर्जर राजा पर आक्रमण किया और उसे पलायन करने के लिए बाध्य कर दिया। मालवों को उसने अपने सम्मुख नतमस्तक कर लिया। इसके पश्चात् उसने अपनी सेनाओं के साथ तुंगभद्रा की ओर प्रयाण किया और पहले से ही झुके हुए पल्लवों का और अधिक नजराना देने के लिए बाध्य किया।

इस प्रकार राष्ट्रकूट साम्राज्य का चहुँमुखी विस्तार हुआ। गोविन्द तृतीय ने अब सुदूर स्थित मयूरखंडी से हटा कर अपनी राजधानी मालखेद में स्थापित की। गोविन्द का साम्राज्य अब पश्चिमी तट से लेकर पूर्वी छोर तक और विंध्या के निकटवर्ती प्रदेश और उत्तर में मालवा से लेकर कम से कम दक्षिण में तुंगभद्रा तक फैला हुआ था।† लटों के भू-प्रदेश (दक्षिणी गुजरात) पर भी उसका आधिपत्य था। एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने अपने एक छोटे भाई इन्द्रराज को वहाँ का वाइसराय नियुक्त किया था। पाँच अभिलेख ऐसे हैं जिनमें गोविन्द के शासन का उल्लेख है। इन सभी से उसके विजयी और प्रतापी जीवन की पुष्टि होती है और उसकी विजय-यात्राओं का इनमें उल्लेख मिलता है।‡

---

* नवीं शती के भारत के इतिहास में यह त्रिपहलू संघर्ष अपना विशेष राजनीतिक महत्व रखता है। देखिए आर० सी० माजूमदार कृत गुर्जर-प्रतिहार शीर्षक लेख जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के दि जर्नल आफ दि डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स, खंड १०, में प्रकाशित हुआ है।

† देखिए डाक्टर फ्लीट की पुस्तक 'डाइनेस्टीज़ आफ दि कनारीज़ डिस्ट्रिक्टस'।

‡ मन्ने ताम्रपत्र, ईसा संवत् ८०२; ईसा संवत् ८०६ का नन्दि दान-पत्र और इसके अगले ही वर्ष में प्रज्ञापित यायी-दानपत्र ; ईसा संवत् ८०८ का रामधनपुर वाला दानपत्र और कारब ताम्र-पत्र। कहा जाता है कि पल्लव राजा दन्तिग ने

अमोघवर्ष (८१५—७८)

गोविन्द का पुत्र, अमोघवर्ष प्रथम, नृपातुंग, ईसा संवत् ८१५ में गद्दी पर बैठा। उसने दीर्घ काल तक, सुख-समृद्धि के साथ, शासन किया। उसके शासन-काल में राष्ट्रकूटों और पूर्वी चालुक्यों के बीच, विजयान्तर के साथ, संघर्ष चलता रहा। मालखेद का जो दुर्गीकरण उसके पिता ने आरम्भ किया था, उसे सम्भवतः अमोघवर्ष ने पूरा किया। मैसूर के गंगों के साथ भी उसका युद्ध हुआ। भीषण युद्ध और पराजय के बाद राष्ट्रकूटों को गंगवाडी से हट जाना पड़ा। किन्तु बनवासी प्रान्त पर, जिसे उन्होंने चालुक्यों से छीना था, उनका अधिकार बना रहा। कुछ काल के बाद उसका गंगों से समझौता हुआ और उसने उनके राजा से अपनी कन्या का विवाह कर दिया।

कन्नड़ भाषा और साहित्य का वह प्रेमी था। कहा जाता है कि अरब सौदागारों ने जिस 'सुदीर्घ जीवी बाल्हर' (बल्लभ राय) का उल्लेख किया है, वह यही था। सुलेमान (ईसा संवत् ८५१) ने दुनिया के चार बड़े नरेशों में उसका उल्लेख किया है। यह चार नरेश थे—बगदाद का खलीफा, चीन का सम्राट् और रोम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट्।*

जैनधर्म (दिगम्बर सम्प्रदाय) का वह बहुत बड़ा संरक्षक था। उसके धर्मगुरु जिनसेन के पथ-प्रदर्शन और संरक्षण में यह धर्म खूब फूला-फला। कहा जाता है कि रत्नमालिका नामक जैनग्रंथ की रचना उसी ने की थी। इस ग्रंथ की रचना उसने राज्य का त्याग करने के पश्चात् की थी। कविराजमार्ग नामक ग्रंथ का रचयिता उसे ही माना जाता है। कन्नड़-भाषा के प्राचीनतम काव्य-ग्रंथों में इसका स्थान है। इस ग्रंथ में उस काल की जनता और सभ्यता-

---

अपने मंत्रियों के हाथ, गोविन्द की दृष्टि का संकेत पाते ही, पूरा नज़राना भेज दिया था......और वेंगी का राजा, बिना किसी बाधा के, सदा उसकी सेवा के लिए तैयार रहता था।

* नवीं और दसवीं शती के अरब यात्रियों ने बाल्हरों के एक शक्तिशाली वंश का उल्लेख किया है जो मनकिर (मालखेद या माल्यखेद) में शासन करता था।

संस्कृति का सुन्दर वर्णन हुआ है। इसके कथनानुसार कन्नड़ प्रदेश में कावेरी के उपरले काँठे से लेकर गोदावरी के उपरले काँठे तक का भू-भाग सम्मिलित था।

कृष्ण द्वितीय और इन्द्र तृतीय

अमोघवर्ष का पुत्र कृष्ण द्वितीय (ईसा संवत ८८०-९११) 'अकालवर्षा' कहलाता था। पूर्वी चालुक्यों तथा अन्य पड़ोसी राज्यों से उसने भी युद्ध किया। गंगराज्य राष्ट्रकूट सत्ता के अधीन सामन्ती इलाके के रूप में था। उसके पश्चात् अगला राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय (ईसा संवत् ९१२-१६) हुआ। अपने पूर्वज गोविन्द तृतीय की भाँति, जिसने भीनमल के गुर्जरों से युद्ध किया था, उसने भी कन्नौज के गुर्जरों से युद्ध किया और कुछ काल के लिए गुर्जर नरेश को सिंहासन से वंचित कर दिया। लेकिन राष्ट्रकूट अधिक दिनों तक कन्नौज के सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित नहीं रख सके और महीपाल ने, चन्देलों तथा अन्य शक्तियों की सहायता से, सिंहासन पर फिर से अधिकार प्राप्त कर लिया।

गोविन्द चतुर्थ

गोविन्द चतुर्थ इन्द्र का छोटा पुत्र था। ईसा संवत् ९१८ से ९३३ तक उसने शासन किया। अपने पिता की तरह वह भी ख्याति प्राप्त योद्धा था। दान-आदि देने में वह इतना उदार था कि उसका नाम 'स्वर्णवर्षा' पड़ गया था।

कृष्ण तृतीय और चोल

इस वंश का अगला महत्वपूर्ण राजा कृष्ण तृतीय था। वह अकालवर्षा कहलाता था। उसने ईसा संवत् ९४० से ९६ तक शासन किया। वह भी महान् योद्धा था। उसके कितने ही अभिलेख मिले हैं जो मद्रास प्रेसीडेन्सी के मध्यवर्ती जिलों और मैसूर स्टेट में पाए गए हैं। गंग-राजा की सहायता में उसने चोल राजा राजादित्य, प्रान्तक प्रथम के पुत्र, से युद्ध किया था। तकोलम के युद्ध में राजादित्य मारा गया और गंग-राजा ने, युद्ध में उल्लेखनीय साहस दिखाने के फलस्वरूप, बनवासी प्रान्त को प्राप्त कर लिया। इस विजय के फलस्वरूप राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार चोल-राज्य के हृदय

प्रदेश तक हो गया था। फलतः अभिलेखों में कृष्ण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसने "काच्ची (कांची) और तंजई (तंजोर) पर अपना अधिकार कर लिया था।"

ईसा संवत् ९६६ में कृष्ण की मृत्यु तक राष्ट्रकूटों का शासन दृढ़ रहा। लेकिन दसवीं शती के मध्य के लगभग चोल साम्राज्य का विस्तार काफी हो गया और उसकी सीमाएँ राष्ट्रकूट साम्राज्य की सीमाओं को छूने लगीं।

राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम राजा करक था जो ककलि नाम से प्रसिद्ध हुआ। मालवा के परमार राजा से उसकी शत्रुता हो गई थी। उसने महाराष्ट्र पर आक्रमण किया और राष्ट्रकूटों की राजधानी मालखेद को उसके सम्मुख घुटने टेक देने पड़े। परमारों के साथ जब उसका युद्ध चल रहा था, उसी बीच तैल अथवा तैलप द्वितीय—जो साहसी किन्तु अज्ञात चालुक्य नायक था—प्रमुख वंश की एक शाखा से उद्भूत हुआ और राष्ट्रकूटों को अपदस्थ कर एक नये वंश की स्थापना की। यह नया वंश कल्याणी के परवर्ती चालुक्यों (ईसा संवत् ९७३) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

धार्मिक स्थिति

राष्ट्रकूटों के शासन-काल में पौराणिक देवताओं की उपासना ने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था। चट्टानें खोद कर तथा दूसरे तरीकों से मन्दिरों का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ। इन मन्दिरों में शिव और विष्णु की उपासना होती थी। इसके अतिरिक्त अमोघवर्ष प्रथम के कन्हेरी वाले अभिलेख से पता चलता है कि बौद्ध धर्म के अनुयायियों और संरक्षकों की संख्या भी काफी थी, यद्यपि इस धर्म का ह्रास होकर उसने नगण्य रूप धारण कर लिया था। जैन धर्म का भी, चालुक्यों के शासन-काल की अपेक्षा, इस काल में अधिक प्रचार हुआ। अमोघवर्ष इस धर्म का महान् संरक्षक था। और सम्भवतः उसने जैन धर्म को ग्रहण भी कर लिया था। निम्नवर्ग के अधिकांश लोगों तथा व्यापारियों में इस धर्म के अनुयायी थे। दिगम्बर सम्प्रदाय का ही इस काल में अधिक उत्थान हुआ। अनेक दिगम्बर ग्रंथ इस काल में रचे गए। राष्ट्रकूटों के दान-पत्रों में, प्रारम्भिक चालुक्यों से भिन्न, दान-दाताओं

के पूर्वजों का पद्यबद्ध उल्लेख मिलता है। उनके दरबार में कविगण रहते थे और विद्वानों को वे प्रोत्साहित करते थे। अमोघवर्ष की साहित्यिक कृतियों और ख्याति का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। इस वंश के तीनों कृष्णों में से एक को नायक के रूप में, कवि-रहस्य नामक काव्य ग्रंथ में, चित्रित किया गया है।

अरब व्यापारियों को प्रोत्साहन

राष्ट्रकूट अरब व्यापारियों के मित्र थे और उनको शरण तथा प्रोत्साहन देते थे। अरबों के प्रति मित्रता दिखाने और उनके लिए व्यापार का मार्ग खोलने के क्या परिणाम होंगे, यह वे नहीं अनुमान कर सके थे। अलमसूरी नामक एक अरब यात्री और लेखक (ईसा संवत् ६५६) ने लिखा है कि एक ओर जब बाल्हर राजा (राष्ट्रकूट) मुसलमानों के प्रति मित्रताभाव प्रदर्शित कर रहा था, उस समय कन्नौज का राजा उनसे (मुसलमानों से) संघर्ष कर रहा था। सभी अरब यात्रियों ने राष्ट्रकूटों और कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों की स्थायी शत्रुता का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि कन्नौज की चारों सेनाओं में से दक्षिणी हमेशा बाल्हरों के विरुद्ध युद्ध करती रहती थी।*

राष्ट्रकूटों को साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा ने दक्षिण के राजा को हिन्दुस्थान के हृदय की ओर बहुधा बढ़ने का अवसर प्रदान किया—यहाँ तक कि वे उत्तरी साम्राज्य की राजधानी कन्नौज तक, जो उनका लक्ष्य थी, आगए। वैसे तो मराठों की दृष्टि मुगल साम्राज्य की राजधानी दिल्ली पर भी गड़ी हुई थी।

[३]

कल्याणी के परवर्ती चालुक्य

पश्चिमी चालुक्यों का पुनरुत्थान

अब हम पश्चिमी चालुक्यों की राजनीतिक प्रगति का अवलोकन करेंगे।† तैल के साहस और अध्यवसाय के फलस्वरूप उनकी

* देखिए ईलियट और डासन कृत 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टारियन्स', भाग १, पृष्ठ ४, १० और २२-२३।

† प्रारम्भिक चालुक्य वंश का अन्तिम राजा कीर्तिवर्धन द्वितीय था। एक अभिलेख में कहा गया है कि चालुक्य राज्य के विस्तार का उसने अन्त कर

शक्ति फिर से स्थापित हो गई थी और दक्षिणी गुजरात को छोड़ कर राष्ट्रकूटों के समूचे प्रदेश पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस नवप्राप्त राज्य में कुन्तल देश, जिसमें कन्नड़ प्रदेश का अधिकांश भाग आगया था, सम्मिलित था। इसके पश्चात् तैलप परमारों के आक्रमणों से अपने सीमा-प्रदेश को सुरक्षित करने की ओर ध्यान दिया। परमार नरेश मुंज ने चालुक्यों के राज्य पर कम से कम सोलह बार आक्रमण किया और तैल को उसने परास्त कर दिया। अन्त में, घटनावश, गोदावरी को पार करते समय, मुंज पकड़ा गया और उसे मौत के घाट उतार दिया गया। ईसा संवत् ९९७ के अन्त तक तैल ने २४ वर्ष तक राज्य किया और उसके पश्चात् उसका पुत्र, सत्याश्रय, गद्दी पर बैठा।

सत्याश्रय

सत्याश्रय (९९७—१००८) को अपनी शक्ति बनाए रखने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके शासन-काल में चोलों की शक्ति, राजराजा महान् के नेतृत्व में, राष्ट्रकूटों के पतन के बाद, बहुत बढ़ गई थी। उनकी आकांक्षा विस्तृत विजय प्राप्त करने की थी। उन्होंने गंग-राज्य पर आक्रमण किया। चोलों के आक्रमण से लोहा लेने के लिए चालुक्य नरेश दक्षिण की ओर बढ़ा, किन्तु चोल नरेश राजराजा ने उसे परास्त किया और आस-पास के प्रदेश को लूट-पाट लिया (लगभग ईसा संवत् १००७-८)

दिया था। उसके उत्तराधिकारियों के नामों का पता नहीं चलता। उनमें से एक, जयसिंह, गुजरात में स्थित अनहिलवाड़ भाग कर चला गया था जहाँ उसका पुत्र मूलराज वहाँ के सैार राजा की कन्या से विवाह करने के बाद प्रथम चालुक्य शासक बन गया था। मूलराज के उत्तराधिकारी ईसा संवत् की बारहवीं शती के मध्य तक अनहिलवाड़ में स्थित अपनी राजगद्दी से गौरव के साथ शासन करते रहे।

तैलप ने चालुक्य वंश को फिर से प्रतिष्ठित किया था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने करक के दो युद्ध-स्तम्भों को गिरा दिया और जिस प्रकार वाराह ने समुद्र के तल से इस पृथ्वी का उद्धार किया वैसे ही उसने चालुक्य वंश का राष्ट्रकूटों के कुचक्र से उबार कर फिर से भाग्योदय किया था।

देखिए एपिग करनाटिका भाग ?, दावनगियर (?) इस अभिलेख में पूर्व कालीन चालुक्यों का सर्वाधिक लंबा वंश वृत दिया हुआ है।

विक्रमादित्य और जयसिंह

सत्याश्रय के बाद उसका भतीजा विक्रमादित्य पंचम गद्दी पर बैठा और फिर विक्रमादित्य का भाई जयसिंह जिसका चोलों से असफल युद्ध चलता रहा। तामिल में चोलों की शक्ति और सत्ता बढ़ रही थी। गंगवाडी को उन्होंने अपने राज्य में मिला लिया था और तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदी के तटों को उनके राज्य की उत्तरी सीमा छूती थी।

ईसा संवत् ९९९ से पूर्व ही चोलों ने गंगवाडी और नोलम्बवाडी पर अपना अधिकार कर लिया था। इसके बाद उन्होंने रत्तपदी के साढ़े सात लक्खा प्रदेश पर आक्रमण कर उसे रौंद डाला। यह प्रदेश पश्चिमी चालुक्यों के अधिकार में था। इस विजय का सर्व प्रथम उल्लेख राजराजा चोल (ईसा संवत् १००७-८) के शासन-काल के बाइसवें वर्ष के अभिलेख में मिलता है। चोल सेना ने "इस देश को लूट-पाट कर बराबर कर दिया; स्त्रियों, बच्चों और ब्राह्मणों को मार डाला; युवतियों को पकड़ कर अपने घर में डाल लिया और उनकी जाति को नष्ट कर दिया।"*

चोलों ने पूर्वी चालुक्यों से स्थायी संधि कर ली और इस संधि को विवाह-सम्बन्ध-द्वारा और भी पुष्ट बना लिया अन्यथा उनके लिए वेंगी और कल्याणी के चालुक्यों की संयुक्त शक्ति से लोहा लेना कठिन होता और उनकी शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो जाती। विशेष कर उनकी उत्तरी सीमा बहुत कमजोर रहती और वे अपने राज्य का विस्तार न कर पाते।

विक्रमादित्य पञ्चम और जयसिंह

राजेन्द्र चोल राजराजा का सुयोग्य पुत्र था। शासन के अन्तिम दिनों में उसने अपने पिता के साथ योग दिया था और, अपने राज्याभिषेक के प्रारम्भ से ही, राज्य की उत्तरी सीमाओं के विस्तार की ओर अग्रसर हुआ था। विक्रमादित्य पंचम, जो

* सत्याश्रय का होत्तूर वाला अभिलेख, देखिए बम्बई गजेटियर, खंड १, २, ४३३;—साथ ही फ्लीट की 'डाइनेस्टीज आफ दि कनड़ी डिस्ट्रिक्ट' भी देखिए।

सत्याश्रय (ईसा संवत् १००६-१८) का भतीजा था, चोलों के आक्रमण के चक्र में आ सकता था। अतः उसने नोलम्बवाडी पर अपने अधिकार को दृढ़ करने के लिए विवाह-सम्बन्ध का सहारा लिया। जगतमल्ल जयसिंह द्वितीय विक्रमादित्य का छोटा भाई था। महत्व की दृष्टि से इस वंश में उसका स्थान दूसरा था। ईसा संवत् १०१८ से ४२ तक उसने शासन किया। राजेन्द्र चोल यदि हाथी था तो वह सिंह। खास नोलम्बवाडी में उसके अभिलेख हैं जिनसे पता चलता है कि उसने इस प्रदेश से चोलों की शक्ति का अन्त कर दिया था। चोलों के अभिलेखों से पता चलता है कि जयसिंह ने मुसांगी में पीठ दिखा दी थी और राजेन्द्र चोल ने ईसा संवत् १०२१ में रत्तपदी के साढ़े सतलक्खा प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। अतः अन्य अभिलेखों में जो इस बात का उल्लेख है कि इस प्रदेश में चालुक्यों का शासन अच्छी तरह जम गया था, अतिरंजित है। अपने पूर्वजों की भाँति जयसिंह भी जैन था और जैन यतियों तथा विद्वानों को प्रोत्सहन देता था।

सोमेश्वर प्रथम

ईसा संवत् १०४२ में जयसिंह के बाद सोमेश्वर प्रथम गद्दी पर बैठा। आह्वमल्ल का उसने विरुद धारण किया और बड़े उत्साह, यद्यपि उतनी सफलता के साथ नहीं, उसने पुराने शत्रु चोलों से संघर्ष जारी रखा। नोलम्बवाडी तथा अन्य प्रदेशों पर फिर से अपना अधिकार स्थापित करने के लिए चोल प्रयत्नशील थे। राजाधिराज (१०५२), राजेन्द्र (१०५०-६३) और वीर राजेन्द्र (१०६२-७०)—इन सभी चोल राजाओं ने चालुक्यों से युद्ध किया। अभिलेखों में इन्होंने अपनी विजयों की घोषणा की है। राजाधिराज की घोषणा है कि उसने ईसा संवत् १०३६ काम्पिल में चालुक्यों के महल को भस्मीभूत कर दिया। राजेन्द्र का दावा है कि अपने भाई के साथ आगे बढ़ कर कोल्हापुरम में उसने एक विजय-स्तम्भ प्रतिष्ठित किया और वीर राजेन्द्र का कहना है कि उसने चालुक्य राजा को पाँच बार पराजित करने में सफलता प्राप्त की।

१०५२ में कोप्पम का युद्ध हुआ जिसमें दोनों ही पक्ष विजय का दावा करते हैं। चोल राजा राजाधिराज इस युद्ध में मारा गया किन्तु कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण युद्ध फिर भी चलता

रहा। सहायता माँगने पर आहवमल्ल पूर्वी चालुक्यों के राजकुमार कुलोत्तुंग की ओर से युद्ध में कूद पड़ा। इस राजकुमार को उसके पैतृक उत्तराधिकार से वंचित कर उसके चाचा को, चोल राजा वीर राजेन्द्र की सहायता से, गद्दी पर बैठाने का उपक्रम किया गया था।* उसे रोकने के लिए ही आहवमल्ल ने राजकुमार कुलोत्तुंग का साथ दिया।
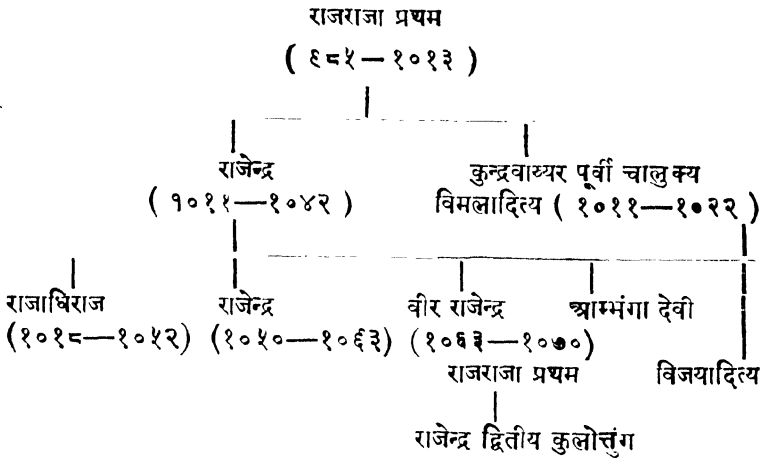
इसके फलस्वरूप जो युद्ध हुआ उसमें सोमेश्वर प्रथम पहले बेजवाड़ा और फिर कृष्णा और तुंगभद्रा के कुडाल संगम पर पराजित हुआ। १०६८ में तुंगभद्रा में डूब कर सोमेश्वर ने आत्महत्या कर ली। सोमेश्वर एक क्रियाशील और युद्धप्रिय राजा था। चोल राजा के विरुद्ध उसने साहस तथा पौरुष के साथ युद्ध किया था। उसका सेनापति विजयादित्य भी बहुत योग्य और साहसी था। उसके पुत्रों ने उसका पूरा साथ दिया। कल्याणी को एक महान् और प्रसिद्ध नगर बनाने का श्रेय उसी के शासन-काल में प्राप्त हुआ था। इस राज्य वंश की महानता के अनुकूल ही यह नगर महान् बन गया था।

अस्तव्यस्त काल

आहवमल्ल के बाद का काल पश्चिमी चालुक्यों के लिए विनाश-

* निम्न वंशवृक्ष इस विषय को और भी स्पष्ट करता है।

कारी सिद्ध हुआ। उत्तराधिकार के लिए घमासान गृह-युद्ध हुआ। इस काल का बहुत कुछ विवरण काश्मीरी कवि विल्हण की रचनाओं में मिलता है। विल्हण विक्रमादित्य द्वितीय के दरबार में रहता था। उसने अपने आश्रयदाता को नायक बना कर विक्रमांक देव चरित नामक एक ग्रंथ की रचना की थी।

सोमेश्वर द्वितीय

भुवनामक मल्ल सोमेश्वर द्वितीय (ईसा संवत् १०६८—७६) को चोलों के आक्रमण—जो सम्भवतः वीर राजेन्द्र के नेतृत्व में हुआ था—से लोहा लेना पड़ा। एक तट से दूसरे तट तक विस्तृत तीन प्रान्तों में उसने अपनी दक्षिणी सीमा के प्रदेश को बाँट दिया था। यह विभाजन उसने चोलों के आक्रमण को रोकने के लिए किया था और इसके फलस्वरूप उसके राज्य में कुछ शान्ति भी स्थापित हो गई थी।

सोमेश्वर शैव मत का उत्साही समर्थक था। उस काल में कालमुख संन्यासी बहुत प्रचलित थे और सोमेश्वर उन्हें संरक्षण प्रदान करता था। कालमुख संन्यासियों ने जैनियों को पीछे डाल दिया था। कहा जाता है कि वीर राजेन्द्र ने उसे कन्नड़ प्रदेश से बहिष्कृत कर दिया था। वीर राजेन्द्र उसके छोटे भाई विक्रमादित्य के पक्ष में था जिसके साथ उसने चोल राजकुमारी का विवाह किया था। किन्तु चालुक्य नरेश चोलों से प्रारम्भिक युद्ध करने पर भी विचलित नहीं हुआ। केवल शासन के अन्तिम काल में उसे अपने छोटे भाई की ओर से, जिसे उसने अपने घरेलू प्रान्त का भार सौंप कर स्वयं बांकपुर में रहना आरम्भ कर दिया था, कुछ परेशान होना पड़ा था। उसकी मृत्यु सम्भवतः ईसा संवत् १०७६ के लगभग हुई थी।*

* इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाइयों में से बड़ा भाई सोमेश्वर द्वितीय राजनीति में शून्य था जब छोटा भाई विक्रमादित्य राज-कार्य को संभालने में काफी कुशल और साहसी था। मृत्यु से पहले उनके पिता, कौन-सा पुत्र वास्तव में उसका योग्य उत्तराधिकारी होगा, यह नहीं निश्चय कर सके थे। विक्रमादित्य को जब राज्य नहीं मिला तो वह निराश हुआ और भाग कर कदल संगम पर स्थित चोलों की छावनी में गया और वीर राजेन्द्र से सहायता प्राप्त करने का

तेरहवाँ परिच्छेद

विक्रमादित्य षष्ठ

विक्रमादित्य ने अपने भाई सोमेश्वर को ईसा संवत् १०७६ में पकड़ कर बन्दी बना लिया था। उसी समय से, अपने राज्याभिषेक की स्मृति में, उसने चालुक्य-विक्रम संवत् भी चलाया था। अपने बड़े भाई सोमेश्वर को, जिसने कुलोत्तुंग चोल से गठबंधन कर

अनुरोध किया। वीर राजेन्द्र ने उसे सहायता देने का ही वचन नहीं दिया, वरन् अपनी राजकुमारी से उसका विवाह भी कर दिया।

अपने भाई के विरुद्ध क्रोध में आकर विक्रमादित्य ने यह कार्य किया था। चोल राजा को विक्रमादित्य की सहायता करने की विशेष चिन्ता नहीं थी, क्योंकि बावजूद सहायता के वचन के भी चालुक्य-राज्य पर उसके आक्रमण जारी रहे। इसके अतिरिक्त चोल राज्य-वंश के भीतरी झगड़ों में भी विक्रमादित्य फँस गया और बड़ी कठिनता तथा कौशल से वह अपने को इन झगड़ों से मुक्त करने में सफल हो सका। अन्त में पूर्वी चालुक्यों के कुमार कुलोत्तुंग ने, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, चोल राज्य पर अपना अधिकार प्रकट करते हुए कहा कि राजराज्य का वंशज होने के कारण वह वास्तव में उत्तराधिकारी है। इस प्रकार पूर्वी चालुक्यों की गद्दी से अपने चचा को अपदस्थ करने में उसने सफलता प्राप्त की।

अभिलेखों से पता चलता है कि सोमेश्वर अपने गर्व के मद में चूर हो गया था और उसे अपनी प्रजा के दु:ख-सुख की कोई चिन्ता नहीं थी। अन्त में विक्रमादित्य ने उसे बन्दी बना लिया और राजकार्य को अपने हाथ में ले लिया। एक अन्य अभिलेख के अनुसार विक्रमादित्य ने युद्ध करके राज्य पर अधिकार प्राप्त किया था (फ्लीट, बम्बई गजेटियर, १. पृष्ठ ४४४)। ये अभिलेख विक्रमादित्य के पक्ष का वर्णन प्रकट करते हैं। अन्त में सोमेश्वर का क्या हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता। "विल्हण ने दो विभिन्न घटनाओं का उल्लेख किया है—एक का अन्त तो इस प्रकार होता है कि उसने दोनों भाइयों—विक्रम और जयसिंह—की ओर से अपना ध्यान हटा लिया था; और दूसरी घटना का अन्त उसके बन्दी हो जाने में होता है। पहली घटना के फलस्वरूप ही सम्भवत: उसे कल्याणी से भाग कर बाकपुर में रहना पड़ा था और दूसरी घटना सम्भवतः बाद में, ईसा संवत् १०७६ में, हुई। उस समय तक के उसके शासन के अभिलेख मिलते हैं।" (देखिए मैसूर गजेटियर, नया संस्करण, खंड २, भाग २, पृष्ठ ७६६-८००)

लिया था, वश में करने और अपने छोटे भाई के विद्रोह को शान्त करने के पश्चात् उसे अन्य किसी विशेष परेशानी का सामना नहीं करना पड़ा और उसका शासन-काल, काँची और होमसालों के विरुद्ध युद्धों को छोड़ कर, शान्ति के साथ व्यतीत हुआ।

विक्रमादित्य की सफलताएँ

आधी शती से अधिक तक विक्रमादित्य ने गौरव के साथ राज्य किया। किन्तु उसके सुदीर्घ और शान्तिपूर्ण शासन-काल में कुछ कारणों से उसे कुछ दृढ़ सैनिक कार्य करने पड़े। कुलोत्तुंग से युद्ध करने के कुछ काल पश्चात् विक्रमादित्य के भाई जयसिंह ने, जो बनवासी प्रान्त का अधिपति था, विद्रोह किया। विक्रमादित्य को इस विद्रोह को दबाने के लिए सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। इसके बाद उसने आक्रमण करके काँची को अपने अधिकार में कर लिया। ईसा संवत् १११७ के लगभग होयसालों ने—जो चोलों के विरुद्ध विजय प्राप्त कर चुके थे—पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध तलवार खींची और विक्रमादित्य की सेना पर, उस समय जब वह पड़ाव की स्थिति में थी, आक्रमण कर दिया। होयसालों के इस आक्रमण को विक्रमादित्य के स्वामिभक्त सिंदा सरदार आचुगी द्वितीय ने शान्त कर दिया।

विक्रमादित्य का दरबार

विक्रमादित्य ने ११२६ तक शासन किया। धर्म और साहित्य का वह बहुत बड़ा प्रेमी था। उसका दरबार प्रभावपूर्ण था। उसमें काश्मीरी कवि विल्हण और मिताक्षरा ग्रंथ के रचयिता विज्ञानेश्वर* जैसे महान् पण्डित थे। धार्मिक दृष्टि से विक्रमादित्य वैष्णव था,† लेकिन अत्यन्त उदार हृदय होने के कारण अन्य देवताओं के निमित्त भी वह दान करता था—जैसे लोकेश्वर और बुद्ध। परम्परागत

---

* उसकी राजधानी कल्याणी की ख्याति और गौरव का वर्णन विज्ञानेश्वर ने निम्न शब्दों में किया है—"कल्याणी जैसा नगर इस धरती पर न कभी था, न है और न आगे होने की सम्भावना है। विक्रमांक के समान श्रीसम्पन्न नरेश भी न पहले कभी सुना, न देखा गया है।"

† डाक्टर एस० के० आयंगर कृत 'एन्शेन्ट इन्डिया', पृष्ठ १४२

पद्धति पर विक्रमादित्य अपना शासन चलाता था। अपने राज्य में वह बहुधा अनुसंधान पर जाता और मालखेद के निकट यातागिरि और विजयपुर (बीजापुर) में—अपनी प्रान्तीय राजधानियों में—जाकर ठहरता था। अभिलेखों में उसे त्रिभुवनमल्ल कहा गया है। एक में उसे विक्रमादित्य देव कह कर सम्बोधित किया गया है। ये अभिलेख उसके शासन के प्रथम वर्ष से लेकर पचासवें वर्ष तक सम्बन्ध रखते हैं। विल्हण के ग्रंथ विक्रमांकदेव चरित में कहा गया है कि उसने—तामिल अभिलेखों में ठीक इसका उल्टा वर्णन है—अर्थात् कुलोत्तुंग ने विक्रमांक को पराजित किया था। नोलम्बवाडी के प्रदेश में चोलों और चालुक्यों के बीच युद्ध हुआ था और सम्भवतः विक्रमादित्य के शासन काल में ही चोल अन्तिम रूप से इस प्रदेश से बहिष्कृत कर दिए गए थे। चोलों के निकालने में, प्रत्यक्षतः, उच्छांगी पांड्यों ने सहायता दी थी।

विभिन्न धर्मों के प्रति उसका व्यवहार उदार था। जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्म—सभी को उसने प्रोत्साहन दिया था। बनवासी की राजधानी बलिगामी विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र थी जहाँ मठों में देश के सभी धर्मों की शिक्षा दी जाती थी। कालमुख संन्यासियों का इस काल में प्राधान्य था और पशुपति मत का उन्होंने व्यापक प्रचार किया। वेदान्तिक विचार-धारा ने इस काल में प्रमुख स्थान प्राप्त किया था। कवियों और विद्वानों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। धर्म के प्रमुख केन्द्रों में मन्दिरों, शिक्षालयों, दान और विश्रामगृह के निर्माण का अच्छा चलन था। भवन-निर्माण-कला उन्नति पर थी। इस काल में जो मन्दिर बने, उन्होंने चालुक्य-शैली को फिर से जीवित किया। आगे चलकर होयसालों ने इस शैली का और भी विकास किया। मैसूर तथा कन्नड़ जिलों से मिले हुए प्रदेशों में इस शैली का विशेष रूप से प्राधान्य था।

प्रान्तीय शासकों और अधिकारियों पर विक्रमादित्य कड़ा नियंत्रण रखता था। अपने करद सामन्ती सरदारों से भी उसके सम्बन्ध अच्छे थे। उसका शासन सम्पन्न और समृद्ध था और वह, असंदिग्ध रूप से, अपने वंश का एक महान् नरेश था।

चालुक्यों का ह्रास

विक्रमादित्य के बाद चालुक्य-वंश का तेजी के साथ ह्रास होने लगा। उसके बाद सोमेश्वर तृतीय, जो भूलोकमल्ल भी कहलाता था, गद्दी पर बैठा। उसके शासन में राज्य समृद्ध रहा और उसके अधीनस्थ सरदार उसे सर्वज्ञ मानते थे। अपने पिता की तरह वह भी विद्या और साहित्य का प्रेमी था और स्वयं भी साहित्यिक अभिरुचि रखता था। ईसा संवत् ११३८ में उसकी मृत्यु हुई।*

विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी

जगदेकमल उसका उत्तराधिकारी हुआ और बारह वर्षों तक (११३८—५१) उसने शासन किया। अभिलेखों से पता चलता है कि पहली बार युद्ध में उसने दक्षिणी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की और दूसरी बार होयसालों के आक्रमण का उसे सामना करना पड़ा। उसके राज्य पर चोलों ने भी आक्रमण किया था, किन्तु उन्हें पराजित होना पड़ा। उसने अपना एक संवत् चलाया था, इसका उसके कई अभिलेखों से पता चलता है। उसके शासन-काल में कुन्तल देश सम्पन्न और समृद्ध हुआ।

उसके पश्चात् उसका पुत्र तैलप तृतीय गद्दी पर बैठा। तैलप के शासन-काल में राज्य का द्रुत गति से ह्रास होने लगा। अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय के प्रति उसके पिता ने जो अनेक प्रान्तपतियों को खड़ा कर दिया था, अन्त में वह घातक सिद्ध हुआ। धीरे-धीरे इन प्रान्तपतियों और सरदारों ने केन्द्रीय सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया और जैसे ही अवसर मिलता, अपने स्वामी-नरेश की अवज्ञा कर वे अपने को स्वतंत्र घोषित कर देते। इन्हीं में से एक सरदार ने, तैलप के शासन-काल में, सीमा-स्थित एक कबीले पर विजय प्राप्त करने के बाद अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। उसका नाम विज्जल कलचुरी था और वह बनवासी का अधिपति था।

तैलप अपने राज्य से वंचित

तैलप को गद्दी पर बैठे अधिक वर्ष नहीं हुए थे कि विज्जल ने,

---

* सम्भवतः उसने मानसोल्लास नामक संस्कृत ग्रंथ की रचना की थी। अन्य विषयों के अतिरिक्त इस ग्रंथ में राजनीति और राजाओं के मनोरंजन के कार्य-कलापों का भी वर्णन हुआ है। (एल० राइस, मैसूर, भाग १, पृष्ठ ३८०)

जो दण्डनायक था, कुछ शक्तिशाली सरदारों—जिनमें काकातीय वंश का प्रोलराजा भी था—के साथ षड्यंत्र कर सिंहासन को अपने हाथ में करने का प्रयत्न किया। ईसा संवत् ११६२ के लगभग वह सिंहासन पर अधिकार करने में सफल हुआ। इस वर्ष के एक अभिलेख में उसका उल्लेख स्वामी-नरेश के समान हुआ है। ईसा संवत् ११५५ से उसने राजकीय-सत्ता ग्रहण करने की गणना की है। भुजबल चक्रवर्ती तथा अन्य कई विरुदों—जैसे परमेश्वर और त्रिभुवनमल्ल—को उसने धारण किया था। तैलप ने भाग कर बनवासी में शरण ली और बिज्जल के अधिकार को बाध्य होकर मान लिया। बिज्जल ने यह "अर्द्ध राजनैतिक, अर्द्ध सैनिक, क्रान्ति कुछ तो अपने भुजबल और कुछ अपने साथियों की मदद से सम्पन्न की थी।" तैलप का उत्तराधिकारी नाम मात्र का राजा था (११६४)

११८० के लगभग एक अन्य चालुक्य नरेश सोमेश्वर चतुर्थ ने साम्राज्य को फिर से प्रतिष्ठित किया। इसके फलस्वरूप कल-चुरियों का आधिपत्य समाप्त हो गया। बम्मरस नामक अपने शक्तिशाली मंत्री की सहायता से सोमेश्वर ने यह सफलता प्राप्त की थी। एक अभिलेख में बम्मरस को चालुक्य राज्य-वंश का पुनर्संस्थापक कहा गया है। सोमेश्वर का सब से अन्तिम अभिलेख ईसा संवत् ११८९ का है। इसके बाद उसका क्या हुआ, कुछ पता नहीं चलता।

राज्य-वंश का अन्त

देवगिरि के यादव शासक भिल्लम ने चालुक्य राज्य के उत्तरी और पूर्वी भागों में प्रवेश किया था। दक्षिण की ओर से वीर बल्लाल के नेतृत्व में होयसालों के आक्रमण का भय उत्पन्न हो गया था। अन्त में अन्तिम चालुक्य राजा को बनवासी में जाकर शरण लेनी पड़ी और ईसा संवत् ११८९ से, पुराने सामन्ती सरदारों के अभिलेखों में, चालुक्यों के प्रभुत्व का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार चालुक्य वंश का ईसा संवत् १२०० के लगभग अन्त हो गया, यद्यपि चालुक्य वंश के कुछ सरदार, तेरहवीं शती तक कोंकण में राज्य करते रहे।

चालुक्य साहित्य और कलाओं के प्रेमी थे। भवन-निर्माण-कला

के क्षेत्र में उन्होंने चालुक्य शैली को जन्म दिया था। उनके सिक्के, बहुत कुछ अंशों में, कदम्ब-सिक्कों की नकल पर बने थे और प्याले के आकार के थे। राज्य का अन्त होने के बाद उत्पन्न अस्तव्यस्त वातावरण और गड़बड़झाले में दो शक्तिशाली वंशों का उदय हुआ और दक्षिण में राजनीतिक सत्ता उन्होंने प्राप्त कर ली। ये वंश थे देवगिरि के यादव और द्वारसमुद्र के होयसाल। इस प्रकार इतिहास के पृष्ठों से शक्तिशाली चालुक्यों की सत्ता का लोप हो गया, यद्यपि इस वंश के कुछ छोटे-मोटे सरदार, तेरहवीं शती तक, कोंकण में राज्य करते रहे।

कलचुरी

ईसा संवत् ११५१ में कलचुरियों ने चालुक्यों को अपदस्थ कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। यद्यपि उनकी प्रभुता थोड़े काल (११५१ से ८२ तक) रही, फिर भी उनके शासन-काल का महत्व था—विशेष कर इसलिए कि उनके शासन-काल में लिंगायत-सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह सम्प्रदाय कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेशों में अधिक व्याप्त था। कलचुरी एक प्राचीन जाति के लोग थे। यह इस बात से भी प्रकट होता है कि वे चेदि संवत् का प्रयोग करते थे जिसका प्रारम्भ ईसा संवत् २४९ से होता है। मैसूर के अभिलेखों में उनका उल्लेख 'कलंजर के स्वामी' के रूप में हुआ है जो चेदि या बुन्देलखंड में एक दृढ़ दुर्ग था। किन्तु यहाँ हम प्रमुख रूप से दक्षिण में ही उनके प्रभुत्व का वर्णन करेंगे।

बिज्जल (११५६-५७)

जैसा हम पहले कह चुके हैं, बिज्जल या विज्जल, चालुक्यों के अन्तर्गत महामंडलेश्वर के पद पर स्थित था। अपने स्वामी तैलप को, विश्वासघात कर के, उसने बन्दी बना लिया था और उसके सिंहासन पर, ११५६ में, अधिकार कर लिया था। वह एक ब्राह्मण कन्या पद्मावती के प्रेम में पड़ गया था और उसके सौन्दर्य के सम्मुख पूर्णरूपेण आत्मसर्पण कर दिया था। वासव पद्मावती का भाई था। अपनी बहन के प्रभाव से सहज ही वह प्रधान मंत्री और सेना-नायक के पद तक पहुँच गया।

बिज्जल ने जैन धर्म ग्रहणकर लिया था और तदनुसार उसके

अनेक मंत्री और पदाधिकारी जैन हो गए थे। वासव को यह अच्छा नहीं लगा। उसने जैन पदाधिकारियों को अलग कर दिया और उनकी जगह अपने आदमियों को उत्तरदायी पदों पर नियुक्त किया। इस कृत्य ने राजा को क्रुद्ध कर दिया—विशेष कर इस लिए कि वासव ने एक नये पंथ, लिंगायत, को जन्म दिया था। फलतः द्वन्द्व शुरू हुआ जिसके परिणाम स्वरूप वासव ने विज्जल की हत्या कर दी।* इस प्रकार अपना अधिकार स्थापित करने के बाद विज्जल ने १०७६ से अपना संवत् शुरू किया।

लिंगायत

विज्जल के प्रधान मंत्री वासव ने लिंगायत पंथ चलाया। वह ब्राह्मण का पुत्र और बेलगाँव का रहने वाला था। एक दन्त-कथा के अनुसार उसने अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ब्राह्मणों की कुछ प्रथाओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी—जैसे यज्ञोपवीत, बाल-विवाह और हिन्दुओं की विधवा प्रथा आदि। अतः, कलचुरियों के शासन-काल में जब उसके हाथ में शक्ति आई तो उसने अपने धार्मिक और सामाजिक विचारों के अनुसार एक नये पंथ को जन्म दिया। उसके अनुयायी लिंगायत कहलाये। वर्णव्यवस्था को उन्होंने अस्वीकार कर दिया था और वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। तीन वस्तुओं के प्रति वे अपार श्रद्धा प्रकट करते थे—एक गुरु, दूसरे लिंग और तीसरे जंगम—अर्थात् अपने धर्म-भाइयों के प्रति। लिंगायत, सर्वसाधारण में, वीर शैव कहलाते थे। भीम कवि रचित वासव पुराण और विरुपाक्ष पण्डित रचित चन्ना वासव पुराण उनके प्रमुख धर्म ग्रंथ थे। ये ग्रंथ हाल की कन्नड़ भाषा में लिखे

---

* हत्या करने के बाद वासव भी अधिक दिनों तक अधिकृत राज्य का उपभोग न कर सका। विजल के पुत्र राजमुराय सोनी ने वासव का बुरी तरह पीछा किया—यहाँ तक कि वासव को कुएँ में कूद कर आत्महत्या करने के लिए बाध्य होना पड़ा। स्वयं लिंगायतों का कहना है कि वासव को जब अपनी जान छिपाने का कोई अवसर नहीं रहा तो वह संगमेश्वर के लिंग में—जो मलप्रभा, और कृष्णा के संगम पर प्रतिष्ठित था—लोप हो गया। (देखिए एल राइस कृत 'मैसूर', भाग १, पृष्ठ ३३२)—विजल ने वीरशैवों का दमन आरम्भ कर दिया था। विजलराय-चरित नामक जैन ग्रंथ में उसके अन्त का वर्णन मिलता है।

गए थे। इनमें लिंगायत सम्प्रदाय के सन्तों और गुरुओं के चमत्कार-पूर्ण कृत्य वर्णित हैं। शिव की उपासना अपने प्रतिरूप में प्राचीन काल में प्रचलित थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। जो भी हो, इस सम्प्रदाय की ब्राह्मण-विरोधी प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। मैसूर और दक्षिणी मराठा प्रदेश में यह सम्प्रदाय अपने जन्म से ही फैल गया था। १३९९ से १६१० तक मैसूर के शासक और बेदनोर के सरदार इसी मत के अनुयायी थे। पशुपतों ने इस धर्म को फैलाने में महत्वपूर्ण योग दिया था। आज भी मैसूर तथा अन्य कई जगहों में इस धर्म के अनुयायी पाए जाते हैं।

बिज्जल के शासन-काल में बासव, असंदिग्ध रूप से, एक महत्व पूर्ण धार्मिक व्यक्ति था। शैवमत के अभ्युत्थान में एक दूसरे व्यक्ति एकदन्त रमैया ने भी महत्वपूर्ण योग दिया था। बिज्जल का उत्तराधिकारी सोविदेव हुआ और उसके बाद दो अन्य राजा हुए, किन्तु उन्होंने कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं किया। कलचुरियों के काल में वीर शैवों का उत्थान हुआ और कन्नड़ का फिर से भाग्य चमका और अधिक प्राचीन बौद्ध और जैन धर्मों का ह्रास हुआ।

देवगिरि के यादव

चालुक्यों के पतन के बाद सत्ता के लिए जिन शक्तियों में संघर्ष हुआ, उनमें एक देवगिरि के यादव थे। वे अपने को कृष्ण का वंशधर कहते थे। हेमाद्रि-रचित व्रतखंड की भूमिका में सुबाहु नाम आता है। उसे ही इस वंश का अर्द्ध-ऐतिहासिक संस्थापक माना जाता है। उसके एक पुत्र का नाम दृधाप्रहार था जिसने दक्षिण में सेउना-प्रदेश पर—जो नासिक से देवगिरि तक फैला हुआ था—अधिकार कर लिया था।*

* दृधाप्रहार के पुत्र का नाम सेउना चन्द्र था। उसने सेउनापुर नामक एक नगर की स्थापना की थी। यही इस वंश का पहला सदस्य था जिसके नाम का उल्लेख, ईसा संवत् १००० में अंकित, संगमनेर के दान-पत्र में मिलता है। इस अभिलेख में कहा गया है कि उसने अपने प्रदेश और अपनी प्रजा का नाम अपने नाम पर ही रखा था। उसके उत्तराधिकारियों का ठीक-ठीक पता लगाने में यह अभिलेख बहुत उपयोगी और महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। देखिए फ़्लीट कृत

उसके पश्चात् २१ अन्य राजाओं ने शासन किया। इनमें से भिल्लम (११८७—९१) के शासन-काल में यादवों ने विशेष ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त की। देवगिरि में उसकी राजधानी थी। भिल्लम ने होयसालों से युद्ध किया था जो कृष्णानदी तक बढ़ आए थे। अन्त में होयसालों को तुंगभद्रा की दक्षिणी रेखा तक पीछे हटना पड़ा।

भिल्लम के बाद जैतुगी या जैत्रपाल (११९१—१२१०) गद्दी पर बैठा और उसका उत्तराधिकारी सिंघन (१२०१—४७) हुआ जो इस वंश का सम्भवतः सब से शक्तिशाली राजा था। उसने गुजरात तथा अन्य प्रदेशों पर आक्रमण किया और एक ऐसे अल्पकालिक राज्य की स्थापना की जो आकार-प्रकार में चालुक्यों तथा राष्ट्रकूटों के राज्य की समानता करता था।*

रामचन्द्र और मुसलमानों का आक्रमण

इस वंश के अगले महत्वपूर्ण राजा का नाम रामचन्द्र था। वह सिंघन का पौत्र था। उसने ईसा संवत् १२७१ से १३०९ तक शासन किया था।† कुछ अज्ञात कारणों से उसने अपनी राजधानी बदल

'डाइनेस्टीज़ आफ़ दि कन्नड़ी डिस्ट्रिक्ट्स—(बम्बई गजेटियर, भाग १, पृष्ठ ५१२)

* जैतुगी ने ही सुप्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्री भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को अपने प्रमुख पण्डित के पद पर नियुक्त किया था और लक्ष्मीधर का पुत्र संघदेव सिंघन का प्रमुख ज्योतिषी था। उसने अपने दादा तथा अन्य अज्ञात सम्बन्धियों द्वारा लिखित सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए एक विद्यापीठ की स्थापना की थी।

† धर्मशास्त्र पर अनेक ग्रंथों का रचयिता हेमाद्रि रामचन्द्र और उसके पूर्वाधिकारी के शासन-काल में हुआ और दोनों का मंत्री था। उसके ग्रंथ की भूमिका में उसे महादेव का श्रीकरणाधिप—सम्भवतः प्रमुखपत्री—कहा गया है। उसके ग्रंथों के प्रारम्भ में उसके स्वामी-राजा और स्वयं उसका वंशानुक्रम दिया हुआ है। हेमाद्रि विद्वानों और ब्राह्मणों का हितैषी था। चतुर्वर्ग चिन्तामणि उसके ग्रंथों में सब से महान् है। इस ग्रंथ में चार भाग हैं। इन चार भागों में से एक का नाम व्रतकाण्ड है। उसके सभी ग्रंथों से आचार नीति और धार्मिक प्रथाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ये ग्रंथ तत्सम्बन्धी जानकारी और अनेक उद्धरणों से पूर्ण हैं। कहा जाता है कि उसने

कर मैसूर में स्थित बेटूर में स्थापित कर ली थी। बहुत सम्भव है उसके सेनापति सालुवा तिक्कण ने दक्षिण पर सफल आक्रमण किया हो। मुसलमान दक्षिण के द्वार तक आ चुके थे और रामचन्द्र के शासन-काल में अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण पर विजय प्राप्त करने का विचार किया था (१२९४)। साहसी खिलजी को देवगिरि तक आने में देर न लगी और राजधानी पर, जो लड़ने के लिए तैयार नहीं थी, आक्रमण कर राजा को परास्त कर दिया। राजा ने विरोध किया किन्तु उसका विरोध करना मूर्खता-पूर्ण तथा व्यर्थ सिद्ध हुआ। खिलजी बहुत सा लूट का माल और रामचन्द्र से वार्षिक नज़राना लेकर चला गया।

१३०६ में मलिक काफ़ूर ने, अलाउद्दीन खिलजी के आदेशानुसार, देवगिरि पर आक्रमण किया। इस बार राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया जिसके फलस्वरूप खिलजी ने उसे शेष जीवन तक अपने प्रदेश का राजा बने रहने दिया। उसके बाद उसका भाई शंकर (१३०९—१२) गद्दी पर बैठा। उसने खिलजी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसके फलस्वरूप उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। १३१६ में रामचन्द्र के दामाद हरपाल ने भी इस वंश की प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। इसी बीच अलाउद्दीन की मृत्यु हो गई और मलिक काफ़ूर ने सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु अलाउद्दीन के सही उत्तराधिकारी मुबारक ने मलिक काफ़ूर को पलायन करने के लिए बाध्य कर दिया और सिंहासन पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया। १३१८ में मुबारक ने भी दक्षिण पर आक्रमण किया और विद्रोही हरपाल को बन्दी बना लिया और जीते-जी उसकी खाल खिंचवा कर उसे मार डाला। इस प्रकार यादवों के वंश का—उनकी सत्ता का—अन्त हो गया।

———

मोदी लेखन-शैली का आविष्कार किया था। एक विशेष प्रकार के प्राचीन मन्दिरों के निर्माण का श्रेय भी उसे दिया जाता है। संत ज्ञानेश्वर उसका समकालीन था। उसने मराठी में गीता पर टीका लिखी थी और मराठा देश में वह सब से पहला सन्त माना जाता है। (देखिए भण्डारकर कृत बम्बई गजेटियर भाग १ में हिस्ट्री आफ दि दकन, पृष्ठ २४८-५०)

चौदहवाँ परिच्छेद

दक्षिण भारत का इतिहास (१)

[१]

प्रारम्भिक तामिल नरेश, तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था

दक्षिणी भारत से हमारा आशय भारतीय प्रायद्वीप के उस भाग से है जो कृष्णा नदी के दक्षिण में है। यह प्रदेश स्पष्टतः तीन भागों में विभाजित है—एक तटवर्ती पट्टी, जो पश्चिमी घाट और अरब सागर के बीच पड़ती है और मालाबार-तट कहलाती है; दूसरे खंडित पूर्वी घाट और बंगाल की खाड़ी के बीच का मैदानी चौड़ा प्रदेश और तीसरे दोनों घाटों के बीच की पठारी भूमि जो दक्षिण में नीलगिरि के पहाड़ों तक विस्तृत है। मैसूर और कन्नड़ प्रदेश के अन्तर्गत इस पठार का अधिकांश भाग आजाता है। इस भाग का, जैसा हम कह चुके हैं, दक्षिण से बराबर सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्पर्क रहा है।

प्रारम्भिक निवासी

दक्षिण भारत का देश, अति प्राचीन काल में, पूर्व-द्रविड लोगों से बसा था। कोई उपयुक्त नाम न मिलने के कारण इन लोगों को पूर्व-द्रविड कहा गया है। दक्षिणी भारत के जंगली तथा पहाड़ी कबीलों में से कुछ—हरूलन, चेंचु, येनादि, अनामलाई के पहाड़ी भागों में रहनेवाले कादर, पश्चिमी घाटों के वासी पनैयन—इन्हीं पूर्व-द्रविडों से निकले थे। सिंहल के वेड्डाह भी सम्भवतः पूर्व-द्रविड ही थे।* और जो शुद्ध द्रविड थे—उनके उद्गम के सम्बन्ध में हम

---

* डाक्टर काल्डवेल तथा अन्य कई विद्वानों का मत है कि जंगल और पहाड़ों में रहने वाले कबीले, और दास-जाति के लोग, उन द्रविडों में से थे जो जंगलों-पहाड़ों में खदेड़ दिए गए थे अथवा अपने ही लोगों द्वारा दास बना लिए गए थे। लेकिन इस मत का समर्थन करनेवाले बहुत कम हैं। अब यह माना जाता है कि दक्षिण भारत के अनार्य निवासी

पहले ही बता चुके हैं—एक समय में वे समूचे प्रायद्वीप में फैले हुए थे।*

दक्षिण भारत में आर्यों का प्रवेश

प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि दक्षिण में आर्य संस्कृति का प्रवेश विजयों के फलस्वरूप नहीं, वरन् आर्यों के वहाँ जाकर धीरे-धीरे बस जाने के कारण हुआ। ईसा पूर्व पाँचवीं शती के प्रारम्भिक सूत्रों के रचयिता बौधायन की कृतियों से पता चलता है कि आर्य संस्कृति, उसके समय से पहले ही, दक्षिण में कलिंग तक फैल गई थी। उस काल में दक्षिण में अनेक सम्पन्न और समृद्धिशाली राज्य स्थापित थे जो विद्या और शास्त्रीय ज्ञान के उल्लेखनीय केन्द्र थे। सिंहल अनुश्रुति के अनुसार इस द्वीप पर बंगाल के विजय ने ईसा पूर्व छठी शती के मध्य में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। ईसा पूर्व तीसरी शती में

स्पष्टतः दो भिन्न जातियों के लोग थे जिन्हें पूर्व-द्रविड और द्रविड कहा जाता है। सुप्रसिद्ध विद्वान् डे क्वाटे फ़ेजज़ का कहना है कि पूर्व-द्रविड लोग नीग्रिटो जाति के प्रतिनिधि थे जो सम्भवतः मलयेशिया से आए थे। ईसा थर्स्टन, जिन्होंने दक्षिण भारत के कबीलों पर खोज-कार्य किया है, कहते हैं कि ये पूर्व-द्रविड कबीलों के लोग मलय प्रायद्वीप के शकाई लोगों से मिलते-जुलते हैं। ऑस्ट्रेलिया के नीग्रिटो से भी वे मिलते हैं। पूर्व-द्रविडों में कुछ दक्षिण भारत के प्रस्तर काल के लोगों के वंशज प्रतीत होते हैं। अनुश्रुति के अनुसार पूर्व-द्रविड कबीलों में कुछ उस समय तक सभ्यता के किसी स्तर तक अवश्य पहुँच गए थे जब द्रविडों से उनका सम्पर्क स्थापित हुआ।

* देखिए पृष्ठ १५ पर दिए गए नोट। द्रविडों के उद्गम को आज भी हम एक विवादास्पद प्रश्न कह सकते हैं। सर० एच० रिसले ने अपनी महान् कृति 'दि पीपुल ऑफ इन्डिया' में कहा है कि द्रविड इसी देश की मिट्टी से उपजे थे। अपने मूल रूप में वे सिंहल से गंगा की घाटी तक के प्रदेश में रहते थे। उनका विशुद्धतम रूप आज भी छोटा नागपुर के संथालों और मालाबार के पनैयनों में देखा जा सकता है। श्री वी० कनकसभाई पिल्लाई ने अपने ग्रंथ—दि तामिल्स १८०० ईअर्स एगो (१९०६)—में यह मत निर्धारित किया है कि दक्षिण भारत के आदि निवासी मिल्लवर और मीनवर—कमान चलाने और

चौदहवाँ परिच्छेद

अशोक ने दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था और उससे दो पीढ़ी पूर्व जैन गुरु भद्रबाहु ने मैसूर प्रदेश की ओर अभियान किया था। ब्राह्मी अभिलेख, जो सम्भवतः ईसा पूर्व तीसरी शती के हैं, दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में पाए गए हैं जिनसे प्रकट होता है कि अशोक से पूर्व काल में ही उत्तरी भारत का दक्षिणी भारत से सम्पर्क स्थापित हो गया था।

मछली पकड़ने वाले—थे। उनपर ताम्रलिप्ति या तामिल लोगों ने—जो मंगोल थे—विजय प्राप्त कर ली थी। ये तामिल लोग तिब्बत से दक्षिण भारत में आए थे। पूर्वीतट के मार्ग से चार दलों में, इनका यह अभियान हुआ था—एक मराद जिन्होंने पाड्य राज्य की स्थापना की; दूसरे चोलों में त्रिय्यर कबीले के लोग, तीसरे वानवर जो चेरा-नरेशों के पूर्वज थे, और चौथे दल में कोसर देश के कोगू थे। ये चारों दल सुदीर्घ अन्तर के बाद दक्षिण भारत में आए थे—अलग अलग कबीलों में: और इनकी संख्या, आदिवासी नागों और भिलवरों के अनुपात में, कम थी। उन्होंने पुराने आदिवासियों की भाषा को अपना लिया था जो आगे चल कर, संशोधित होकर, तामिल बन गई। नाग लोग सभ्य थे। मरावर, युइनर, ओलियर, अरुवलर, और अन्य असभ्य कबीले के लोग, जिनका तामिल के प्रारम्भिक ग्रंथों में उल्लेख मिलता है, नाग-जाति से ही सम्बन्ध रखते थे और तामिलों से उनका निरन्तर संघर्ष रहता था।

तामिल मंगोल जाति से उद्भूत हैं, इस पर काफी उग्र विवाद चला है और इसके विरोध में बहुत कुछ कहा गया है। तामिल काले होते हैं और उनका सिर लम्बा होता है। लेकिन इस धारणा की कि द्रविड पश्चिमी एशिया से सम्बन्ध रखते हैं, इस बात से और भी पुष्टि होती है सम्भव है उनका सम्बन्ध सैंधव सभ्यता से रहा हो जो भी हो, इन विरोधी धारणाओं से इतना तो पता चल ही जाता है कि द्रविडों के उद्गम का प्रश्न कितना कठिन और विवादास्पद है। इस प्रश्न पर विचार करने का सही तरीका यह हो सकता है कि सब से पहले हमें द्रविड शब्द का सही अर्थ स्थिर करना चाहिए, साथ ही हमें पूर्व द्रविड लोगों की और द्रविडों की जातिगत भिन्नताओं पर भी ध्यान रखना चाहिए और फिर यह मालूम करने का प्रयत्न करना चाहिए कि किस हद तक द्रविडों ने पूर्व द्रविडों को अपने में समा लिया था।

अगस्त्य सम्बन्धी अनुश्रुति

अनुश्रुति है कि अगस्त्य ऋषि को दक्षिण की ओर जाने का आदेश मिला था। वह अपने साथ कुछ व्यक्तियों को लेकर चले। मार्ग में जब द्वारका पहुँचे तो अपने साथ विष्णु राजवंश के अठारह आदमियों और वेलोर तथा अरुवलर जाति के अठारह लाख लोगों को लेकर वे आगे बढ़े। दक्षिण में पहुँच कर इन्होंने जंगलों को साफ किया और बस्ती बना कर रहने लगे। इन्हीं के साथ-साथ दक्षिण में उत्तर भारत की संस्कृति का भी प्रवेश हुआ।*

* अगस्त्य के अभियान की इस अनुश्रुति का कोई ऐतिहासिक मूल्य है तो इसका अर्थ यह है कि यह अभियान गुजरात से दक्षिण की ओर हुआ था... सतवातों (यदु कबीले का एक वर्ग) का दक्षिण में जाकर बसना और सुदूर दक्षिण में गुजरात से लोगों का जाकर बस जाना, कम-व-अधिक रूप में, वसुदेव की उपासना तथा पंचरात्रि प्रथा के प्रचलन का कारण हो सकता है। प्राचीन तामिल साहित्य में इनका उल्लेख मिलता है। कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं के अस्पष्ट संकेत भी इन तामिल ग्रंथों में मिलते हैं। आचार्य चण्ड का कहना है कि वसुदेव की उपासना पाणिनि के समय से पहले प्रचलित थी। लेकिन यहाँ हम जिस बात को अपने ध्यान में रखना चाहते हैं, वह यह है कि वसुदेव की उपासना, अपने प्रारम्भिकतम रूप में जिस काल में उत्तर में प्रचलित थी उसी काल में दक्षिण में भी उसका अस्तित्व पाया जाता है। यह उपासना वहाँ इतने प्रारम्भ में ही पहुँच गई थी और उसका वहाँ की जनता पर इतना अधिक प्रभाव था तो वसुदेव-उपासना का इतिहास और भी पुराना होना चाहिए और अगस्त्य की अनुश्रुति में, जितना कि हम अनुमान करते हैं, उससे कहीं अधिक ऐतिहासिक होना चाहिए। (एस० के० आयंगर)

एक मत के अनुसार अगस्त्य की अनुश्रुति निरी कल्पना है और दक्षिण भारत के इतिहास तथा साहित्य में जो प्रमाण मिलते हैं, उनके विरोध में पड़ती हैं। देखिए के० एम० शिराज पिल्लाई कृत 'अगस्त्य इन दि तामिल लैंड,' पृष्ठ ६१; विद्वान् लेखक का कहना है कि अगस्त्य की अनुश्रुति ने जो इतनी जड़ पकड़ ली है इसका श्रेय दन्त-कथाओं का प्रचार करने वालों को देना चाहिए, उसकी ऐतिहासिकता को नहीं।

चौदहवाँ परिच्छेद

संस्कृतियों का मिश्रण

दक्षिण भारत के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि समय-समय पर उत्तर भारत से छोटे-छोटे दल प्रयाण करते रहते थे, ऐसा कभी नहीं हुआ कि समूची बस्तियाँ अभियान करने लगी हों। जितने भी प्रमाण मिले हैं, उनसे व्यापक अभियान और आक्रमणों का पता नहीं चलता ; इसी एक बात की पुष्टि होती है कि आर्यों ने शान्ति के साथ, धीरे-धीरे और छोटे दलों में, दक्षिण भारत में प्रवेश किया था।

इस प्रवेश के फलस्वरूप सांस्कृतिक सम्पर्क और मिश्रण होना अनिवार्य था। किन्तु दक्षिण भारत में जो प्राचीन धारणाएँ और प्रथाएँ प्रचलित थीं, जो धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ पहले से चली आ रही थीं, उनमें अनार्य तत्व उसी परिमाण और मात्रा में मिला रहा जिस परिमाण में उसने नवागन्तुओं को प्रभावित किया। संस्कृतियों के अंतर्मिश्रण का क्रम दीर्घकाल तक चलता रहा, किन्तु उसने जीवन के कुछ ही पहलुओं पर प्रभाव डाला और सामाजिक धारणाओं, पारिवारिक संस्थाओं, धार्मिक और वैवाहिक अनुष्ठानों में आमूल परिवर्तन करने में सफल न हो सका।

तामिल देश का विभाजन

ईसा संवत् के प्रारम्भ के लगभग तामिल देश की सीमाएँ उत्तर में तिरुपति (वेंकटम) से कुमारी अन्तरीप तक और बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैली हुई थीं। एक स्वतंत्र भाषा के रूप में मलयालम अभी तक विकसित नहीं हो सकी थी और समूचे प्रदेश में तामिल ही बोली जाती थी। वेंकटम के उत्तर में जो लोग रहते थे वे वदुकर (उत्तरीय) कहलाते थे। एरुमैन्दुर (महिष्मण्डल), तुलुनद, कुदकम, और कोंकनम का भी उस काल में अस्तित्व था। तामिल देश तेरह नाडू अथवा प्रान्तीय प्रदेशों में विभाजित था। इनमें से चार अरब सागर के तटवर्ती प्रदेश में थे—पूली (सैंडी), कुदम (पश्चिम), कुट्टम (झीलों का देश) और वेनद (बाँसों का प्रान्त)। ये सब, और करनाडू (पहाड़ी प्रदेश) मिल कर चेरा राज्य का निर्माण करते थे। चेरा राज्य की

राजधानी पश्चिमी घाटों के पदतल में, पेरियार नदी के मुहाने पर स्थित वांची में थी। इसी नदी के मुहाने पर स्थित मुजीरी नामक एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। कुमारी अन्तरीप स्नानार्थियों के लिए एक पवित्र तीर्थ बन गया था। अनुश्रुति है कि अतीत काल में, यह भू-भाग, दूर-दक्षिण तक विस्तृत था और आज के इस जलमग्न भाग में एक पर्वत और नदी स्थित थे *

पांड्य

पांड्यों के देश में मदुरा के जिले, रामनद और तिन्नेवली सम्मिलित थे। उनके प्रमुख नगर परथावरों (मछियारों) के भू-भाग में स्थित जो मोती निकालने का प्रमुख केन्द्र कोरकाई का दुर्ग और महान् राजनगर मदुरा थे। मदुरा के ध्वंसावशेष आज भी आधुनिक मदुरा के दक्षिण पूर्व में ३ मील की दूरी पर देखे जा सकते हैं।

चोल

पांड्य-देश के उत्तर में वेदुनरों का देश स्थित था : और इसके उत्तर में चोलों का राज्य फैला हुआ था। इनकी प्राचीन राज-धानी राजनगर, कावेरी के मुहाने पर स्थित कावेरी पट्टनम थी। तब तक कावेरी नदी की शाखाएँ नहीं निकली थीं और अपने गम्भीर रूप में बहती हुई वह समुद्र में गिरती थी।

सीमास्थित सरदार

पुलीकाट से तोंदी (रामनद जिला) तक पूर्वी तट चोलों के आधिपत्य में था। इस भाग में कबीलाई सरदारों के छोटे-मोटे भूखण्ड भी सम्मिलित थे। ये सरदार कम व अधिक रूप में चोलों के आधीन थे।† पांड्यों के आधीन पोडिमिल पर्वत के चारों

---

* देखिए कार्लाठोकाई, स्टैंजा १०४, और शिलाप्पाठीकरम (डा० स्वामी नाथ अय्यर द्वारा संपादित) परिच्छेद २०,१७-२२।

† पुनाल नाड्ड (बाढ़ों का प्रान्त) के उत्तर में कावेरी का बेसिन था जो अरुवानाड्ड कहलाता था और इसके उत्तर में अरुवा वदायलाई था। ये दोनों प्रदेश मिलकर मविलंगाई (महान् लंका) की रचना करते थे। कांची इनकी राजधानी थी। एक आवारा कबीले अरुवालर के लोग यहाँ बसते थे। ये

ओर के आय के सरदार और मैदानी भाग के सीमावर्ती प्रदेश में स्थित पेहान के सरदार थे। चेरा-राज्य पांड्य-प्रदेश के उत्तर पश्चिम में स्थित था जो पश्चिमी घाटों के समानान्तर होकर समुद्र तक विस्तृत था। यह पालघाट दर्रे के उस पार तक फैला हुआ था और इसमें सलेम और कोयम्बटूर भी सम्मिलित थे। दक्षिणी मैसूर कई सरदारों के बीच बँटा हुआ था। तामिलकम की सीमाओं पर तुलूदेश के नाग्नव और येंगदम (तिरुपति) के पुल्ली अपना अधिकार स्थापित किए थे। इस सीमा के और उत्तर में वदुकरों (उत्तरीय) का देश था। ईसा संवत् के प्रारम्भिक-रेखा काल में राजनीतिक शक्तियाँ इस प्रकार फैली हुई थीं।

ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव

ईसा संवत् सातवीं शती से पूर्व के तामिल राज्यों के इतिवृत्त का सही विवरण, तथ्यों के अभाव में, देना असम्भव है। यहाँ तक कि उस काल की प्रमुख घटनाओं की जानकारी के लिए भी हमें संघम-काल में रचित कुछ उड़ती हुई पद्य-रचनाओं की शरण लेनी पड़ती है।*

कुरुम्बार भी कहलाते थे। कहा जाता है कि करिकाल चोल ने इन लोगों को सबसे पहले यहाँ बसाया था और उनके इस प्रदेश को कोट्टम—ज़िलों—में विभाजित कर वेल्लाल परिवारों को दे दिया था।

* संघम साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य-विशेष से है जो उन तीन संघों में रचा गया जो पाण्ड्यों की राजधानियों में स्थित थे—इन राजधानियों में सब से अन्तिम मदुरा थी। अनुश्रुति भी इसका समर्थन करती है। साधारणतया यह माना जाता है कि प्रथम दो संघों का जो विवरण मिलता है, वह इस सीमा तक काल्पनिक गाथाओं से पूर्ण है कि उनकी ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस विवरण में जिन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, वे उपलब्ध हुए हैं केवल तोल्कप्पियम को छोड़ कर—जो तामिल व्याकरण का प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। अनुश्रुति के अनुसार यह ग्रंथ दूसरे संघ में रचा गया। इस ग्रंथ के लेखक के चारों ओर अनेक दन्तकथाएँ जमा हो गई हैं। अगस्त्य के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं जिनमें कहा गया है कि उसने इस ग्रंथ से पहले भी एक ग्रंथ की रचना की थी। अगस्त्य का नाम सभी संघों के विवरण में— तत्सम्बन्धी दन्तकथाओं में— मिलता

निश्चित रूप से हम इतना ही कह सकते हैं कि चोल, और पांड्य राज्य भारत के प्रारम्भिकतम राज्यों में से थे जिनका संगठन सभ्य प्रणाली पर किया गया। तामिलकम के तीन 'मुकुटधारी' राजाओं में बहुधा युद्ध चलते रहते थे। इन युद्धों का उद्देश्य एक-दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित करने की आकांक्षा थी। प्रभुत्व की यह स्थिति, ईसा की पहली शती में, चोल राजा करिकाल ने प्राप्त कर ली थी, यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। इन तीनों नरेशों के जीवन का—राज्य का—प्रारम्भ छोटे-छोटे प्रदेशों के आधिपत्य से हुआ और इनके प्रथम शासक सम्भवतः

है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगस्त्य कुल के सदस्य—जो अगस्त्य कहलाते थे, अगस्त्य नाम को जीवित रखे हुए थे। अन्तिम संघ में रचे गए अनेक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—जैसे एत्तुतोगई, पत्तुप्पत्तु, पतिपनेन किल्कानक्कु आदि—आठ संकलन दस पद्य-रचनाएँ तथा अठारह अन्य लघु ग्रंथ। इस सूची में मणिमेकलाई और शिलाप्पधिकरम न मक महाकाव्य भी सम्मिलित हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये संघ बौद्ध संघों के अनुकरण पर स्थापित किए गए थे। इनका उद्देश्य साहित्यिक गति विधि का नियंत्रण करना था—सेन्सर का काम ये संघ करते थे इन सघों के कालानुक्रम के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि तोल्कपियम के रचना-काल में सघ ने एक प्रतिष्ठित संस्था का स्थान प्राप्त कर लिया था। इस ग्रंथ का रचना-काल तिरुवल्लुवर के कुरल—जो ईसा पूर्व दूसरी शती में हुए थे—पहले माना गया है। सम्भवतः सघ का कार्य ईसा पूर्व दूसरी शती में प्रारम्भ हुआ था और कई शतियों तक चलता रहा। सघ का प्रारम्भिकतम उल्लेख दन्तकथाओं से पूर्ण इरैयानर अशप्पोरूल के भाष्य की भूमिका में मिलता है। संघ मे निर्मित जो प्रचुर साहित्य मिलता है, वह सम्भवतः कई पीढ़ियों में—दो से तीन शतियों में—तैयार हुआ होगा। इस साहित्य में उस काल की राजनीतिक स्थिति की जो झांकी मिलती है, उससे तीन परम्परानुगत नरेशों के अतिरिक्त अनेक छोटे सरदारों के अस्तित्व का पता चलता है। बन्दरगाहों और विदेशों के साथ व्यापार का भी उल्लेख मिलता है जिससे पश्चिम के क्लासिकल लेखकों के—ईसा संवत् पहली और दूसरी शती के—दक्षिणी भारत सम्बन्धी वर्णनों की याद आती है। सघम साहित्य में कुछ रचनाएँ एक विशेष प्रकार की शैली की मिलती हैं जिनसे प्रकट होता

कबीलाई सरदार थे। प्रथम चोल सरदार समुद्र-तट के सरदारों में से एक था जिसने उरैयूर पर अधिकार करने के पश्चात् महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।*

प्रारम्भिक चोल साम्राज्य

करिकाल (या कृष्ण-पद जैसा उसे कहा जाता था) उन सब राजाओं में सब से अधिक विख्यात था जिनका उल्लेख प्रारम्भिक तामिल साहित्य में मिलता है।† उसके जीवन के प्रारम्भिक दिन मुसीबतों से भरे हुए थे। वह शक्तिशाली राजा था उसने चेरा तथा पांड्यों को युद्ध में पराजित किया। चोल राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में उसने सफलता प्राप्त की और भीतरी भाग में, त्रिचनापल्ली के निकट, स्थित उरैयूर से हटाकर अपनी राजधानी कावेरी के मुहाने पर स्थित कावेरीपट्टनम में स्थापित की। यह उसी का प्रभाव था जो

है कि वे अलवार और नयनमार के मंत्रों से भी पहले रची गई थीं। इन दोनों में व्यक्त धार्मिक स्थिति की भिन्नता से भी इस बात की पुष्टि होती है। इन सब बातों से इस अनुमान की पुष्टि होती है कि संघम साहित्य का रचना-काल ईसा संवत् की प्रथम दो या तीन शती रहा होगा। (देखिए एस० के० आयंगर कृत बिगिनिंग ऑफ दि साउथ इन्डियन हिस्ट्री, पृष्ठ २६१—३३६. ए० के० आयंगर कृत एन्शेन्ट इन्डिया भी देखिए, वी० आर० आर० की स्टडीज इन तामिल लिटरेचर एन्ड हिस्ट्री, परिच्छेद पहला, और के० वी० एस० अय्यर कृत एन्शेन्ट दकन भी देखिए।

* देखिए शिवराज पिल्लाई कृत दि क्रानोलॉजी ऑफ दि अर्ली तामिल्स पृष्ठ ६४। उनका मत है कि तामिलकम का समूचा प्राचीन राजनीतिक इतिहास युद्ध और विजय का इतिहास है जिसके फलस्वरूप सभी कबीलों पर खेतिहर जाति के लोगों ने विजय प्राप्त कर ली थी और नदियों की घाटियों में सुसम्बद्ध राज्यों की स्थापना हुई थी।

† एक प्रतिद्वन्द्वी राजा ने, उसके पिता के सिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने के बाद, करिकाल के जीवन का अन्त करने का प्रयत्न करना चाहा। अतः उसने एक दिन रात के समय उस घर में आग लगा दी जिसमें बालक करिकाल सो रहा था। जलते हुए घर से भागने के प्रयत्न में वह ठोकर खाकर गिर पड़ा और उसका पाँव बुरी तरह जल गया। इसके बाद अपने एक चचा की सहायता

चोल नाम को तामिलकम में ही नहीं, वरन् बाहर भी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। उसने कावेरी का बाँध बनवाया जिसके कारण उसका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। कावेरी में बहुधा बाढ़ आती रहती थी जिसके फलस्वरूप किसानों की फसलें नष्ट हो जाती थीं। बाढ़ों को रोकने के लिए करिकाल ने कावेरी के तटों को, कई मील तक, ऊँचा उठवा दिया। इससे अकाल का संकट ही नहीं टल गया, वरन् नहरें निकाल कर उसने ऐसी व्यवस्था की जिससे कावेरी का पानी सिंचाई के काम में आने लगा।

प्रारम्भिक तामिल कवियों के अनुसार उसने सिंहल पर आक्रमण किया था और वहाँ से हजारों बन्दियों को लाकर उसने बाँध बनाने में लगा दिया। करिकाल साहित्य का भी प्रेमी था। उसने दीर्घ काल तक शासन किया। उसका, उसके दो पूर्वाधिकारियों और बाद के एक राजा का शासन काल—इन तीनों का सम्मिलित काल दक्षिण में चोल-राज्य के प्रथम उत्थान का काल कहा जा सकता है।

ईसा की प्रथम शती में चोलों के उत्थान का एक प्रमुख कारण कावेरीपट्टनम का बन्दरगाह था। यह व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और इससे बहुत आय होती थी। कहा जाता है कि उसके पुत्र के शासन-काल में भयंकर बाढ़ के कारण यह बन्दरगाह नष्ट हो

से करिकाल ने अपने सिंहासन पर फिर से अधिकार प्राप्त किया। तभी से उसका नाम करिकाल—कृष्णपद अर्थात् काला पाँव—पड़ गया। शिवराज पिल्लाई के मतानुसार करिकाल नाम के दो राजा थे। इनमें से एक कवि परनार के पहले हुआ था और दूसरा बाद में। इन दोनों ने अपनी अलग-अलग विशेषताओं और कार्यों से नाम कमाया। इस नाम का दूसरा राजा 'महान्' कहलाता था। उसी ने चोल वंश की दो शाखाओं की प्रतिद्वन्द्विता का अन्त किया था। उसके शासन के प्रारम्भ में जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ था उसका कारण चोल वंश की दो शाखाओं की प्रतिद्वन्द्विता ही थी। (देखिए पृष्ठ १२८ पर दिया गया नोट. साथ ही पी० टी० श्रीनिवास आयंगर कृत हिस्ट्री ऑफ दि तामिल्स, परिच्छेद २०, भी देखिए जिसमें करिकाल के शासन-काल का विवरण दिया है और साथ ही प्राचीन तामिल साहित्य में जो उसका उल्लेख मिलता है, उस पर भी प्रकाश डाला गया है।

गया। इसके बाद चोलों की शक्ति बढ़ने के बजाय उत्तरोत्तर घटती गई। उनकी प्रतिष्ठा भी कम हो गई और अन्त में चेरा-राज्य ने उन्हें अपदस्थ कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

लाल चेरा और पांड्य

करिकाल के कुछ समय बाद चेरा लोगों ने, अपने दुर्द्धर्ष नेता और योद्धा संगुत्तुवान लाल चेरा के नेतृत्व में, ईसा की दूसरी शती में, एक राज्य की स्थापना की जो उसके बाद अधिक दिनों तक कायम न रह सका। संघम साहित्य में इस राज्य का जो विवरण मिलता है, उससे पता चलता है कि लाल चेरा के पुत्र और उत्तराधिकारी को तलैयालंगनम के युद्ध में परास्त होना पड़ा और पांड्य राजा नेदुनजेलियान-द्वारा वह बन्दी बना लिया गया। इस घटनाकारी युद्ध के फलस्वरूप पांड्यों ने चेरा-शक्ति को अपदस्थ कर दिया और उनके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार पांड्यों का राज्य स्थापित हुआ जो कई पीढ़ियों, दूसरी शती से चौथी शती तक, चलता रहा।

संघम साहित्य में जिन पांड्य राजाओं के नाम मिलते हैं, उनमें से कई तो निरे काल्पनिक प्रतीत होते हैं। नेदुनजेलियान नामक एक राजा का उल्लेख मिलता है जो चेरा-शक्ति पर विजय प्राप्त करने वाले राजा से भिन्न था। वह उस काल में जब शिलाप्पतिथिकरम की घटना घटी थी, मदुरा का राजा था। तलैयालंगनम युद्ध का विजेता एक हिन्दू-ब्राह्मण था। कहा जाता है कि उसने वैदिक बलि-यज्ञ किया था। इस समय तक पल्लवों की शक्ति भी बढ़ गई थी और उन्होंने चोलों के अधिकांश उत्तरी मंडलों पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार पल्लवों ने अपने राज्य की स्थापना कर ली और आगे चल कर वे इतने शक्तिशाली हो गए कि परम्परानुगत तामिल शक्तियों को अंधकार में डाल दिया। ईसा की प्रथम चार शतियों में दक्षिण भारत के इतिहास की प्रगति इस प्रकार होती रही।

[२]

पल्लव और उनका काल

कई वर्ष पूर्व स्वर्गीय डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने पल्लवों के सम्बन्ध

में लिखते हुए कहा था कि भारत के इतिहास में उनका स्थान सब से अधिक रहस्यमय है। तब से, कितने ही देशी तथा विदेशी विद्वानों ने, पल्लवों के इतिहास का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया है और इस सम्बन्ध में विस्तृत खोजें की हैं।*

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि पल्लव पार्थियन स्रोत की विदेशी जाति—कम्बोले—के लोग थे। उत्तर-पश्चिम से अभियान कर वे कांचीवरम तक पहुँच गए थे। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि दक्षिण भारत के पल्लव भी उन्हीं पल्लवों के समान हैं जो सरहद्दी कबीलों की सूची में अपना विशेष स्थान रखते हैं और जिनका उल्लेख विभिन्न काव्यों तथा अभिलेखों में मिलता है। श्री वेंकय्या का कहना है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा पराजित होने के बाद पल्लव दूर दक्षिण की ओर अभियान करने के लिए बाध्य हो गए थे।

पल्लवों के पार्थियन स्रोत की बात को अब कोई नहीं मानता और अब साधारणतया यह माना जाता है कि पल्लव चोल और नागवंश से निकले थे जो प्रारम्भ में सातवाहनों के अधीन थे और बाद में उनके देश के एक भाग पर अपना शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। किन्तु डाक्टर एस० कृष्णास्वामी आयंगर ने इसके विरोध में कहा है कि ईसा की दूसरी और तीसरी शती के संगम साहित्य में पल्लवों का उल्लेख मिलता है जो, उस काल में तोन्दय्यर कहलाते थे और उनका नाग सरदारों से घनिष्ठ सम्बन्ध था जो सातवाहनों के साम्राज्य की सीमाओं के रक्षक थे। इसलिए पल्लवों को दक्षिण भारत का ही निवासी समझना चाहिए। अपने इस मत की पुष्टि में राजशेखर के भुवनकोष नामक एक भौगोलिक ग्रंथ से भी प्रमाण दिया है। राजशेखर ईसा की दसवीं शती के प्रारम्भ में हुआ था। इस ग्रंथ

---

* पल्लवों के स्पष्ट तथा सक्षिप्त विवरण के लिए इस विषय पर लिखी गई सी० एस० श्रीनिवासाचारी की पुस्तिका देखिए। यह पुस्तिका वेसलियन मिशन प्रेस मैसूर से प्रकाशित हुई है। जे० डेब्रुइल लिखित 'पल्लवाज' भी देखिए; एच० हेरास कृत 'दि पल्लवाज जेनियोलाजी एन्ड स्टडीज़ इन पल्लव हिस्ट्री' भी देखिए। डाक्टर एस० के० आयंगर, वी० वेंकय्या और आर० गोपालन ने भी पल्लवों पर विस्तृत लेख लिखे हैं।

में उत्तरी भारत के और दक्षिण में रहने वाले पल्लवों में भेद किया गया है।*

पल्लव और आंध्र साम्राज्य

पल्लवों के उद्‌गम स्रोत के सम्बन्ध में हम निश्चयपूर्वक चाहें कुछ न कह सकें, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इतिहास के पन्नों में वे अपना एक विशेष और विस्तृत स्थान रखते हैं। आँध्रों के पतन के बाद दक्षिण के विस्तृत भागों पर उनका आधिपत्य हो गया था—वरन् कहना चाहिए कि आँध्रों के समूचे साम्राज्य पर उन्होंने अपना अधिकार कर लिया था।

ईसा की तीसरी शती के प्रारम्भ में आँध्रों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और सातवाहनों के कुछ सामन्ती सरदारों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इन सरदारों में एक महासेनापति स्कन्द नाग था जो, अन्य प्रदेशों के अतिरिक्त, तोन्दनमण्डलम का भी अधिकारी बन गया था। इस नाग सरदार की एक कन्या का विवाह पल्लव राजकुमार से हुआ। इस पल्लव राजकुमार का

* एस० के० आयंगर लिखित 'सम कन्ट्राब्यूशन्स आफ दि साउथ इन्डिया टू इन्डियन कल्चर, परिच्छेद सात और आठ देखिए।

तामिल स्टडीज के लेखक स्वर्गीय एस० श्रीनिवास आयंगर का मत है कि पल्लव नाग जाति के थे और तामिल देश के कल्लरों से उनका सम्बन्ध था। इस बात का समर्थन डाक्टर स्मिथ ने भी किया है और अपने इतिहास में—आक्स-फोर्ड हिस्ट्री आफ इन्डिया दूसरा संस्करण, २०५—उन्होंने इसका उल्लेख भी किया है।

प्रारम्भिक तामिल साहित्य में वर्णित अनुश्रुति के अनुसार प्रथम पल्लव शासक एक चोल राजा किल्लिवलवन का नाजायज पुत्र था जो सिंहल द्वीप के निकट मणिपल्लवम की नाग राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था। तोन्दैमण्डलम का वह प्रथम राजा हुआ। तामिल साहित्य में पल्लवों को तोन्दय्यर नाम दिया गया है और पल्लव राजा को तोन्दय्यमन या तोन्दय्यरकोन कहा गया है। पोत्तरय्यर नाम से भी पल्लव राजाओं को सम्बोन्धित किया गया है। यह सम्बोधन तामिल शब्द पोत्तु से बना है जो पल्लवम का संज्ञासूचक है। यह अनुश्रुति पल्लवों के स्रोत को स्पष्ट करती है, यह सन्देहास्पद है। इससे यही प्रकट होता है कि अपने इतिहास की एक अवस्था में उन्होंने काँचीपुरम तथा उसके आस-पास

नाम सम्भवतः वीरकुर्च था जिसने नाग-कन्या के साथ-साथ उनके राज्य-चिन्ह को भी प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार वीरकुर्च पल्लवों का प्रथम राजा हुआ।* पल्लवों के अनेक राजवंश हुए जिनमें से चार का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। इस काल में पल्लव राजाओं की क्रमिकता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। श्री एच० कृष्णा शास्त्री का अनुमान है कि पल्लव उस जाति के लोग थे जो ब्राह्मणों और देशी द्रविड़ कबीलों के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी। अपने इस अनुमान के समर्थन में उन्होंने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है। इस अनुश्रुति के अनुसार इस जाति का संस्थापक अश्वत्थायन नामक एक ब्राह्मण था जिसने एक नाग स्त्री से विवाह किया था। इस विवाह से उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम स्कन्द-शिष्य था (रायकोट ताम्रपत्र)। इसके सिवा तामिल साहित्य में तोन्दन का अर्थ होता है दास। यह अर्थ भी कुछ मानी रखता है जब पल्लवों को, सात-वाहनों के अधीन, स्थानिक गवर्नरों के रूप में हम देखते हैं। पल्लवों ने अपने को स्वतंत्र कर लिया था और उनका प्रदेश तोन्दमण्डल कहलाया—सात-वाहनों के दासों का प्रान्त। किन्तु यह अनुमान और अर्थ कोई विशेष मूल्य नहीं रखता।

* ईसा की तीसरी शती के तीन प्राकृत ताम्र-पत्रों के अनुसार राजाओं के वंशानुक्रम में पहला बप्पादेव था जिसने जंगल को नष्ट कर खेतों में परिवर्तित कर दिया था, जिसने तालों को बनवाकर सिंचाई आदि का प्रबंध किया था। उसके पुत्र का नाम स्कन्द वर्मन था। अपने नाम के पूर्व वह 'शिव' और 'विजय' शब्दों का प्रयोग करता था। काँची उसकी राजधानी थी और वहीं से वह शासन करता था। हीराहडागल्ली ताम्रपत्रों (एपिक इन्डिका, भाग १, पृष्ठ २) के अनुसार और मायिडोवोलु ताम्र-पत्रों (एपिक इन्डिका, भाग ६, पृष्ठ ८४) के अनुसार पल्लवों के राज्य में काँची और उसके चारों ओर का प्रदेश—उत्तर में कृष्णा नदी तक—सम्मिलित था। उनकी शासन-प्रणाली जटिल थी, गवर्नर से लेकर निम्नस्तर तक अनेक पदाधिकारी इस व्यवस्था के आधार थे। उनकी शासन-प्रणाली भी उत्तर से मिलती-जुलती और सुदूर दक्षिण के तामिलों की प्रणाली से भिन्न थी। प्राकृत में वे अपने घोषणापत्रों को प्रकाशित करते थे। उनकी लेखन-शैली के अध्ययन से पता चलता है कि वे समुद्रगुप्त के दक्षिण पर आक्रमण से पहले के हैं—कम-से-कम इतना तो

चौदहवाँ परिच्छेद

कांची में पल्लवों के शासन के इतिहास को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) प्राकृत घोषणा-पत्रों का काल (२) संस्कृत के घोषणा-पत्रों का काल (३) महान् पल्लवों का काल (४) नन्दि वर्मन के पदच्युत होने के बाद का काल। इन कालों में जिन वंशों ने राज्य किया उनके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। प्राकृत और संस्कृत के घोषणा-पत्रों को

निश्चित ही है कि इन घोषणा-पत्रों का काल समुद्रगुप्त के अभियान से पहले ही माना जा सकता है, बाद में नहीं।

पल्लव राजाओं का दूसरा काल—वह काल जिसमें घोषणा-पत्र संस्कृत में जारी किए जाते थे अनिश्चित और अस्थिर भूमि पर आधारित है। दान पत्रों में विभिन्न राजवंशों का उल्लेख मिलता है इन दान-पत्रों को जारी करने वाले राजाओं में से कुछ राजाओं ने इन पत्रों को उत्तरी पेन्नार और कृष्णा के बीच के प्रदेश में स्थित ताम्रप चेन्दलूर, दसनपुर और मेनमतूर से जारी किया था। प्रोफेसर डब्रुइल इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि पलाकड़ु और कांची में एक साथ दो पल्लव वंश राज्य करते थे (देखिए 'पल्लवाज', पृष्ठ २५)। कुछ काल बाद कांची के राज्य पर भी पलाकड़ु के वंश का आधिपत्य हो गया। महान् पल्लवों के पूर्वज सिंह वर्मन और सिंह विष्णु इसी वंश के थे इन राजाओं का वंशवृत्त सिंह विष्णु (लगभग ५६० ईसवी) से शुरू करके, पीछे की ओर चलता है और प्रत्येक पीढ़ी की अवधि २८ वर्ष की रखी गई है। प्राकृत घोषणा पत्रों में वर्णित अन्तिम राजा का पहला उत्तराधिकारी कांची का विष्णु-गोप था। (देखिए प्रोफेसर डब्रुइल की एन्शेन्ट हिस्ट्री आफ दकन, पृष्ठ ५४)

डा० एस० के आयंगर ने इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा है। प्राकृत घोषणा-पत्रों के बाद एक दूसरे वंश का सूत्रपात हो गया था और पल्लवों का राज्य, कम से कम, खंडित होकर तीन भागों में बँट गया था। यह विभाजन सम्भवतः इक्ष्वाकु और पल्लवों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप हुआ था। समुद्रगुप्त द्वारा विष्णुगोप की पराजय के फलस्वरूप कांची में विद्रोह हो गया और सिंहासन पर संस्कृत घोषणा-पत्र जारी करने वाले वंश के संस्थापक ने अधिकार कर लिया। इस वंश का राजा वीरकुर्च था। नाग राजकुमारी के साथ-साथ उसने राज्य पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। पश्चिम के शक्तिशाली नागों ने इस कार्य में उसकी सहायता की थी। या तो उसके, या उसके पुत्र स्कन्दवर्मन के काल में, समूचे प्रदेश पर—उत्तर में वेंगी तक—इस वंश का

जारी करने वाले राजाओं के इतिवृत्त के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। संस्कृत घोषणा-पत्रों के काल को पल्लवों के इतिहास का निर्माण-काल कहा जा सकता है। प्रथम वंश के राजाओं का प्रारम्भ सातवाहनों के शासन के तुरंत बाद—तीसरी शती के प्रारम्भ में—हो गया था। किन्तु कांची से वे बहिष्कृत कर दिए गए। दूसरे वंश का शासन कांची से भिन्न दूसरे स्थानों से आरम्भ हुआ। नेलोर के उत्तर और पेन्नार से जारी किए गए उनके दान-पत्र मिलते हैं। इनमें से एक राजा कुमार विष्णु ने कांची पर फिर से अधिकार प्राप्त कर लिया था जो प्रत्यक्षतः, चोलों के अधिकार में थी।*
इस काल में पल्लव-राज्य में कांची से वेंगी तक का प्रदेश सम्मिलित था, साथ ही उसमें कुरनूल, अनन्तपुर, कुड्डापा और बेलारी के जिले भी सम्मिलित थे। इन प्रारम्भिक अभिलेखों में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें भी मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि पल्लवों की शासन प्रणाली उत्तरीय और दूर दक्षिण के तामिलों से, सम्भवतः, भिन्न थी।

प्रभुत्व स्थापित हो गया था। स्कन्दवर्मन के पुत्रों—सिंहवर्मन, युवमहाराजा विष्णुगोप और कुमार विष्णु ने भी विजय-विस्तार में सफलता प्राप्त की। कुमार विष्णु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने कदम्बों के हाथ से या अपनी ही एक वंश-शाखा के हाथ से कांची को छीन लिया था। कुमार विष्णु के पुत्र बुद्धवर्मन ने दक्षिण में चोल देश पर विजय प्राप्त की। (उसके इतिवृत्त के लिए देखिए सम कन्ट्रीब्यूशन्स ऑफ साउथ इन्डिया टू इन्डियन कल्चर, पृष्ठ १६६)।

फादर हेरास ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि शिवस्कन्दवर्मन और कुमार विष्णु—जिन्होंने कांची पर विजय प्राप्त की थी—भिन्न न होकर एक ही व्यक्ति थे। प्राकृत और संस्कृत के घोषणा-पत्रों के बीच कोई कालान्तर नहीं मिलता। कुमार विष्णु के उत्तराधिकारियों के हाथ से कांची निकल गया और उन्होंने अपने घोषणा-पत्र अन्य स्थानों से जारी किए। चोलों तथा कथित विक्षेप के कारण पल्लवों को अपनी राजधानी छोड़ कर अन्य स्थानों में शरण लेनी पड़ी। (देखिए फादर हेरास कृत पल्लव जेनियोलाजी एन्ड स्टडीज इन पल्लव हिस्ट्री)।

* एपिग्राफिया इन्डिका में संस्कृत और प्राकृत घोषणा पत्रों सम्बन्धी विवरण देखिए। फादर हेरास का कहना है कि प्राकृत और संस्कृत कालों को एक-दूसरे से अलग कर के नहीं देखा जा सकता, क्योंकि इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं मिलता। (देखिए स्टडीज इन पल्लव हिस्ट्री, भाग पहला)

चौदहवाँ परिच्छेद

सिंह विष्णु का वंश

पल्लव इतिहास का सर्वाधिक उज्ज्वल काल तीसरे राज्य-वंश से, सिंह विष्णु (लगभग ५६० ईसवी) जिसका संस्थापक था, आरम्भ हुआ। वह और उसके उत्तराधिकारी महान् पल्लव कहलाए। सिंह विष्णु के ताम्रपत्रों से मालूम होता है कि उसने भी, चोल और पांड्य राजाओं के अतिरिक्त, सिंहल पर विजय प्राप्त की थी। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्र वर्मन प्रथम था। उसने लगभग ६००-३० ईसवी तक राज्य किया। उसके शासन-काल में ही पश्चिमी चालुक्यों के पुलकेशी द्वितीय ने पल्लवों के राज्य के उत्तरी भाग पर आक्रमण कर वेंगी पर अधिकार कर लिया था। किन्तु, इस युद्ध में पराजित होने पर भी, महेन्द्र की प्रतिष्ठा और गौरव में कोई विशेष धक्का नहीं लगा। दालवानूर में चट्टानें काट कर उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था जिससे उसकी ख्याति और नाम बढ़ा। पल्लवरम, मामन्दूर आदि अनेक स्थानों में भी उसने मन्दिर बनवाए। साहित्य का वह प्रेमी था। मत्तविलास प्रहसन की उसने रचना की थी जिसमें कापालिक और पशुपतों जैसे विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक जीवन का वर्णन मिलता है। उसके अभिलेखों में अन्य कई ग्रंथों के नाम मिलते हैं—मत्तविलास, अवनिभाजन शत्रुमल्ल और गुणभार आदि, जिसके प्रारम्भिक भाग में राजा के गुणों और विशेषताओं का प्रशंसात्मक वर्णन मिलता है।* दक्षिण के राजाओं में उसी ने सब से पहले चट्टान काट कर मन्दिरों का निर्माण कराया था। उसके विरुदों में एक चैत्यकारी भी था जो उसकी मन्दिर-निर्माण सम्बन्धी ख्याति का द्योतक है। एक अभिलेख में बताया गया है कि उसने ब्रह्म, ईश्वर और विष्णु का एक मन्दिर, बिना ईंट, लकड़ी और धातु का प्रयोग किए, बनवाया था। निश्चय ही यह मन्दिर चट्टान काट कर बनवाया गया होगा। ईंट और लकड़ी के मन्दिर बनाने की प्रथा पहले से ही मौजूद थी। महेन्द्र ने चट्टानी मन्दिरों की निर्माण-कला को जारी किया। ये मन्दिर गुफाओं के प्रकार के होते थे

---

* मत्तविलास (ट्रावनकोर संस्कृत सीरीज, नं० ५५) पण्डित टी० गणपति शास्त्री द्वारा संपादित।

जिनके अग्रभाग स्तम्भों से सुसज्जित होते थे।* महेन्द्र की उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए डब्रुइल ने कहा है—"उसने पुल्लालूर में चालुक्यों के आक्रमण को रोका था, शैव मत को नया जीवन और स्फूर्ति दी थी; काव्य और संगीत की उसके काल में उन्नति हुई (कुदीमियामलाई के संगीतमय शिलालेख की स्वरलिपि स्वयं उसने तैयार की थी); चट्टान कटे मन्दिरों का कृष्णा के तटवर्ती प्रदेश से लेकर, कावेरी और पालर के प्रदेश में प्रचलन किया और उनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न की; सिंचाई के लिए महेन्द्रवाड़ी, मामनदूर और सम्भवतः दाल वानूर में भी तालों का निर्माण कराया था।†

दक्षिण भारत के धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास में महेन्द्र वर्मन का प्रतिष्ठित स्थान है। पहले वह जैन था, किन्तु बाद में सन्त अप्पर ने उसे शैव मत में दीक्षित कर लिया था। पल्लव देश से जैनों को बाहर निकालने में भी उसने प्रमुख भाग लिया था और नयनमारों के तत्त्वावधान में शैव मत के प्रचार को प्रोत्साहन दिया था। उसके काल में अनेक शैव संत हुए जिनमें अप्पर और मामबन्दर उल्लेखनीय हैं। एक विद्वान् का कहना है कि उसी के काल में वैष्णव अलवार और सन्त तिरुमलिशाई भी हुए थे।‡ महेन्द्रवाडी में उसने चट्टान काट कर, विष्णु के एक मन्दिर का निर्माण कराया था।

नरसिंह वर्मन महान्

महेन्द्र वर्मन के बाद उसका पुत्र नरसिंह वर्मन (लगभग ६३०-६८ ईसवी) गद्दी पर बैठा। वह महान् कहलाया। उसने बार-बार चोलों, केरलों और पांड्यों को युद्ध में पराजित किया। एक बहुत बड़ी सेना का संगठन करके उसने चालुक्यों की भूमि में प्रवेश किया

---

* विस्तृत विवरण के लिए देखिए जे० डब्रुइल कृत 'पल्लव एन्टीक्विटीज और लाँगहर्स्ट-कृत आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट फॉर साउथ इन्डिया (१६१८)

† देखिए 'दि पल्लवाज', १६१७, पृष्ठ ४०।

‡ देखिए श्री निवास आयंगर कृत तामिल स्टडीज, पृष्ठ ३०५-६, जिसमें कहा गया है कि नानमुगान-तिरुवानददाई में उल्लिखित गुणाभार महेन्द्र वर्मन से विशेष रूप से सम्बन्ध रखता है। इसके विरोध में एस० के० आयंगर का मत देखिए—अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साउथ इन्डिया, पृष्ठ ५४।

और उनकी राजधानी वातपी पर, ६४२ ईसवीं में, अधिकार कर उसे जला कर राख कर दिया।* सम्भवतः इसी युद्ध में पुलकेशी द्वितीय मारा गया था। इसमें भी सन्देह नहीं कि नरसिंह वर्मन ने सिंहल द्वीप पर भी दो बार धावा किया था। दूसरे धावे में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। वसाकुडी के ताम्रपत्रों में उसकी इस विजय की राम की लंका-विजय से तुलना की गई है।

नरसिंह वर्मन का मित्र राजा मानवम्म सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। इस पल्लव राजा के पास शक्तिशाली नौसेना थी। मामल्लपुरम में यह नौसेना स्थित थी। इसके शासन-काल में ही चीनी यात्री हुएन्त्सांग कांची आया था। उसने लिखा है कि यहाँ की भूमि उपजाऊ थी, खेती खूब होती थी और यहाँ के निवासी साहसी, विश्वसनीय, जन-सेवा-कार्य में तत्पर और विद्याभिरुचि से सम्पन्न थे।

अपने पिता की तरह नरसिंह वर्मन भी एक महान् निर्माता था। उसने भी अनेक गुफा-मन्दिर बनवाए थे। ये मन्दिर अधिक आलंकारिक और स्तम्भों से सुसज्जित थे। मामल्लपुरम के सौन्दर्य में उसने वृद्धि की। अनेक स्मरणीय चीजों का निर्माण कराया। मामल्लपुरम पल्लवों की सुप्रसिद्ध बन्दरगाह थी—इस बन्दरगाह से जहाज "मूल्यवान वस्तुओं, हाथियों और छोटे-जवाहरातों से इतने लदे रहते थे कि मालूम होता था, अब टूटे-- अब टूटे!"†

---

* वातपि को भस्मसात करने की तिथि इस अर्थ में बहुत महत्वपूर्ण है कि उसकी सहायता से हम सामबन्दर—जो अप्पर और एक दूसरे शैव सन्त सिरुथोन्दर का समकालीन और वातपी पर घेरा डालने वाली पल्लव सेनाओं का सेनापति था—के काल का भी पता लगा सकते हैं। इन दोनों की तिथियों से हमें शैव मत के पुनर्जागरण के काल का भी पता चल जाता है क्योंकि शैव मत के प्रचार में इन्होंने प्रमुख भाग लिया था।

† तिरुमंगई अलवार कृत पेरिया तिरुमलि (कदलमल्लाई मंत्र, ६)—यह स्थान कदलमल्लाई नाम से प्रसिद्ध था और इसका नाम महामल्लपुरम (अपभ्रंश रूप में महाबलिपुरम, मवालिवरम—सप्त पगोडा) नरसिंह वर्मन के बाद—जिसका सरनाम महामल्ल था—पड़ा। यहाँ एक खंड का निर्मित रथ है जिसके ऊपर

नरसिंह के बाद उसका पुत्र महेन्द्र वर्मन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसका शासन अल्पकालिक और घटना-विहीन रहा। उसके शासन-काल में चालुक्य शक्ति शिथिल रही। उसके बाद उसका पुत्र परमेश्वर वर्मन प्रथम उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में चालुक्यों से संघर्ष फिर आरम्भ हो गया। विक्रमादित्य प्रथम के नेतृत्व में चालुक्यों ने दक्षिण में उटगापार (उरैयूर) तक प्रवेश कर लिया था और उन्हें बहिष्कृत करने के लिए सम्पूर्ण तामिल शक्तियों के संगठित प्रयत्न की आवश्यकता थी।

नरसिंह वर्मन द्वितीय

अगला राजा नरसिंह वर्मन द्वितीय हुआ। उसका शासन काल ६६०—७१५ ईसवी था। उसका शासन, शैव मत के पुनर्जागरण के आन्दोलन की दृष्टि से, महत्वपूर्ण था। गुफा-मन्दिरों की निर्माण-कला को भी उसके काल में बहुत प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली। कांची का तटवर्ती मन्दिर भी उसी की देन है। मन्दिरों के निर्माण-कार्य को उसके उत्तराधिकारी परमेश्वर वर्मन द्वितीय ने भी अपने शासन-काल में जारी रक्खा। वह सिंह विष्णु वंश का अन्तिम राजा था।

नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल

परमेश्वर वर्मन द्वितीय की मृत्यु के बाद, उसका कोई पुत्र न होने के कारण, उत्तराधिकार के लिए अच्छा-खासा संघर्ष उठ खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप परमेश्वर वर्मन का भतीजा नन्दि वर्मन गद्दी पर बैठा। वह हिरण्य वर्मन का, जो अपने को सिंह विष्णु के एक भाई के वंश से सम्बद्ध बतलाता था, पुत्र था।

नन्दि वर्मन शक्तिशाली राजा था और उसे कतिपय सरदारों—जिनमें तंजोर का मुत्तरायन भी था—सहायता प्राप्त थी। उसके शासन के ६५ वें वर्ष तक के उसके अभिलेख मिलते हैं। काँची के वैकुण्ठनाथ पेरुमल के मन्दिर की प्रस्तर-मूर्तियाँ भी उसी ने बनवाई थीं।

अंकित अभिलेख में नरसिंह का नाम आता है। नरसिंह ने ही इसे बनवाया था। महाबलिपुरम के विवरण के लिए देखिए आर० सी० टेम्पल, एस० के० आयंगर, और आर० गोपालन कृत 'ए गाइड टू दि सेवन पगोडाज (दि इन्डियन एन्टीक्वेरी) और लौंगहर्स्ट की 'पल्लवाज आर्कीटैक्चर' भी देखिए।

कसाकुदी के ताम्रपत्र भी उसी के जारी किए हुए हैं। इन सब से पता चलता है कि जनता द्वारा चुने जाकर वह राजा बना था। राज्यारोहण के समय सम्भवतः वह बालक था। अपने पिता के प्रभाव से, जो उस काल में पल्लव-राज्य के एक भाग का शासक था, उसने यह राज्यपद प्राप्त किया था।

नन्दि वर्मन के शासन-काल में पल्लव-चालुक्य-संघर्ष ने फिर सिर उभारा। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने तोन्दमंडलम पर आक्रमण किया और काँची पर अपना अधिकार कर लिया। काँची को नष्ट करने के बजाय उसने यहाँ के मन्दिरों को बड़ी-बड़ी भेंट प्रदान कीं।

नन्दि वर्मन ने, ऐसा मालूम होता है, आक्रमकों को बहिष्कृत करने में सफलता प्राप्त की और काँची पर फिर से अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने अन्य कई युद्ध भी किए। तामिल शक्तियों से घातक युद्ध किया। ये शक्तियाँ चित्रमाया नामक एक व्यक्ति के पक्ष में थीं जो अपने को पल्लव सिंहासन का अधिकारी बतलाता था। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने काँची के पल्लव राजा पर विजय प्राप्त की थी। नन्दि वर्मन को मैसूर के गंगों से भी युद्ध करना पड़ा था। वह विष्णु का भक्त था।*

दन्ति वर्मन

नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल के बाद उसका पुत्र दन्ति वर्मन—जो सम्भवतः राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग की कन्या देवी से उत्पन्न हुआ था—गद्दी पर बैठा। दन्ति वर्मन ने दीर्घ काल तक—लगभग ७७५ से ८२६ ईसवी तक—शासन किया। उसके शासन के दूसरे वर्ष से

* उदयेन्दिरम के उसके अभिलेख (शासन के इक्कीसवें वर्ष में अंकित) में उसकी सैनिक सफलताओं का विवरण दिया है। उसके विश्वसनीय सेनापति उदयचन्द्र के साहस का भी इसमें उल्लेख है। कसाकुदी के ताम्रपत्रों में (२२ वें वर्ष में अंकित) और कोरागुदी के ताम्रपत्रों में (६१ वें वर्ष) इस काल के पल्लवों का निजी सांस्कृतिक उपलब्धियों का विवरण मिलता है। तन्दनतोत्तम के ताम्रपत्रों में उसे विष्णु का भक्त बताया गया है। तिरूमगई अल्वार जो उसका समकालीन था, उन्होंने भी उसकी विष्णु-भक्ति का उल्लेख किया है। (देखिए आर० गोपालन कृत ' दि पल्लवाज ' पृष्ठ १२०)।

५१ वें वर्ष तक के उसके अभिलेख मिलते हैं। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय ने, कहा जाता है कि काँची के राजा दन्तिग पर विजय प्राप्त की थी और उससे नज़राना वसूल किया था। राष्ट्रकूटों के इस उत्तरी दबाव के अतिरिक्त दक्षिण की ओर से पांड्यों ने भी आक्रमण किया था—जो अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उनके (पांड्यों के) प्रयत्नों का प्रारम्भ था।*

तेलारु का नन्दि वर्मन

अगला राजा नन्दि हुआ। तेलारू के अतिरिक्त उसने अन्य विजय भी प्राप्त की और पांड्यों के राज्य पर भी उसने आक्रमण किया। उसकी विजयों का उल्लेख तामिल ग्रंथ नन्दिकलाम्बदम् में मिलता है। वेलूरपलायम के ताम्रपत्रों में उसके शासन का गुण-गान है। ८५० ईसवी के लगभग उसका पुत्र नृपतुंग वर्मन—उसकी माँ सम्भवतः राष्ट्रकूट राजकुमारी थी—गद्दी पर बैठा।†

---

* प्रोफेसर जे० डब्रुइल का मत है कि उस काल के पल्लव और पांड्यों के जो अभिलेख मिले हैं, उनसे पता चलता है कि पांड्य नरेश वारागुण महाराज ने पल्लवों के राज्य पर आक्रमण किया था और कावेरी की घाटी पर अधिकार कर लिया था (देखिए उनकी पुस्तक दी पल्लवाज, पृष्ठ ७७ ; और नीलकान्त शास्त्री का पांड्य किंगडम, पृष्ठ ७३ भी देखिए।)

† डाक्टर हुल्टश का मत है कि नृपतुंग नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल का वंशज नहीं था और पल्लवों के वंशानुक्रम की कड़ी में उसका स्थान नहीं है। बाहूर के ताम्रपत्रों में उसके एक पूर्वज का नाम मिलता है जो गंगवंश के किसी सरदार के वंश से सम्बन्ध रखता था। उसने ही एक अलग गंग-पल्लव-वंश की नींव डाली थी। श्री० वी० वेंकय्या ने इस मत का संशोधन करते हुए अपना मत प्रकट किया है कि नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल पल्लव वंश का अन्तिम राजा था और इस वंश की एक शाखा ने, मैसूर के गंगों से अपना सम्बन्ध जताते हुए, नवीं शती के अन्त तक तोन्दमंडलम के काफी भाग पर अधिकार कर लिया था। श्री गोपीनाथ राव का मत है कि पल्लवों का केवल एक ही वंश था और पल्लवमल्ल के वंशधरों और नृपतुंग के पूर्वजों में हमें भेद नहीं करना चाहिए—दोनों को एक ही मानना चाहिए। प्रो डब्रुइल ने भी इसी मत का दृढ़ता के साथ समर्थन करते हुए उसके पक्ष में जो कारण दिए हैं, वे काफी पुष्ट और विश्वसनीय हैं।

पांड्यों के विरुद्ध उसने भी संघर्ष जारी रक्खा, क्योंकि वे अभी तक अपनी आक्रमण-नीति पर आरूढ़ थे। उसने अपने राज्य की सीमा दक्षिण में पुदोकोट्टा तक विस्तरित कर ली थी।

नृपतुंग और अपराजित

उसके बाद कौन-कौन राजा हुए और उनका क्रम क्या था, यह स्पष्ट पता नहीं चलता। अपराजित अन्तिम पल्लव नरेश था। इस काल के अभिलेखों में अनेक पल्लव राजाओं का उल्लेख मिलता है। ये सम्भवतः पल्लव राज्य के विभिन्न भागों पर राज्य करते थे। उसके शासन-काल की दो घटनाएँ प्रमुख हैं। एक तो पांड्यों से युद्ध और कुम्भकोणम के निकट श्रीचुरम्बियम में उसकी विजय। यह विजय इसने पश्चिमी गंग नरेश पृथ्वी पति के गठबंधन से प्राप्त की थी। दूसरी घटना थी अपराजित की चोलों द्वारा पराजय। चोल राजा आदित्य प्रथम—विजयालय का पुत्र—ने अपराजित को पराजित किया और तोन्दमण्डलम पर अपना अधिकार कर लिया। नवीं शती के अन्त में यह घटना घटी थी। अपराजित पल्लव वंश का अन्तिम राजा था। उसके अन्त के साथ-साथ पल्लव-राज्य का भी अन्त हो गया।*

*श्री गोपीनाथ राव का कहना है कि अपराजित नाम असल में नृपतुंग का दूसरा नाम है। किन्तु यह अभी तक अच्छी तरह सिद्ध नहीं हो सका है। यह सम्भव हो सकता है कि अपराजित ने कुछ समय तक नृपतुंग के साथ सह-शासक के रूप में राज्य किया हो। इसके अतिरिक्त पल्लव सरदारों के अन्य वंशों के अस्तित्व का भी अनुमान होता है। सम्भवतः नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में राज्य के आन्तरिक संघर्ष और वाह्य आक्रमणों के कारण अनेक टुकड़े हो गए थे जिन पर स्थानिक सरदारों ने अपना अलग-अलग अधिकार स्थापित कर लिया था। ये सब सरदार अपने को स्वतंत्र और स्वयम्भू मानते थे। मैसूर के उत्तर और उत्तर पूर्वी भाग के नोलम्ब, जैसा हम जानते हैं, अपने को पल्लव कहते थे। नवीं और दसवीं शती में ये उपर्युक्त भाग में राज्य करते थे। ऐतिहासिकों ने भी इन्हें नोलम्ब पल्लव कहा है। सम्भव है, इसी प्रकार से अन्य पल्लव सरदार भी भिन्न भागों पर राज्य करते रहे हों।

पल्लव संस्कृति

पल्लवों की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी थी। किन्तु हाल ही में जो बहुमूल्य संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे और हिन्दू कला तथा स्थापत्य के वैज्ञानिक अध्ययन से हम जान सके हैं कि कितनी सम्पन्न और उज्ज्वल सांस्कृतिक निधि पल्लव अपने पीछे छोड़ गए हैं। पल्लव संस्कृत के बहुत बड़े प्रेमी थे और अपने इतिहास के काफी काल तक तामिल साहित्य को उन्होंने प्रोत्साहित नहीं किया था। उनकी राजधानी काँची संस्कृत के अध्ययन का बहुत बड़ा केन्द्र थी। चौदहवीं शती के मध्य से काँची पल्लवों की शक्ति का प्रतीक बन गई थी। पल्लवों के आदेश-पत्र बहुधा संस्कृत या प्राकृत में जारी होते थे। तामिल भाषा को अपने अभिलेखों में उन्होंने बहुत बाद में स्थान देना आरम्भ किया था। उनके अभिलेखों के प्रशस्ति-भाग में उच्च कोटि की साहित्यिकता मिलती है। काँची ईसा से पूर्व की शतियों में भी संस्कृत के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी। कदम्ब-वंश के संस्थापक मयूर शर्मन को वेदों के अध्ययन को पूर्ण तथा पुष्ट करने के लिए काँची जाना पड़ा था। काँची एक बहुत बड़ा साहित्यिक केन्द्र बन गई थी और सभी धर्मों और मतों के विद्वान् शास्त्रार्थ करने के लिए यहाँ जमा होते थे। हुएन्त्सांग के शब्दों में वहाँ सैंकड़ों संघराम, दस हजार पुरोहित, दस देव-मन्दिर और कितने ही निर्ग्रन्थ थे।

पल्लवों के दरबार में कितने ही प्रसिद्ध ग्रंथकार रहते थे। किरातार्जुनीय के रचयिता भारवि जिसे अब सिंह विष्णु और काव्यादर्श के प्रणेता का समकालीन माना जाता है, राजसिंह के समय में, ईसा की सातवीं शती के अन्त में. हुआ था। महेन्द्र वर्मन प्रथम स्वयं एक अच्छा ग्रंथकार था और मत्तविलास प्रहसन की रचना की थी। यह ग्रंथ त्रिवन्द्रम की संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित हो चुका है। कुदिमीयमलाई पहाड़ी की एक चट्टान पर संगीत पर सम्भवतः उसका ही एक अपने-आप में पूर्ण निबंध अंकित है। कोलोफन के अनुसार इसकी रचना किसी राजा ने की थी जो संगीत के अधिकारी पंडित रुद्राचार्य का शिष्य था। भास की नाटकावलि

भी इसी काल की मानी जाती है और इनमें से कुछ नाटक, दरबार में अभिनय करने के लिए, संक्षिप्त स्वरूप में परिवर्तित कर लिए गए थे। दक्षिण में मुद्राराक्षस की अनेक संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ मिली हैं जिनके अन्त में दन्ति वर्मन के नाम का श्लोकबद्ध उल्लेख है।*

स्थापत्य के क्षेत्र में पल्लवों की देन अमर है। चार भिन्न शैलियों के दर्शन हमें इस क्षेत्र में होते हैं।†

पल्लवों की राजनीति

पल्लव बहुत कुशल और योग्य शासक थे। अभिलेखों से यद्यपि अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती, फिर भी उनके शासन की प्रमुख बातों का हमें पता चल जाता है। उनकी शासन-प्रणाली पेचीदा और धर्म की नींव पर आधारित थी। करों की व्यवस्था काफी भारी थी जिसका अध्ययन हम हीराहदल्ली के ताम्र पत्रों से कर सकते हैं। इन ताम्रपत्रों में प्रान्तों के अधिपतियों, राजकुमारों, सेनापतियों, जिलाधिकारियों, चुंगीघर के अफ़सरों, विभिन्न स्थानों के मुखियों आदि को आदेश दिए गए हैं। इन आदेशों में हमें राज्याधिकारियों की, उनके कर्त्तव्यों की, भूमि और उसके स्वामित्व की, सिंचाई और कर वसूली की, मन्दिरों के विकास और उनके महत्व की झाँकी मिलती है। उनका सम्पूर्ण राज्य मण्डलों, वलानाडु और नाडुओं में विभाजित था। ग्राम उनके शासन की इकाई था और,

---

* देखिए पृष्ठ २५१ और नोट ; ए० आर० सरस्वती कृत 'एज ऑफ भारवि और दण्डिन' भी देखिए (क्वार्टर्ली जर्नल ऑफ माइथिक सोसायटी, भाग १३, पृष्ठ ६७०-८८)

† इन चारों शैलियों में सब से पहली महेन्द्र शैली कहलाती है। इस शैली के गुफा-मन्दिर अपनी सादगी के कारण अलग पहचाने जा सकते हैं। इनमें बाहर की ओर एक आँगन होता था और स्तम्भों से युक्त एक आयताकार कमरा होता था। पल्लवरम त्रिचनापल्ली, मामन्दूर आदि के गुफा-मन्दिर इसी शैली के मन्दिर हैं। दूसरी शैली मामल्ल शैली कहलाती है। इस शैली में तीन प्रकार के मन्दिर पाए जाते हैं—एक तो गुफा-मन्दिर दूसरे एक ही शिला खण्ड से निर्मित, स्वयं-स्थित, मन्दिर (रथ), और चट्टान में बनाई हुई प्रतिमाएँ जैसी

परवर्ती चोलों के समान, ग्राम समिति को काफी अधिकार प्राप्त होते थे। नगरों को भी अपनी समितियाँ होती थीं जो नगरान्तर कहलाती थीं। अनेक प्रकार के कर लगाए जाते थे। राजा अपनी प्रजा से अनेक प्रकार की सेवाएँ ले सकता था, किन्तु ये सेवाएँ व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक महत्व की होती थीं। चोलों की तरह पल्लवों ने भी सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया था। बड़े पैमाने

मामल्लपुरम में मिलती हैं। इस शैली के गुफा-मन्दिर अधिक आलंकारिक हो गए हैं। चट्टानों में उभरी हुई प्रतिमाएँ और दृश्य इस शैली की विशेषताएँ हैं।

इन दो शैलियों के बाद तीसरी का नाम राजसिंह शैली है। यह शैली ६७४ से ८०० ईसवी तक प्रचलित रही। चट्टान-काट कर मन्दिर बनाने की कला का अन्त हो गया था और उसकी जगह पत्थरों के मन्दिर बनने लगे थे। कभी-कभी ऊपर का भाग ईंटों का भी बनाया जाता था। प्रतिमा के ऊपर ऊँचे गुम्बद बनाए जाते थे—कैलाशनाथ स्वामी का मन्दिर जैसा है।

अन्तिम, चौथी, शैली अपराजित शैली (८००—६०० ईसवी) कहलाती है। यह शैली मामल्ल काल की शैली का विकसित रूप कही जा सकता है। राजसिंह और प्रारम्भिक चोलों की शैली के बीच की यह शैली है। तंजोर का राजराजा मन्दिर इस शैली का उदाहरण है (देखिए लाँगहर्स्ट कृत 'पल्लव आर्कीटैक्चर और री कृत ' पल्लव आर्टीटैक्चर)

पल्लवों के उत्थान से पूर्व किलंगुतरम और कवाकुर्दी की प्राचीन गुफाओं के सिवा और कुछ नहीं मिलता। छठी शती के अन्त से समूचे पल्लव राज में गुफा-मन्दिरों के प्रति अभिरुचि जाग्रत हो चलती है। अजन्ता की कुछ गुफाएँ वाकाटकों की देन हैं। विष्णु कुण्डिन, जो वेंगी के प्रदेश पर राज्य करते थे—वाकाटाकों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए हैं और चट्टानें खोद कर गुफाएँ बनाने की कला भी उन्होंने उन्हीं से प्राप्त की थी। कृष्णा के तट की गुफाएँ और बेजवाड़ा, सीतानगरम, उनदावल्ली आदि की गुफाएँ विष्णु कुण्डिनों की ही कृतियाँ हैं। महेन्द्र वर्मन इन स्थानों से परिचित था और उसकी माँ सम्भवतः विष्णु कुण्डिन राजकुमारी थी। प्रोफेसर डब्रुइल के अनुसार, उसने यह कला तेलुगु प्रदेश से प्राप्त की थी। (देखिए पल्लव एन्टीक्विटीज़, भाग १, पृष्ठ २५ ; के० आर० सुब्रह्मण्यम कृत बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आंध्र एन्ड आँध्र हिस्ट्री २२५—६०० ईसवी भी देखिए)

पर उन्होंने सिंचाई की कितनी ही योजनाएँ बनाई थीं और उन्हें अपने काल में कार्यान्वित किया था।*

धार्मिक व्यवस्था

प्रारंभिक पल्लव राजाओं में से कई बौद्ध थे, किन्तु बाद के राजा, अधिकांशतः विष्णु और शिव के पक्के भक्त थे। हुएन्त्सांग के वर्णन से पता चलता है कि उस काल में जैनों की—विशेष कर दिगंबर जैनों की—संख्या काफी थी, यह हम देख ही चुके हैं कि स्वयं महेन्द्र वर्मन पहले जैन था, बाद में सन्त अप्पर द्वारा शैव-धर्म में दीक्षित कर लिया गया था। संक्षेप में हम पल्लवों के काल को धार्मिक उत्थान का काल कह सकते हैं—एक ओर अप्पर और सामबन्दर के समान शैव नयनमार थे और दूसरी ओर वैष्णव अल्वार प्रतिद्वन्द्वी मतों को उखाड़ कर आगे बढ़ने का प्रयत्न कर

---

* ग्राम-व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण इन उद्धरणों में नहीं मिलता, किन्तु ग्राम और नगर-समितियों के सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक शब्द-प्रयोगों का पता अवश्य चल जाता है – जैसे नगरात्तर, अलुगानत्तर, गणाप्पेरुमाक्कल आदि। अलुंगानत्तर सम्भवतः ग्राम की कार्यकारिणी के लिए प्रयुक्त होता था। ग्राम समितियों को सिविल और न्याय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त होते थे। सार्वजनिक दान-कोष उसके पास रहता था और बिक्रीनामे आदि का समर्थन व पुष्टि उसके द्वारा होती थी। परमेश्वर वर्मन के कुरम वाले ताम्रपत्रों से पता चलता है कि परमेश्वरमंगलम नामक ग्राम की व्यवस्था कैसे होती थी। यह ग्राम ब्राह्मणों को दान कर दिया गया था। नन्दनतोत्तम के ताम्रपत्रों में ग्राम वासियों के अनेक वर्गों का उल्लेख मिलता है। इनमें दूकानों, तेल निकालने वालों, बुनकरों, ताड़ी खींचने वालों, ग्वालों और हाट में बिकने वाले सामान पर लगाए जाने वाले करों का भी उल्लेख मिलता है। मन्दिरों और ब्राह्मणों को दान में दी जाने वाली वस्तुएँ कुछ करों से मुक्त होती थीं। सौदागरों और पेशों पर लाइसेंस लगता था।

करिकाल और प्रारम्भिक चोलों के समय में कावेरी के तटों पर बन्द बाँधने का जो कार्य हुआ था, वह पल्लवों के काल में भी चलता रहा। उन परिवारों को, जिनका काम तालों की मरम्मत आदि की देख-भाल करना था, राज्य से सहायता मिलती थी। (देखिए के० वी० एस० अय्यर कृत एन्शेन्ट दक्षिण पृष्ठ ३६८ और वी० वेंकय्या कृत 'दि इरीगेशन ऑफ एन्शेन्ट टाइम्स'।

रहे थे। इन दोनों ने जैन और बौद्ध धर्म के पनपने की गुंजायश नहीं छोड़ी थी। इसी काल में बड़े पैमाने पर मन्दिरों का निर्माण भी आरम्भ हुआ—जैसा हम पहले कह चुके हैं। नयनमारों और अलवारों ने शैव और वैष्णव मत के पुनर्जागरण का जो आन्दोलन चलाया था, उसने मन्दिरों के निर्माण में बहुत प्रेरणा दी थी। मन्दिरों का दिए गए दानों के प्रचुर प्रमाण हमें मिलते हैं। भजनों के गाने का मन्दिरों में विशेष रूप से प्रबंध किया जाता था। प्रायः प्रत्येक मन्दिर के साथ एक निःशुल्क पाठशाला भी होती थी। कुछ के साथ वेदों तथा ऊँचे अध्ययन के लिए विद्यापीठ भी सम्बद्ध होते थे।*

---

* नृपातुंग के बाहुर वाले ताम्रपत्रों में ऐसा ही एक विद्यापीठ को चलाने के लिए तीन ग्रामों के दान का उल्लेख है। तंदनतोत्तम के ताम्रपत्रों में भी अनेक विद्वान् दानियों के नामों का उल्लेख मिलता है जो भट्ट, शदाङ्गवित और वाजपेयी आदि उपाधियों से विभूषित हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

दक्षिण भारत का इतिहास (२)

प्रारंभिक चोल और पांड्य

(१)

चोलों के इतिहास का उसके आदि-काल से पता लगाने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा—यहाँ तक कि हमें यह भी पता नहीं चलता कि चोल शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई। जो प्रारंभिकतम प्रमाण हमें मिले हैं—ऐसे प्रमाण जिन्हें मान्य और विश्वसनीय कहा जा सके—अर्थात् ताम्रपत्र और शिला-लेख आदि, वे ईसा की नवीं शती से और आगे हमें नहीं ले जाते। फिर भी इधर-उधर अभिलेखों और साहित्य में, उनके सम्बन्ध में काफी प्रामाणिक उल्लेख मिल जाते हैं।* इनसे पता चलता है और इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह

---

* हमें चोलों का प्रारंभिकतम उल्लेख महाभारत के सभापर्व और भीष्मपर्व में मिलता है। अशोक के ग्यारहवें और तेरहवें अभिलेख में 'चोद' शब्द का प्रयोग मौर्य साम्राज्य के सीमावर्ती भूखण्ड के लिए हुआ है जिसमें भक्तजन रहते थे। हुएन्त्सांग ने, जो नरसिंहवर्मन पल्लव के काल में दक्षिण भारत गया था, आज के कुड्डापट जिला के निकट स्थित एक छोटे प्रदेश का उल्लेख किया है जिसका नाम चू-लि-ये था। और आगे, दक्षिण की ओर, इस प्रदेश और खास पांड्य-राज्य के बीच के भाग को उसने द्राभिड या द्रामिल कहा है—सम्भवतः यह तामिलकम का संस्कृत रूप था। यह सम्भव हो सकता है कि उस काल में शक्तिशाली पल्लवों के कारण चोल अंधकार में पड़ गए हों - यहाँ तक कि उसके अपने देशज नाम का प्रयोग भी छूट गया हो। लगभग ५७५ ईसवी के ज्योतिष के विद्वान् वाराहमिहिर ने चोल देश का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह देश प्रायःद्वीप का दक्षिणी भाग था। ईसा की सातवीं शती के दो पल्लव अभिलेखों में, जो त्रिचनापल्ली की ऊपरी चट्टानों पर अंकित मिले हैं, कावेरी और चोल देश की समृद्धि का उल्लेख है। इसी काल के पुलकेशी के आइहोल वाले अभिलेख में भी चोल देश और कावेरी का उल्लेख है—' which has the darting carps for her tremulous eyes '.

जाता कि चोलों का अस्तित्व बहुत पुराना है। उनके शासन की क्रमिकता पांड्यों के आक्रमण अथवा पल्लवों की विजयों के कारण भंग हो गई थी।

संगम काल के बाद चोल

प्रारंभिक चोल राजाओं के बीच जो अन्तर मिलता है, उसे पाटना कठिन है।* प्रारंभिक तामिल साहित्य में इन राजाओं का वर्णन मिलता है। विजयालय वंश के काल में इन राजाओं के केवल नाम और उनकी स्मृतियाँ-भर बाकी रह गई थीं। संगम साहित्य में भी करिकाल और उसके उत्तराधिकारियों के बाद चोलों की शक्ति के ह्रास का आभास मिलता है।† ताम्रपत्रों में इन राजाओं के अनुक्रम

---

* प्रारंभिक चोलों के इतिहास की अधिकांश जानकारी हमें तामिल साहित्य से प्राप्त होती है। कवि जोइगय्यर की चालीस छन्दों की पद्य-रचना कलावज्हिनरपदु में कलुमलय के युद्ध का वर्णन हुआ है। यह युद्ध चोल सेंगन्नन और चेरा कनायक-कलि रूमपोदाई के बीच हुआ था जिसमें कनायक पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया था, किन्तु कवि के बीच में पड़ने से फिर छोड़ दिया गया। इसी घटना का उल्लेख बहुत बाद की एक अन्य पद्य-रचना कलिंगात्तुपरानी में भी मिलता है। रुद्रांकन्नानर कृत पत्तिनप्पलाई में केवल करिकाल के चरित्र का वर्णन हुआ है जो प्रारंभिक चोल राजाओं में सब से प्रसिद्ध था। लीडन के दान-पत्र तथा तिरुवलगदु के ताम्र-पत्रों में (बर्गेस कृत आर्केलियाजिकल सर्वे ऑफ साउथ इन्डिया, भाग ४, पृष्ठ २०४-२७; और साउथ इन्डिया इन्स्क्रिप्शन्स, भाग ३, खंड तीन, पृष्ठ ३८८) विजयालय वंशानुवृत्त दिया हुआ है और इस वंश का सम्बन्ध सूर्य और पौराणिक नायकों—जैसे इक्ष्वाकु—से घोषित किया गया है। इन ताम्रपत्रों में एक चोल नायक का भी उल्लेख मिलता है जिसे भरत का पुत्र घोषित किया गया है। ये उल्लेख अस्पष्ट हैं और इन राजाओं के शासन-काल का उल्लेख चोलों के उन अभिलेखों में मुश्किल से ही मिलता है जो अब तक उपलब्ध हो सके हैं। ग्यारहवीं शती के पेरिया पुराणम में सेगन्नन की धार्मिकता तथा पुगाल सोल-नयनार जैसे अन्य चोल सरदारों के धार्मिक कृत्यों का उल्लेख मिलता है।

† किल्लिवलावन ने, जो पेरुनरकिल्ली का बड़ा भाई था, एक राजकुमारी से विवाह किया था और इस विवाह से उसके एक पुत्र हुआ था जो कालानुक्रम

का एक-सा विवरण नहीं मिलता। फलतः उनसे हम कुछ ठीक पता नहीं लगा सकते कि कौन कब हुआ और उनका राज्यानुक्रम क्या था।

पल्लवों के काल में

चोल राज्य के उत्तरी भाग पर पल्लवों ने अधिकार कर लिया था। काँची पर उनका अधिकार पहले से ही, ईसा की तीसरी शती में, कायम था। सिंह विष्णु के काल से, जैसा हम देख चुके हैं, पल्लव-शक्ति का उत्तरोत्तर विस्तार शुरू हुआ और कावेरी के बेसिन तक उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। कुट्टापट्ट और कुरनूल जिला के सातवीं शती के कुछ अभिलेखों में चोल राजाओं का उल्लेख मिलता है। जिन राजाओं के नामों का इन अभिलेखों में उल्लेख हुआ है, वे सम्भवतः पल्लवों के आधीन थे। इनमें और नवीं शती के मध्य में बसे तंजोर के चोलों में क्या सम्बन्ध था, यह पता लगाना कठिन है।* आठवीं शती के मध्य के बाद से, दक्षिण के चालुक्यों को जब राष्ट्रकूटों ने अपदस्थ कर दिया था और पल्लव शक्ति का ह्रास शुरू हो गया था, कुछ समय के लिये पांड्य सब से आगे आ गए थे।

से तोन्दमडलम का राजा हुआ। किल्ली के काल में जो आन्तरिक कलह और सघर्ष हुआ उसका वर्णन शिलप्पाधिकरम में मिलता है। अहानानुरु का कहना है कि उसने मदुरा पर आक्रमण किया था और इस युद्ध में पराजित हुआ था।

* इनमें से एक सुन्दर नन्द के बारे में सिद्ध हो चुका है कि वह वही नन्द चोल था जिसका उल्लेख तामिल ग्रंथ कोईलोलुगु में मिलता है और जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने श्रीरंगम के लिए दान किया था। परवर्ती पल्लवों के शासन में प्रमुख पदों पर नियुक्त चोल सरदारों का भी उल्लेख मिलता है। एक चोल महाराजा का भी इनके साथ-साथ उल्लेख है। इस महाराजा का नाम कुमारांकुश था और उसने नन्दि वर्मन तृतीय के मंत्री के रूप में काम किया था। यह माना जाता है कि चोल शक्ति, अपनी प्रमुख शाखा के रूप में, कावेरी के बेसिन में, बनी रही। उरैयूर उसकी राजधानी थी।

पांड्य

हाल में मदुरा, रामनद और तिनेवल्ली जिलों में उपलब्ध ब्राह्मी अभिलेखों को छोड़ कर, जो अशोक-काल के प्रतीत होते हैं, ईसा की आठ शतियों तक पांड्य देश में अन्य कोई अभिलेख नहीं मिले हैं।*

सुदूर दक्षिण के राज्यों में पांड्यों का राज्य सब से प्राचीन राज्यों में से था। महाकाव्यों में इसका उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज (ईसा पूर्व चौथी शती) निश्चय ही इससे परिचित था। महावंश से पता चलता है कि सिंहल के राजा विजय (लगभग ४८७ ईसा पूर्व) ने एक पांड्य राजकुमारी से विवाह किया था। कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शती) ने अपने भाष्य और अशोक ने अपने अभिलेखों में पांड्य-राज्य का उल्लेख किया है। प्लाइनी और तालेमी जैसे पश्चिमी लेखकों ने मदुरा और उसके व्यापार का उल्लेख किया है। यह भी अब सभी मानते हैं कि रोमन सम्राट् अगस्तस (१४ ईसवी) ने पांड्य राजदूत का स्वागत किया था। इन उल्लेखों से पांड्य राज्य की प्राचीनता असंदिग्ध रूप से प्रकट होती है।

पांड्यों की प्राचीन राजधानी

तामिल साहित्य के अनुसार उनकी प्राचीन राजधानी तिनेवल्ली जिला में ताम्रपर्णि के मुहाने पर स्थित कोरकई में थी। यह बहुत बड़ी मंडी थी और यहाँ काफ़ी व्यापार—विशेष रूप से मोती निकालने का—होता था। मोतियों के व्यापार से पांड्यों की अधिकांश आय होती थी। मोतियों के अतिरिक्त मिर्च और कलिंगम नामक सूती कपड़ों का भी अच्छा व्यापार होता था। ये चीज़ें, स्वर्ण के बदले, यूनान और रोम भेजी जाती थीं। इस प्रकार

---

* इसलिए हमें प्रारंभिक पांड्य-सम्बन्धी अपनी जानकारी के लिए संघम काल तथा उससे बाद के साहित्य पर निर्भर करना पड़ता है। पल्लवों और बाद के चोलों के अभिलेखों से पांड्यों पर जो प्रसंगवश प्रकाश पड़ता है, वह इतना कम है कि उसकी सहायता से उनका क्रमबद्ध विवरण हम नहीं तैयार कर सकते। पाड्यों के इतिहास को पढ़ते समय सामग्री की इस कमी को हमें ध्यान में रखना चाहिए।

मदुरा स्वर्ण का केन्द्र बन गया था। कुछ काल बाद, समुद्र के खिसक जाने के कारण, कारेकई बन्दरगाह का महत्व लुप्त हो गया।

संघम काल के पांड्य राजा

बाद के अभिलेखों और साहित्य में पांड्य राजाओं का इतिवृत्त पाल्यगासलाई नामक राजा से प्रारम्भ होता है। वह सम्भवतः सघम-नरेशों का पूर्वज था।* ये राजा—मत्र रूप में—ईसा संवत् की प्रथम दो शतियों में हुए थे।

तलैयालंगनम के युद्ध में (ईसा की दूसरी शती के अन्त में) विजय के फलस्वरूप तामिलकम का नेतृत्व पांड्यों के हाथ में आ गया था। पल्लवों के उत्थान-काल में पांड्य अंधकार में पड़ गए थे; किन्तु फिर भी, चोलों से भिन्न, अपने देश में वे पर्याप्त स्वतंत्रता का उपभोग करते रहे। ईसा की छठी शती में कालाभ्रों ने मदुरा पर आक्रमण किया और कुछ काल तक उस पर उनका अधिकार बना रहा।† यह काल कालाभ्र-काल कहलाता है, किन्तु इसकी अवधि अधिक नहीं बढ़ सकी। कडुनगोन से एक नये वंश का प्रारंभ हुआ।

सातवीं शती में पांड्यों का पुनरुत्थान

पांड्य शक्ति का उत्थान नेदुमारन के काल से शुरू हुआ कहा जा सकता है। पहले वह जैन था, किन्तु ज्ञान सामबन्दर ने उसे शैव मत में दीक्षित कर लिया था। परम्परानुगत ६३ शैव सन्तों में उसके नाम का भी उल्लेख मिलता है।‡ उसने संभवतः ६५० से ६८०

* संघम-नरेशों में उल्लेखनीय नरेश नेदुनजेलियान प्रथम था—तामिल महाकाव्य शिलप्पाधिकरम में जिसका उल्लेख मिलता है झूठा अभियोग लगा कर कोवलन को मृत्युदण्ड देने की आत्म-ग्लानि में उसके जीवन का अन्त हुआ। तलैयालंगनम युद्ध का विजेता नेदुनजेलिमान द्वितीय—जिसने तामिल शक्तियों के संयुक्त मोर्चे को परास्त किया था—और एक अन्य नरेश जिसके दरबार में अमर कृति कुराल का रचयिता तिरुवल्लुवर फूला-फला था—सघम-नरेशों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

† कालाभ्रों का वर्णन पेरिया पुराणम में मिलता है और उन्हें वादुगुकर्णात कहा गया है।

‡ इसके सम्बन्ध में एक रोचक घटना का वर्णन करना यहाँ अप्रासांगिक न होगा। नेदुमारन, जो कुनपाड्य कहलाता था, पहले जैन था। सुप्रसिद्ध शैव

ईसवी तक—अथवा और कुछ बाद तक—शासन किया था। कदुनगोन उसी का पूर्वज था। पांड्यों के उत्थान-काल का श्रीगणेश उसी से माना जाता है। उसका काल ईसा की छठी शती का अन्त माना जाता है। इसी प्रकार सिंह विष्णु, जो मोटे रूप में, कदुनगोन का समकालीन कहा जा सकता है, महान् पल्लवों की वंश-परम्परा का प्रमुख माना जाता है। कदुनगोन और सिंह विष्णु—दोनों के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने कालभ्रों पर विजय प्राप्त की थी। ये कालाभ्र कौन थे, यह निश्चित रूप से अभी तक नहीं मालूम हो सका है। सम्भवतः ये युद्ध प्रिय जाति के लोग थे जिन्होंने तामिल प्रदेश के राजाओं को अपदस्थ कर दिया था। कुछ काल तक उनका अधिकार पांड्य-भूमि पर भी स्थापित रहा, किन्तु कदुनगोन ने उन्हें निकाल बाहर किया।* कदुनगोन से पूर्व की तीन शतियाँ अंधकारावृत्त हैं और उसके बाद की तीन शतियों में पांड्य शक्ति का उत्थान हुआ। पांड्य राज्य विजयालय और उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में चोल-शक्ति के उत्थान तक कायम

ब्राह्मण सन्त तिरुग्नुनासाम्बन्दर ने उसे शैवमत में दीक्षित किया था। चूँकि राज्य धर्म ही साधारणतया अधिक महत्व प्राप्त कर लेता है, इसलिए पांड्य राज्य में जैन धर्म का काफी ह्रास हुआ। इस पाड्य राजा का काल ६५० से ६८० तक था। (देखिए के० वी० एस अय्यर कृत हिस्टारिकल स्केचेज़ आफ एन्शेन्ट दक्षिण, पृष्ठ १२७)

* वेलिकुड़ी दान-पत्र के अनुसार, जो ७६९-७० में जारी हुआ था और जिसमें इस दान-पत्र को जारी करने वाले पांड्य राजा के पूर्वज राजाओं की लंबी सूची दी हुई है, कहा गया है कि "कालाभ्रन नामक एक कलि राजा ने असंख्य महान् राजाओं को अपदस्थ कर भूमि के विस्तृत भाग पर अधिकार कर लिया था।' कहा जाता है कि कलि शब्द का प्रयोग यहाँ राजाओं के एक वंश के लिए प्रयुक्त हुआ है और कालाभ्र करनाटक स्रोत से निकले थे। कालाभ्र सम्भवत: कालावर से बना है जो कन्नड़ी कालाभाल से लिया गया है। तामिल साहित्य में कालाभ्रों का उल्लेख कालाप्पारों के रूप में हुआ है और इनका सम्बन्ध वेल्लालों से बताया गया है (इन विभिन्न मतों के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए नील-कान्त शास्त्री कृत 'दि पाड्य किंगडम', पृष्ठ ४८-४९ पर नोट)

रहा। इस काल में हम पल्लव-शक्ति के पुनरुत्थान और उसके, पल्लवों के ध्वंस पर, उत्तरोत्तर विस्तार को पूर्ण होता हुआ देखते हैं।

कदुनगोन के उत्तराधिकारी

कदुनगोन और तुरंत उसके बाद दो उत्तराधिकारियों ने पांड्य राज्य की स्थिति को मज़बूत बनाया। फिर मार वर्मन या नेदु वर्मन हुआ जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। दक्षिण पूर्वी तट के पारवों पर उसने विजय प्राप्त की थी। केरल नरेश तथा पल्लव शक्ति से भी उसने लोहा लिया था और कितने ही प्रदेशों को हस्तगत करने में सफलता प्राप्त की थी।*

राजसिंह—लगभग ७४० ईसवी

कोच्चडैयन रणाधिरन उसका पुत्र था। उसने वनवान, सेम्बियान और चोलन आदि अनेक विरुद धारण किए थे जिससे पता चलता है कि समकालीन चेरा और चोल राजाओं पर उसका किसी-न-किसी रूप में प्रभुत्व स्थापित था। कोंगर और कोमन जैसे उसके अन्य विरुदों से आभास मिलता है कि उसने कोंगू और मैसूर देश पर विजय प्राप्त की थी। वेल्विक्कुदी ताम्रपत्रों के अनुसार उसने मराठा नरेश—सम्भवतः चालुक्य—को मंगलपुर (सम्भवतः मंगलोर) में पराजित किया था। उसके बाद राजसिंह (लगभग ७४० ईसवी) गद्दी पर बैठा। चेरा और चोल राजा उसके अधिकार में थे, अपने समकालीन नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल पर उसने विजय प्राप्त की थी और तुलाभार, हिरण्यगर्भ और गोसहस्त्र आदि अनेक अनुष्ठानों को सम्पन्न किया था। कुदाल, वांजी, और कोली के परकोटों को भी उसने फिर से बनवाया था—ये नगर क्रमशः पांड्यों, चेरों और चोलों की राजधानी थे।†

---

* कहा जाता है कि यह राजा वही है, जो इरैयाना अहप्पारुल के भाष्य के पद्यों में नामक के रूप में वर्णित है। देखिए के० वी० एस० आय्यर कृत एन्शेन्ट दक्खिन, पृष्ठ १२३, नीलकान्त शास्त्री कृत पांड्यन किंगडम, ५४-५ भी देखिए।

† वेल्विक्कुदी के दान-पत्र में तामिल राजाओं द्वारा नन्दि वर्मन के मुहासिरे का, जिसे उदय चन्द्र ने भंग किया था, पांड्यों के दृष्टि कोण से लिखा हुआ वर्णन मिलता है। देखिए पृष्ठ ३६।

नेदुनजरैयन परान्तक—लगभग ७७० ईसवी

राजसिंह के बाद उसका उत्तराधिकारी नेदुनजरैयन परान्तक हुआ जिसने अपने शासन के तीसरे वर्ष में वेल्विक्कुदी वाला दान-पत्र जारी किया था। अनामलाई वाला अभिलेख भी संभवतः इसी के साथ-साथ उसने जारी किया था। कदंबरों (पल्लवों) को उसने परास्त किया था। यह युद्ध कावेरी के दक्षिणी तट पर स्थित पेन्नागदम नामक स्थान पर हुआ था। उसने सम्पूर्ण कोंगू प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और वेनद के प्रदेश को (दक्षिणी त्रावनकोर) को रौंद डाला था और विजीनाम की सुदृढ़ किलेबन्दी को नष्ट कर दिया था। कावेरी के बेसिन पर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस प्रकार उसने दीर्घ काल तक शासन का उपभोग किया।*

नेदुनजरैयन के काल के बाद पांड्यों को पल्लवों के हाथ से दक्षिण भारत की सत्ता छीनने का सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। लेकिन आन्तरिक कलह ने उन्हें इस अवसर से लाभ नहीं उठाने दिया। तीन राजा—राजसिंह द्वितीय, वरागुण महाराज और श्रीमार आठवीं शती के अन्तिम चतुर्थांश के बाद पूरी एक शती तक छाए रहे। जो अभिलेख इस काल के मिले हैं, उनसे इन तीन राजाओं में से पहले के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। दूसरे के सम्बन्ध में पता चलता है कि वह महान् शैव भक्त था और पल्लवों के राज्य पर आक्रमण किया था। संत माणिक्कवासागर उसी के काल में हुआ था। तीसरा राजा श्रीमार ८३०—६२ में हुआ था। शिन्नामानूर के ताम्रपत्रों के अनुसार—महावंश से भी जिसकी पुष्टि होती है—उसने सिंहल पर सफलता पूर्वक आक्रमण किया था और केरलों के विरुद्ध तथा गंग, पल्लव तथा अन्य राजाओं के संगठित मोर्चे के विरुद्ध कुदमुक्कू (कुम्भकोणम) के युद्ध में विजय प्राप्त की

---

* वेल्विक्कुदी के दान पत्र का आज्ञापति उसका उत्तर मंत्री मारंगरी या मधुर कवि था जिसने मदुरा के निकट अनमलाई की पहाड़ी पर विष्णु का एक मन्दिर बनवाया था। वह वैद्यकुल से था और सम्भवतः इसी नाम का वैष्णव संत था—वी० वेंकय्या ने यह मत प्रकट किया है। (देखिए टी० ए० गोपीनाथ राव कृत 'श्री वैष्णवाज' पृष्ठ १८-२०)

थी। अपने ही वंश के माया पांड्यन नामक एक व्यक्ति को, जो राज्याधिकारी बन बैठना चाहता था और जिसकी पीठ पर सिंहल का राजा था, उसे निरस्त्र करना पड़ा।

श्रीमार का शासन-काल सफलताओं और विफलताओं—दोनों से पूर्ण था।* जो भी हो, वह इतना शक्तिशाली था कि उसने अपने राज्य को छिन्न-भिन्न नहीं होने दिया और उसके पुत्र वारागुण द्वितीय को राज्य सम्बद्ध रूप में प्राप्त हुआ। वारागुण ने पल्लवों की भूमि पर ही पल्लवों और पश्चिमी गंगों से युद्ध किया। यह युद्ध लगभग ८८० ईसवी में श्रीपुरम्बिमय में हुआ था। किन्तु उसे इस युद्ध में पीछे हटना पड़ा और सिंहलों के आक्रमण ने उसकी मुसीबतों में और भी वृद्धि कर दी। उसके बाद के राजा वीरनारायण ने युद्ध को जारी रक्खा और उसे चोल राजा आदित्य से—पल्लवों को अपदस्थ कर उनका स्थान ले लिया था—लड़ना पड़ा। दसवीं शती के प्रारम्भ के कुछ ही बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा। शिन्नामानूर के दान-पत्र उसी ने जारी किए थे। इन ताम्र-पत्रों से पांड्यों के इतिहास की रूप-रेखा बनाने में बहुत सहायता मिली है। ९०७ और ९१६ ईसवी के बीच चोल राजा परान्तक ने उसे पूर्णतया परास्त कर दिया और उसे भाग कर सिंहल में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार पांड्यों के प्रथम साम्राज्य का, दो शतियों से अधिक काल तक शक्ति का उपभोग करने के बाद, अन्त हो गया।

(२)

तंजोर का विजयालय वंश

श्रीपुरम्बियम में वारागुण की पराजय के बाद से चोल-शक्ति का उत्थान दिखाई देने लगा। विजयालय ने चोल-परम्परा को फिर से

---

* देखिए के० ए० नीलकान्त शास्त्री कृत 'दि पांड्यन किंगडम' पृष्ठ ७५—तंजोर जिला में बहुधा संघर्ष चलता रहता था। पांड्य यहाँ अच्छी तरह जम गए थे और पल्लवों से उनकी मुठभेड़ होती रहती थी। यह असंभव नहीं है कि तेल्लारु में नन्दि वर्मन तृतीय (पल्लव) ने जो सुप्रसिद्ध विजय प्राप्त की वह इसी राजा के—अर्थात् श्रीमार के—विरुद्ध उसकी विजय हो। बाद में श्रीमार

जीवित किया और तंजोर पर, या तो सीधे पल्लवों के हाथ से या सामन्ती मुतरैयनों के हाथ से छीन कर, अधिकार स्थापित कर लिया।

चोल कुशाग्र बुद्धि थे और वारागुण की पराजय द्वारा प्रस्तुत अवसर का उपयोग करने में वे पीछे न रहे। अपने सरदार विजयालय के नेतृत्व में उन्होंने तंजोर पर, जो वास्तव में उन्हीं के पूर्वजों का था, पल्लवों के हाथ से छीन कर अधिकार कर लिया। पल्लव रूपी सर्प को घायल तो राष्ट्रकूटों ने पहले ही कर दिया था। विजयालय के पुत्र आदित्य चोल ने अन्तिम आघात देकर उसका अन्त कर दिया।

विजयालय के काल से ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि अधिक स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होती है—"विजयालय से लेकर राजराजा महान् तक जो चोल राजा हुए उन्हें चोल साम्राज्य का निर्माता कहा जा सकता है।*

आदित्य

इस प्रकार विजयालय को चोल-परम्परा का पुनर्संस्थापक कहा जा सकता है। हमें ठीक पता नहीं चलता कि प्रारंभिक चोलों—करिकाल के वंशजों—से उसका क्या सम्बन्ध था। उसके

ने कुदमुक्कू की विजय से अपनी उस हार की पूर्ति कर ली जो उसे अरिसिल नदी के तट पर नृपातुंगवर्मन के हाथों खानी पड़ी थी।

* तिरुवलंगाडु ताम्र पत्र जो राजेन्द्र चोल के शासन के छठे वर्ष के हैं और जो १६०५ में आविष्कृत हुए (देखिए मद्रास एपिग्राफिस्ट की रिपोर्ट, १६०६, पृष्ठ ६६), इसी काल के लीडन के ताम्र-पत्र और उत्तम चोल देव—राजराजा के चचा—के ताम्र-पत्र जो मद्रास के अजायबघर में हैं, सुन्दर चोल के ताम्र-पत्र जिनका आविष्कार टी० ए० गोपीनाथ राव ने किया था—अब तक प्रकाशित चोलों के ताम्रपत्रों में सब से पहले के माने जाते हैं। इनमें से प्रथम दो में प्रारंभिक चोलों का वंशानुक्रम अंकित है। इनमें भी तिरुवलंगाडु के ताम्र-पत्रों का विवरण अधिक विस्तृत है। विजयालय तक की प्रशस्ति इनमें मिलती है और फिर, विजयालय के बाद से, चोलों का इतिहास क्रमबद्ध मिलता ही है। विजयालय से, चोलों की महान् राज-परम्परा प्रारम्भ होती है, तंजोर जिसकी राजधानी थी।

पुत्र आदित्य ने पल्लवों के अन्तिम राजा अपराजित को परास्त किया था, तोन्दमंडलम पर अधिकार और कोंगू-राज्य पर विजय प्राप्त करने के बाद शक्तिशाली चोल साम्राज्य की उसने नींव डाली थी।* उसने बुद्धिमानी और गंभीरता के साथ शासन किया और अपने से पूर्व पल्लव राजाओं द्वारा जारी किए गए दान-कार्यों को स्वीकार किया और उन्हें पूर्ववत चलने दिया। अगर कोंगू देसराज-काल को बात सच है तो मानना चाहिए कि उसने कोंगू देश पर विजय प्राप्त की थी।

परान्तक

आदित्य के बाद उसका पुत्र परान्तक गद्दी पर बैठा। उसने पराकेसरी वर्मन का विरुद धारण किया था। ईसा संवत् ६०७ से ६४७ तक उसने शासन किया। चेरा राजा से उसकी मित्रता थी। वाणों और वैदुम्बों को उसने अपने अंकुश के नीचे कर लिया था। वाणों के प्रदेश को उसने पश्चिमी गंगों को सौंप दिया था। तीन बार उसने पांड्यों को परास्त किया था और उसका अन्तिम अभियान सिंहल के विरुद्ध हुआ था। उसके सेनापति सेम्बिमान सौलियावरैयन ने शितपुली नामक किसो राजा को परास्त किया था और नेल्लोरे को नष्ट कर दिया था। उसने मदुराईकोन्दन (मदुरा-विजेता), मदुरैयूम श्लामूम कोन्दन (मदुरा और सिंहल का विजेता), और संग्राम-राघव, पण्डित-वत्सल की उपाधियाँ धारण की थीं। तिरुवलंगादु ताम्रपत्रों के अनुसार उसने सोने की धारा सभा का निर्माण किया था—चिदाम्बरम् में,—और इस प्रकार उसने कुबेर को भी मात कर दिया था।

परान्तक और राजराजा के बीच के शासक

परान्तक के कई पुत्र थे जिन में तीन ने एक-दूसरे के बाद शासन किया। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि उसका सब से बड़ा

* चिंगलपुट जिला के तिरूकालुक्कनरम में प्राप्त राजा केसरी वर्मन के शासन के २७ वें वर्ष में अंकित अभिलेख में पल्लवों द्वारा जारी किए गए दान पत्रों की पुष्टि मिलता है। कोंगूदेसराजंकाल नामक ग्रंथ में कहा गया है कि उसने कोंगू देश की विजय किया था। उसके उत्तराधिकारी परान्तक के अभिलेख उस प्रदेश में भी मिले हैं जिसे उसने विजय नहीं किया था।

पुत्र राजादित्य, राष्ट्रकूट राजा कृष्णा तृतीय के हाथों तक्कोलम के युद्ध-क्षेत्र में मारा गया था—इस प्रकार दक्षिणी शक्ति के निरन्तर युद्ध की पल्लव की परम्परा को उसने भी जारी रक्खा।

परान्तक और राजराजा के अभिषेक के बीच के चोल राजाओं का इतिहास अभी तक अच्छी तरह ज्ञात नहीं हो सका है। राजादित्य का युद्ध में ९४९ ईसवी से पहले ही अन्त हो गया था। इस युद्ध के फलस्वरूप तोन्दमण्डलम पर कुछ काल के लिए सम्भवतः राष्ट्रकूटों का अधिकार स्थापित हो गया था। गन्दरादित्य और अरिंजाम—परान्तक के दूसरे और तीसरे पुत्रों—ने भी थोड़े-थोड़े वर्षों तक राज्य किया। फिर अरिंजम का पुत्र सुन्दर चोल गद्दी पर बैठा। वह बहुत ही न्यायप्रिय था और उसके बारे में कहा जाता था कि दूसरे मनु ने (उसके रूप में) जन्म लिया है। पांड्यों और सिंहल से उसने युद्ध किया था।

सुन्दर चोल का बड़ा पुत्र आदित्य करिकाल था। वह उसका उत्तराधिकारी हुआ और उसने ९८० तक शासन किया। आदित्य के छोटे भाई राजराजा गन्दरादित्य के एक पुत्र उत्तम चोल के पक्ष में उसने अपने अधिकार को छोड़ दिया और ९८५ ईसवी, उत्तम चोल की मृत्यु के बाद, वह गद्दी पर बैठा। राजपरिवार में आन्तरिक कलह या फूट से बचाने के लिए उसने ऐसा किया था, क्योंकि उसका विचार था कि यदि फूट ने राज्य में घर कर लिया तो सर्वनाश के सिवा और कुछ हाथ न आएगा।

राजराजा महान्

९८५ में राजराजा महान् सिंहासन पर बैठा। राजमहल के सभी षड्यंत्रों का अन्त कर उसने अपनी महान् विजयों की तैयारी आरंभ कर दी। एक योद्धा-राजनीतिज्ञ के सभी गुण उसमें मौजूद थे। अपने विजयी जीवन के फलस्वरूप उसका एकच्छत्र प्रभुत्व आज की सम्पूर्ण मद्रास प्रेजीडेन्सी और मैसूर तथा सिंहल के अधिकांश भाग पर स्थापित हो गया था।

सब से पहले उसने चेरा-राज्य के विरुद्ध युद्ध किया और उनके समुद्री बेड़े को कन्दलूर में नष्ट कर दिया। पांड्यों को उसने न केवल पराजित किया, वरन् उनके राजा को बन्दी भी बना

लिया। ९९८-९९ से पहले उसने पूर्वी चालुक्यों द्वारा शासित वेंगी पर और गंगों द्वारा शासित मैसूर के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। लगभग इसी काल में उसने अपने विजित प्रदेशों में कोल्लम (त्रावनकोर) और कलिंगम (उड़ीसा) भी सम्मिलित कर लिए। १०१४ ईसवी के लगभग राजराजा ने अपनी कन्या कुन्दवाई का विवाह पूर्वी चालुक्य विमलादित्य के साथ कर दिया। विमलादित्य बराबर उसका अनुगामी बना रहा और उत्तरी शक्ति, कल्याणी के परवर्ती चालुक्यों के—जिन्होंने ९७३ ईसवी में राष्ट्रकूटों के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था—विरुद्ध युद्ध में राजराजा का साथ दिया। चालुक्य नरेश सत्याश्रय को भी राजराजा ने, अपने शासन के २९ वें वर्ष में, निश्चित रूप से पराजित किया। इस युद्ध के फलस्वरूप उसने बारह हजार प्राचीन समुद्री द्वीपों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। यह द्वीप संभवतः लकादीव और मलदीव थे।*

उसकी महानता

राजराजा बहुत बड़ा निर्माता था। तंजोर में राजराजेश्वर का जो शानदार मन्दिर है, वह उसी ने बनवाया था। इस मन्दिर की दीवारों पर उसकी विजयों का वर्णन अंकित है। वह स्वयं शैव मत का अनुयायी था और दूसरे मतों तथा सम्प्रदायों के प्रति वह उदारता के साथ व्यवहार करता था। उसके काल में बौद्धों और जैनों को

* पूर्वी चालुक्यों के ताम्रपत्रों के अनुसार राजराजा ने वेंगी पर पराधिकार के काल का अन्त कर दिया था। इस कार्य को सम्भवतः राजकुमार राजेन्द्र ने ९९९ ईसवी में, वेंगी पर आक्रमण करके, सम्पन्न किया था। इस काल में राजराजा ने कुदमलाई नादू (कुर्ग) पर भी विजय प्राप्त की थी। सिंहल में स्थित पद्वीया में राजराजा के शासन के २७ वें वर्ष का एक तामिल अभिलेख मिला है जिसमें तंजोर मन्दिर की सहायतार्थ दिए गए सिंहल के कुछ गाँवों के दान का उल्लेख है। तामिल सामग्री से यह भी पता चलता है कि रत्तापदी (दक्षिण) के साढ़े सात लक्खी प्रदेश को उसने विजय किया था। सत्याश्रय के होत्तूर वाले अभिलेख में वर्णित है कि चोलों ने समूचे पांड्य प्रदेश को लूटमार कर वहाँ की प्रजा पर भारी क्रूरता प्रदर्शित की थी।

किसी प्रकार के दमन का शिकार नहीं होना पड़ा। हिन्दुओं के समान उन्हें भी सब सुविधाएँ प्राप्त थीं।

सब बातों को देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चोल राजाओं में राजराजा सब से महान् था। शासन के अन्तिम काल में सैनिक अभियानों से छुट्टी पाकर अपना अधिक समय वह शासन-व्यवस्था संबन्धी कार्यों में ही लगाता था। बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण में और विभिन्न प्रकार के दान-आदि के कार्यों में वह विशेष रूप से दत्तचित्त रहता था। कर-प्रणाली की जाँच और बन्दोबस्त को ठीक करने का भी वह यथा संभव प्रयत्न करता था।*

राजेन्द्र गंगईकोंड

राजेन्द्र अपने महान् पिता का सुयोग्य पुत्र था। अपने पिता के बाद वह गद्दी पर बैठा। अपने पिता के अधूरे कार्यों को उसने पूरी लगन और भक्ति के साथ पूरा किया। अपने शासन के छठे वर्ष से पूर्व ही उसने रायचूर दोआब, बनवासी तथा दूसरे प्रदेशों को जीत लिया था। सिंहल और केरल उससे भय खाते थे। पश्चिमी चालुक्यों के राजा को भी उसने पराजित किया था। अपने शासन के बारहवें वर्ष में उसने अपने सेनापति को गंगा के तटवर्ती प्रदेशों पर धावा करने के लिए भेजा और बंगाल के महीपाल को पराजित किया। इस विजय के बाद, वापिस लौटते समय, उस सेनापति ने बिहार को भी जीत लिया।* उत्तर भारतीय प्रदेशों की इस विजय का

---

* दक्षिण के अधिकाश मन्दिरों का निर्माण तंजोर मन्दिर के माडल पर ही हुआ है। इसका निर्माण, अन्त तक, सुस्पष्ट राजसी योजना के अनुसार हुआ था। इस मन्दिर के अभिलेखों से तत्कालीन धार्मिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बहुत ही सुव्यवस्थित और समुचित ढंग से इस मन्दिर की सहायता के लिए दान दिये गए थे और इसकी व्यवस्था के लिए अलग से सिद्धान्त निर्धारित किए गए थे। इन सिद्धान्तों से राजा की व्यवस्था-बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है। साउथ इन्डिया इन्स्क्रिप्शन्स, पाचवाँ खण्ड, भाग दो, की वी० वेंकय्या लिखित भूमिका, पृष्ठ १-४१ देखिए।

* उसके शासन के तीसरे वर्ष का एक अभिलेख—सम्भवतः प्रारम्भिक ६ वर्षों तक उसने अपने पिता के साथ, सहयोगी राजा के रूप में, शासन किया था—वास्तव में उसके पिता की शासन-शृंखला की ही एक कड़ा मालूम होता

वास्तविक उद्देश्य सम्भवतः कलिंग को पूरी तरह परास्त करना था, क्योंकि ऐसा किये विना राजेन्द्र समुद्र पार के प्रदेशों की विजय की अपनी योजना को कार्यान्वित नहीं कर सकता था। इन विजयों ने राजेन्द्र की गंगईकोंड की उपाधि को सार्थक कर दिया था। उसने अपनी एक नयी राजधानी का भी निर्माण किया जिसका नाम उसने गंगईकोंड चोलपुरम रक्खा।

है। अपने शासन के ६ वर्ष के भीतर ही उसने इदैत्तुरायनाड्डु पर (डाक्टर फ्लीट के अनुसार यह रायचूर दोआब का प्रदेश हो सकता है) विजय प्राप्त कर ली थी। बनवासी, कोल्लिप्पकाई, मन्नाइकडाम (सम्भवतः मान्यखेत या मालखेद) आदि को भी उसने इसी काल में जीत लिया था। इनके बाद उसने सिंहल और केरल पर विजय प्राप्त की। उसके शासन के आठवें वर्ष के अभिलेखों में विजित प्रदेशों में सन्दामात्तिवू द्वीप का और दसवें वर्ष के अभिलेख में पश्चिमी चालुक्यों से उसके युद्ध और मुयंगी में राजा जयसिंह की पराजय का उल्लेख मिलता है। बारहवें वर्ष के अभिलेख में वर्णित है कि उसने गंगा तक और बंगाल की खाड़ी के उस पार बर्मा तक को जीत लिया था। तेरहवें वर्ष के एक अभिलेख में (बंगलोर जिला के चेन्नपाटन वाला अभिलेख नं० ८४) उसकी समुद्र-पार की विजयों का वर्णन दिया हुआ है। अपने प्रारंभिक आक्रमणों के फलस्वरूप राजेन्द्र ने दक्षिण और चालुक्यों के सीमावर्ती प्रदेश में अपनी स्थिति को सुरक्षित कर लिया था। उसके बाद, डाक्टर एस० के० आयंगर के कथनानुसार (देखिए जर्नल आफ हिस्ट्री, भाग दो, खण्ड ३, पृष्ठ ३२०-३४६) ओड्डा विशाय, कोशलाई नाड्डु, दक्षिणी राधा (दक्षिणी पश्चिम बंगाल) राणाबुर और दण्डभुक्ति के धर्मपाल (विहार) जो महीपाल के अधीन एक प्रान्तपति था, और बंगाल के पाल राजा को जीता। श्री आर० डी० बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'पाल्स आफ बंगाल' में लिखा है कि पूर्वी बंगाल से राधा के प्रदेश को पार करते समय राजेन्द्र ने महीपाल को परास्त किया था। लेकिन बावजूद इस विजय के महीपाल ने उसे गंगा को पार कर उत्तरी बंगाल में प्रवेश नहीं करने दिया। उस आक्रमण के स्मृति-चिन्ह स्वरूप यहाँ कुछ लोग स्थायी रूप से बस गए और उन्होंने बंगाल तथा मिथिला के राज्य पर अधिकार कर लिया—पाल शासन के अन्तिम दिनों में स्थापित सेन और कर्णाट वंश इसी आक्रमण की देन हैं। डाक्टर एस० के० आयंगर इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि स्वयं राजेन्द्र ने अपने सेनापति को यह आदेश दिया था

समुद्री अभियान

राजेन्द्र के उत्तरी अभियान का उद्देश्य सम्भवतः उड़ीसा को पूर्णरूपेण अपने कब्ज़े में करना था, क्योंकि कलिंग ही एक ऐसा राज्य था जो समुद्री दिग्विजय के क्षेत्र में उसका प्रतिद्वन्द्वी हो सकता था। जिस समय राजेन्द्र की सेना उत्तर में व्यस्त थी, उस समय इसका समुद्री बेड़ा भी क्रियाशील था। राजेन्द्र की जिस कदाराम-विजय का उल्लेख मिलता है, वह वास्तव में सुमात्रा के राजा श्री विजय पर उसका आक्रमण था। श्री विजय उन दिनों बहुत शक्तिशाली राजा था। चोल-अभिलेख से भी कितने ही कदाराम-राजाओं और स्थानों का पता चलता है—जैसे निकोबार महान्, टाकोपा, मलाया आदि। ग्यारहवीं शती के चीनी साहित्य से भी चोलों के उस विजय-विस्तार की पुष्टि होती है।*

राजेन्द्र ने मुदिकोण्डन की उपाधि धारण की थी। यह इस लिए कि उसने पांड्य और सिंहल की राज-मणियों को प्राप्त कर लिया था। अपने शासन के उन्नीसवे वर्ष के पश्चात् उसने युद्ध

कि वह गंगा से आगे न बढ़े। एक अन्य मत के अनुसार (जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च; भाग ७, खण्ड ३ १९३३) राजेन्द्र के इस अभियान का उद्देश्य उत्तरी भारत की दिग्विजय के सिवा और कुछ न था। वह बस्तर राज्य के उस पार गंगा तक के प्रदेश को, मध्य प्रान्त के कुछ भाग, पश्चिमी बंगाल और बिहार को भी जीतना चाहता था। इस विजय के लिए उसने वेंगी राज्य को अपने आक्रमणों का आधार बनाया था।

तिरुवलंगाडु के एक ताम्रपत्र (नम्बर ११६) में अतिशयोक्ति पूर्ण एक प्रशस्ति मिलती है (साउथ इन्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग ३, पृष्ठ ४२५) जिसमें कहा गया है कि शक्तिशाली चोल सेनापति ने गंगा के पानी को अपने स्वामी के द्वार तक पहुँचा दिया था। इस सफलता के कारण उसने गंगईकोंड की उपाधि धारण की और अपनी राजधानी का नाम गंगईकोंड चोलपुरम रखा।

* अरब लेखक अलमसूदी चीनी ग्रंथ 'चाओजुकुआ' में श्री विजय के राज्य की शक्ति का वर्णन मिलता है। मलाया प्रायद्वीप में चोलों के आधिपत्य का कुलोत्तुंग के शासन-काल में अन्त हो गया। एक चीनी ग्रंथ के अनुसार राजेन्द्र ने १०३३ ईसवीं में चीन में अपना राजदूत भेजा था। यह राजदूत, निश्चय ही, समुद्री मार्ग से गया होगा।

क्षेत्र से अपना हाथ खींच लिया और अपनी शासन-व्यवस्था को पूर्ण करने की ओर ध्यान देना आरंभ किया। अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने तथा विद्या और ज्ञान का प्रचार करने के लिए वह प्रयत्नशील हुआ। तंजोर के माडल पर उसने एक बहुत बड़े मन्दिर का निर्माण किया। एक राजमहल और झील बनाने का भी उसने काम आरंभ किया। ये सब या तो नष्ट हो गए हैं या खंडहरों के रूप में उनके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं। यह भी कहा जाता है कि उसने काँची में कुछ ब्राह्मण-परिवारों को बसाया था। उसका अन्तिम अभिलेख १०४२-४३ वें वर्ष का मिलता है। उसने सम्भवतः १०४५ ईसवी तक शासन किया था।

राजाधिराज और चालुक्यों से संघर्ष

राजेन्द्र के बाद राजाधिराज जयगोंड चोल गद्दी पर बैठा। चालुक्यों से संघर्ष करने के कारण वह अधिक प्रसिद्ध हुआ। कोप्पम के युद्ध में (१०५३-५४) वह मारा गया। उसके पश्चात् उसका भाई राजेन्द्र देव १०६२ में गद्दी पर बैठा। राजेन्द्र ने चोल-राज्य की प्रतिष्ठा को स्थापित कर सिंहल पर फिर से विजय प्राप्त की। कोलापुरम में उसका बनवाया हुआ एक विजय-स्तम्भ स्थापित है। उसकी कन्या मदुरान्तकी का विवाह पूर्वी चालुक्यों के राजा राजेन्द्र (राजराजा महान् की कन्या का पौत्र और गंगईकोंड चोल की कन्या का पुत्र) के साथ हुआ था। आगे चल कर वही चोल सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। उसने कुलोत्तुंग का विरुद धारण किया था। उसके बाद राजा महेन्द्र ने अल्प काल तक शासन किया। फिर वीर राजेन्द्र गद्दी पर बैठा। वीर राजेन्द्र के शासन की सब से बड़ी सफलता यह है कि उसने, तुंगभद्रा के तट पर, चालुक्यों से सफलतापूर्वक युद्ध किया था। जैसा हम पहले बता चुके हैं, चालुक्य राजा अहंवमल्ल को कुदल संगम के निकट परास्त होना पड़ा। इस पराजय से उसका हृदय टूट गया था। विजयालय राजवंश का इस प्रकार अन्त हो गया और पूर्वी चालुक्यों का राजा कुलोत्तुंग गद्दी पर बैठा। अपनी माता की ओर से उसने सिंहासन पर अपना अधिकार प्रकट किया जो गंगईकोंड चोल की कन्या थी। उसे अपने कई प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध करना पड़ा, उन्हें युद्ध में पराजित

किया, और अधिराजेन्द्र को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद उसने, जून १०७० में, चोल और पूर्वी चालुक्यों में मित्रता स्थापित की। इस प्रकार वह पूर्वी चालुक्य राजा के रूप में, १०६३ में, गद्दी पर बैठा और शासन करता रहा।

कुलोत्तुंग का शासन

कुलोत्तुंग एक महान् शासक था। सब से पहले उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों में शान्ति स्थापन का कार्य पूरा किया। इसके बाद अपने राज्य की खेती-योग्य भूमि का नये सिरे से, विस्तृत रूप में, बन्दोबस्त किया। कलिंग को वह पूरी तरह से अपने वश में रखना चाहता था और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए दो बार कलिंग पर आक्रमण किया। पहला आक्रमण उसने १०९५-६ में किया। इस आक्रमण का उद्देश्य चालुक्य राजा विक्रमादित्य को, जो वेंगी तक बढ़ आया था, बहिष्कृत करना था। दूसरे आक्रमण (१११२) का नेतृत्व उसके सेनापति करुणाकर तोन्दईमान ने किया। तामिल ग्रंथ कलिंगत्तुंपर्णि में इस आक्रमण का सविस्तर वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ की रचना राजकवि जयगोंडन ने की थी। जयगोंडन सम्भवतः जैन था।* शक्तिशाली होते हुए भी कुलोत्तुंग चोलों के समुद्र पार के प्रदेशों पर अपना अधिकार नहीं बनाए रख सका और १११६ या १११७ ईसवी से पूर्व के प्रदेश उसके हाथ से निकल गए। विष्णु वर्मन के नेतृत्व में मैसूर के होयसाल भी उत्तरोत्तर सशक्त

---

* कलिंग पर पहले आक्रमण का उल्लेख तिरुविदाइमरुदूर के लेख में, जो उसके शासन के २६ वें वर्ष में अंकित हुआ था, मिलता है। दूसरे आक्रमण का उल्लेख उसके शासन के ४२ वें और ४५ वें वर्ष में अंकित अभिलेखों में मिलता है। दक्षिणी कलिंग पर चोलों का आधिपत्य पहले से ही था, जैसा राजराजा के १०८४ के ताम्रपत्रों से पता चलता है। राजराजा, कुलोत्तुंग का सब से बड़ा पुत्र और वेंगी का वाइसराय था। दूसरा आक्रमण अनन्त वर्मन चोद गंग—जो कलिंग का पूर्वी गंग राजा था और जिसने विजगापट्टम के ताम्रपत्रों में अपनी प्रशस्ति में घोषित किया है कि उसने उत्कल के खण्डित प्रभुत्व को और वेंगी के डूबते हुए भाग्य को फिर से ऊपर उठाया—के विरुद्ध किया गया था।

होते जा रहे थे। देखते-देखते वे इतने शक्तिशाली हो गए कि उन्होंने गंगा पाड़ी पर आक्रमण कर तालखंड पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुंग की ११,१८ में मृत्यु हो गई।

साहित्यिक प्रगति

कुलोत्तुंग की ख्याति इस लिए अधिक हुई कि वह एक ऐसा चोल था जिसने सभी बाधाओं और काँटों को उखाड़ फेंका था। अतीत के महान् राजाओं की पंक्ति में वह जा बैठा था। उसके शासन काल में धर्म और साहित्य ने अच्छी प्रगति की। सुप्रसिद्ध वैष्णव सुधारक रामानुज उसके काल में ही हुआ था, यद्यपि उसे कुलोत्तुंग के दमन से बचने के लिए होयसालों की शरण लेनी पड़ी थी।* कलिंगात्तुंपर्णि के रचयिता जयगोंडन का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। संभवतः अदियार कुनालर, शिलप्पधिकरम का भाष्यकार, भी इसी काल में हुआ था। पेरियापुराणम का रचयिता सेक्किलर भी इसी काल की देन था। अपने इस ग्रंथ में उसने शैव संतों की वार्ता लिखी है।

चोलों के ह्रास का प्रारम्भ

कुलोत्तुंग की मृत्यु के साथ चोलों का ह्रास आरंभ हो गया। साम्राज्य के भीतर जो ह्रास के चिन्ह प्रकट होने लगे, उन्हें रोकने में उसके उत्तराधिकारी सफल न हो सके। सीमावर्ती प्रदेश में अनेक प्रतिद्वन्द्वी, अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, उठ खड़े हुए थे। कुलोत्तुंग का उत्तराधिकारी उसका चौथा पुत्र विक्रम—जिसने अकलंक और त्याग-समुद्र की उपाधि धारण की थी—हुआ। अपने पिता के शासन के परवर्ती काल में वह वेंगी का वाइसराय था। उसने अपने पिता की परम्परा का निर्वाह किया। उसके दरबार

* देखिए डाक्टर एस० के० आयंगर कृत एन्शेन्ट इन्डिया, पृष्ठ १५०

† कलिंगात्तुंपर्णि उसे ही समर्पित की गई थी। इसमें करुणाकर तोन्दईमान और विक्रम दोनों की महानता और साहस का वर्णन हुआ है। वह वैष्णव था। उसके शासन-काल में सन्त रामानुज दीर्घ काल तक जलावतनी का जीवन बिताने के बाद तामिल देश में लौट आये थे। महान् कवि काम्बर ने अपनी रामायण में संभवतः इसे ही 'त्यागम विनोदम' कहा है।

की शोभा बढ़ी-चढ़ी थी।* इस वंश का सब से अन्तिम राजा, जिसे उल्लेखनीय कहा जा सकता है, राजराजा तृतीय था। वह लगभग १२१६-४८ में हुआ था। उसके शासन-काल में शक्तिशाली पांड्य राजा मार वर्मन सुन्दर पांड्य प्रथम ने उदैयूर और तंजोर पर आक्रमण कर उन्हें भस्मसात कर दिया था। नेल्लोर का तेलुगु सरदार भी कांची तक बढ़ आया था। चोल इन आक्रमणों को रोकने और उनसे लोहा लेने में समर्थ न हो सके।

गृह-युद्ध और पांड्यों का आक्रमण

विक्रम का पुत्र कुलोत्तुंग द्वितीय फिर सिंहासन पर बैठा। उसने लगभग चौदह वर्ष तक शासन किया। तामिल साहित्य में उसे कुमार कुलोत्तुंग के रूप में संबोधित किया गया है। राजकवि ओत्ताकुथर ने, जो उसका शिक्षक भी था, अपनी कृतियों में उसका गुणगान किया है। राजराजा द्वितीय और राजाधिराज द्वितीय ने ११७८ तक शासन किया। राजाधिराज द्वितीय के शासन-काल में गृह-युद्ध उठ खड़ा हुआ। इस युद्ध में चोल और सिंहल वासी लिप्त थे। पांड्य राजा पर चोलों का आधिपत्य इस युद्ध के कारण बहुत कुछ कमज़ोर पड़ गया। कुलोत्तुंग तृतीय (११७८—१२१६) ने सिंहल-युद्ध में प्रमुख भाग लिया और मदुरा तथा सिंहल के विजेता के रूप में वह प्रसिद्ध हुआ, लेकिन उसे पांड्यों के भारी विरोध का सामना करना पड़ा और केरल के राजा तथा नेल्लोर के सरदार को मार भगाने में, जो उसके राज्य में काफी दूर तक बढ़ आये थे, काफी शक्ति लगानी पड़ी।* मार वर्मन सुन्दर पांड्य को चिदाम्बरम के मन्दिर के भित्ति-लेख में विजेता-नायक कहा गया है। इनके सिवा उसे एक और मुसीबत का सामना करना पड़ा।

---

* नये मन्दिरों के निर्माण और पुराने मन्दिरों को नया रूप देने में उसने बहुत ख्याति प्राप्त की। चिदाम्बरम के मुखमन्तप मन्दिर को उसी ने बनवाया था। कांची के एकम्बेश्वरम और तिरुपवनम के मन्दिर भी उसी ने बनवाये थे। तंजोर ज़िला के शैव मन्दिरों के सम्बन्ध में जो कथाएँ प्रचलित हैं वे भी उसी से सम्बन्ध रखती हैं। पुराने अभिलेखों के विशेषज्ञों का कहना है कि अब्राह्मण शैव मठों को वह हीन दृष्टि से देखता था। उसके शासन-काल में ही जैन लेखक भावनन्दी ने नान्नूल नामक तामिल का व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ लिखा था।

सेन्दमंगलम के विद्रोही सरदार कोप्परुनजिंग ने अनेक बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण कर ली थीं और कहा जाता है कि, कुछ काल के लिए चोल राजा को बन्दी भी बना लिया था। होयसाल नरेश नरसिंह द्वितीय (१२२०-३५ ईसवी) ने हस्तक्षेप किया और चोल राजा को मुक्त करा के, कुछ काल के लिए ही सही, राज्य की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की। नरसिंह का उत्तराधिकारी सोमेश्वर होयसाल हुआ। उसने १२३३ से १२५४ तक शासन किया। उसने भी चोलों के मामले में हस्तक्षेप किया और कन्नानूर में अपनी सत्ता को स्थापित कर लिया। कन्नानूर श्री रंगम के उत्तर में स्थित था। पांड्यों की बढ़ती हुई शक्ति और सेन्दमंगलम के सरदार से गठबंधन को रोकने के लिए ही संभवतः नरसिंह ने कन्नानूर पर अधिकार किया था।

साम्राज्य का ह्रास

चोलों की मुसीबतों का इतने पर ही अन्त नहीं हुआ। सब से बड़ी मुसीबत यह आई कि राजराजा तृतीय और उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र तृतीय के बीच गृह-युद्ध शुरू हो गया। इस गृह-युद्ध में कोप्परुनजिंग जैसे सामन्ती सरदार और पांड्य तथा होयसाल जैसी बाहरी शक्तियाँ—यहाँ तक कि सुदूरस्थित वारंगल के काकातिय भी—सम्मिलित थे। कावेरी के तट पर होयसालों ने स्थायी रूप से अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया; नेल्लोर के सरदारों ने जो तेलुगु चोद कहलाते थे और जो अपने को करिकाल का वंशज बताते थे—काँची पर अपना आक्रमण जारी रखा और उस पर बहुधा अपना अधिकार स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की; शम्भु-वरायण सरदारों ने पालर के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और विरिंचिपुरम तथा काँची को क्रमशः अपनी राजधानी बनाकर शासन करने लगे; राजा गणपति (लगभग १२६१ ईसवी) के नेतृत्व में काकातियों ने और रानी रुद्रम्मा से (१२६०-६१ ईसवी) ने दक्षिण की ओर अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। इनके सिवा पांड्य नरेश मार वर्मन सुन्दर पांड्य प्रथम (१२१६-३८) और उसके पुत्र सुन्दर पांड्य द्वितीय (१२३८-५५) और उसके बाद के राजा जात वर्मन सुन्दर पांड्य (लगभग १२५१-७५)

ने चोल प्रदेश के अधिकांश भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इनमें से अन्तिम, जात वर्मन सुन्दर पांड्य ने, कहा जाता है कि चोलों को अपने आधीन कर लिया और उन्हें नज़राना देने के लिए बाध्य किया ; सेद्मंगलम के सरदार को पदच्युत कर उसने कांची पर अधिकार किया और काकातियों को, कृष्णा के प्रदेश तक से, निकाल बाहर किया। इस प्रकार चोल साम्राज्य, राजेन्द्र तृतीय के शासन से पहले ही, खंडित हो गया और उसके विभिन्न भागों पर पांड्यों तथा अन्य स्थानिक सरदारों ने अधिकार कर लिया।*

पांड्यों का अभ्युत्थान

चोलों के राज्य पर पांड्यों का अधिकार हो गया और उन्होंने इसकी सीमाओं का उत्तरी पेन्नार तक विस्तार कर लिया। पांड्यों के सिवा होयसालों, काकातियों और यादवों ने भी कुछ भागों पर अधिकार कर लिया था। "महान् चोलों ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया था," डाक्टर एस० कृष्णास्वामी आयंगर ने ठीक ही कहा है—"और जिसके निर्माण में उन्होंने इतना अधिक श्रम तथा बुद्धि का प्रयोग किया था, इतनी बुरी तरह से उसका अन्त हो गया। यह एक या दो राजाओं की असावधानी और असमर्थता के कारण हुआ जो साधन-सम्पन्न होते हुए भी, कुछ न कर सके। वे न तो खुद योग्य थे, न दूसरों की योग्यता का ही उपयोग कर सके... ..। जो भी हो, इस राज्य के संस्थापकों के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने अपनी प्रतिभा और शक्ति का योग्यता और बुद्धिमानी के साथ प्रयोग किया—वरन् कहें कि उन्होंने जो कुछ और जितना किया, उससे अधिक नहीं किया जा सकता था।"

चोलों के शासन के अन्तिम दिन चाहे जितने गिरे हुए रहे हों, उनके शासन की व्यवस्था और प्रणाली का अध्ययन इतिहास के विद्यार्थियों के आकर्षण का विषय रहेगा। अपने शासन के अभ्युत्थान काल में चोलों का साम्राज्य ६ प्रान्तों या मंडलों में विभाजित था। प्रत्येक मंडल अनेक कोट्टम या वलानाडुओं में विभाजित था। एक वलानाडु में अनेक ज़िले होते थे। प्रत्येक ज़िला या नाडु अनेक

---

* देखिए एस० के० आयंगर कृत 'साउथ इन्डिया एन्ड हर मुसलमान इन्वेडर्स, पृष्ठ ५०।

कुर्दमों—ग्राम या ग्राम-समूहों—का होता था। ग्राम शासन की इकाई था। चोल साम्राज्य इस तरह के नौ वालानाडुओं में विभाजित था। मूल रूप में इस साम्राज्य के अनेक मंडल स्वतंत्र राज्य थे। चोलों ने उन्हें जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। प्रत्येक मंडल का शासक वाइसराय होता था जो या तो पदच्युत राजघराने का सदस्य या चोल परिवार का ही कोई व्यक्ति होता था।

सार्वजनिक समितियाँ

शासन-व्यवस्था का संचालन निम्न समितियाँ करती थीं:—

(१) नाडू-समिति—नट्टार—यह समिति समूचे जिले से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों और कार्यों की योजना बनाने के लिए बैठती थी। वैसे इस कार्य के लिए गाँवों की भी अपनी समितियाँ होती थीं। उनके न होने पर उनका कार्य भी यही समिति करती थी।

(२) नागरट्टार—इस समिति के सदस्य व्यापारिक मामलों की देख-भाल करते थे।

(३) ग्राम-समिति—उरार—यह गाँव के निवासियों की साधारण सभा होती थी।

(४) ग्राम की एक और सभा या महा सभा होती थी जिसके सभी सदस्य ब्राह्मण होते थे। यह सभा ब्रह्मदेश के ग्रामों की विशेषता थी। ब्रह्मदेश के सभी ग्रामों के नामों के अन्त में चतुर्वेदिमंगलम की उपाधि लगी होती थी। इस श्रेणी के ग्रामों और उनकी शासनव्यवस्था के सम्बन्ध में जितना अधिक विवरण मिलता है, उतना अन्य श्रेणी के ग्रामों के सम्बन्ध में नहीं। इन महासभाओं से सम्बन्धित अनेक अभिलेख मिले हैं। ये अभिलेख आठवीं शती के बाद के हैं। सम्पूर्ण दक्षिण में इस प्रकार की सभाएँ कार्य करती थीं—जिसमें चोल, पांड्य और पल्लव प्रदेशों के अतिरिक्त चेरा, करनाटक और तेलुगु प्रदेश भी सम्मिलित थे।*

---

* ब्रह्मदेश के ग्रामों में जितने आग्रहार (हिस्सेदार) होते थे, उन सब को सभा में स्थान मिलता था। प्रत्येक आग्रहार धर्म शास्त्रों में पारंगत होता था और उससे आशा की जाती थी कि वह गांव में स्थायी दिलचस्पी रखेगा तथा स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क का होगा। सदस्यता के लिए कम से कम किन बातों का होना अनिवार्य है, चुनाव का तरीका क्या होगा और कमेटियों के

ग्राम-सभा

ग्राम-सभा करों की व्यवस्था और उनकी वसूली का प्रबंध करती थी। कर के रूप में प्राप्त रकम किस प्रकार खर्च की जाए, यह भी वही तय करती थी। करों के न देने पर बेदखली आदि का अधिकार भी इस समिति को प्राप्त था और अपने अधिकारों का प्रयोग वह स्वयं कर सकती थी, दूसरी ग्राम समितियों से भी करा सकती थी। ग्राम-समिति के खाते की राज्य के कर्मचारी कई बार जाँच करते थे। इस जाँच के सिवा वे और किसी मामले में हस्तक्षेप नहीं करते थे। ग्राम की व्यवस्था के

निर्माण में किन बातों का ध्यान रखना होगा—इन सब के लिए सुस्पष्ट नियम निर्धारित थे। उत्तरामेरूर के दो अभिलेखों (१८६८ के नम्बर एक और दो) में इन नियमों का उल्लेख मिलता है। साथ ही इनमें यह भी बताया गया है कि किन अवस्थाओं में सदस्यों को उनकी सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। नम्बर एक वाला अभिलेख नम्बर दो की अपेक्षा कम विस्तृत है। इनसे पता चलता है कि ये कमेटियाँ पहले से ही प्रचलित थीं, किन्तु नियमों-आदि की कोई व्यवस्था न होने से वे अव्यवस्था और गड़बड़ का शिकार रहती थीं। राजाओं ने इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कड़े नियमों का आविष्कार किया ताकि चुनाव आदि ढंग से हो सके। सदस्यता के लिए वही खड़ा हो सकता था जिसके पास एक निश्चित कर देने वाली भूमि—एक चौथाई वेली (लगभग दो एकड़)—अवश्य हो। ब्राह्मण मन्त्रों में उसे दक्ष होना चाहिए। पाँच महान् पापों से उसे मुक्त होना चाहिए और उसकी सम्पत्ति ईमानदारी से अर्जित होनी चाहिए। इनके साथ-साथ एक नियम यह भी था कि वही व्यक्ति उम्मीदवारी के लिए खड़ा हो सकता था जो पिछले तीन वर्षों में किसी कमेटी का सदस्य न रहा हो। चुनाव मत लेकर भी किया जाता था और पर्ची डाल कर भी। सभा में चार प्रमुख कमेटियाँ होती थीं—वार्षिक निरीक्षण के लिए, तालों की देख-भाल करने के लिए, उद्यानों और न्याय-कार्य का देख-भाल करने के लिए। अन्य भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य कई कमेटियाँ बनाई जाती थीं। (इन अभिलेखों के सूक्ष्म अध्ययन के लिए देखिए (१) मद्रास एपिग्राफिस्टस रिपोर्ट फार १८६६ (२) डाक्टर एस० के आयंगर कृत 'हिन्दू एडमिनिस्टेटिव इन्स्टिट्यूशन्स इन साउथ इण्डिया लेक्चर पाँच और परिशिष्ट और (३) के० ए० नीलकान्त शास्त्री कृत स्टडीज़ इन चोल हिस्ट्री, पाँचवाँ परिच्छेद।)

व्यावहारिक पक्ष की देख-भाल समिति द्वारा चुनी हुई अनेक कमेटियाँ करती थीं। एक कमेटी साधारण मामलों की देख-भाल करती थी, दूसरी तालों की, तीसरी उद्यानों को और चौथी मन्दिरों के दान-कार्यों को। न्याय सम्बन्धी अधिकार भी समिति को प्राप्त थे। दंड-विधान कड़ा नहीं था। न्याय-कार्य में जुरी-प्रणाली का पूर्ण रूप से चलन था।

चुनाव के नियम

समिति में कितने सदस्य होते थे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ग्राम के आकार और महत्व पर उसकी समिति के सदस्यों की संख्या निर्भर करती थी। विभिन्न कमेटियों के सदस्यों के चुनाव के लिए विस्तृत और सुस्पष्ट नियम निर्धारित थे। सदस्यों का चुनाव प्रति वर्ष होता था और हर बार नये सदस्य चुने जाते थे।* ऐसा कोई भी व्यक्ति फिर से नहीं चुना जाता था जो पिछले तीन

---

* प्रत्येक ग्राम या ग्राम समूह—अर्थात् प्रत्येक इकाई—अनेक हल्कों में विभाजित होती थी और प्रत्येक हल्का अपने यहाँ के उम्मीदवारों की सूची भेजता था कि इतने उम्मीदवार खड़े हो रहे हैं और इतने लिये जाने चाहिएँ। इन उम्मीदवारों के नाम पर्चियों पर लिख कर एक बरतन में डाल दिये जाते थे और जितने चुनने होते थे. उतनी पर्चियाँ निकाल ली जाती थीं। विभिन्न कमेटियों के सदस्यों के लिए यह आवश्यक होता था कि वे व्यापार-कार्य में कुशल हों। आचार-व्यवहार और धार्मिक मामलों में भी उनका दक्ष होना आवश्यक था। जो ईमान्दार नहीं होते थे और बेईमानी से धन बटोरते थे उन्हें नहीं चुना जाता था। मतदाता केवल वेही होते थे जिनके पास कम से कम दो एकड़ के लगभग कर युक्त भूमि होती थी और जिनकी आयु ३५ और ७० के बीच होती थी या जो अपने घर का मकान रखते थे या जो कम से कम एक वेद और एक भाष्य का अध्ययन कर चुके होते थे। निम्न लोगों को मताधिकार से वंचित कर दिया जाता था—(१) जो कमेटी में काम करते समय हिसाब नहीं देते थे (२) जो वज्र मूर्ख होते थे (३) जो दूसरों की सम्पत्ति को हड़प लेते थे और (४) जो पंचमहापापों में से किसी एक के अपराधी होते थे या अपराध करने वाले के सम्बन्धी होते थे।

पर्ची निकालने के नियम भी काफी कड़े थे। इन नियमों के कारण चुनाव में कोई गड़बड़ नहीं हो सकती थी। इसके लिए देखिए साउथ इन्डियन

वर्षों में सदस्य रह चुका हो। खजांची नियमित रूप से चुने जाते थे और उनके खातों की सावधानी के साथ जाँच की जाती थी। सदस्यों से आशा की जाती थी कि वे अपना आचार-व्यवहार ऊँचा रखेंगे और पतन के गर्त में कभी नहीं गिरेंगे।

सभा की कार्य-प्रणाली

सभा के अनेक नाम रखे गए थे—जैसे पेरुमक्काल (बड़े आदमी) और पेरुदाई (परिषद्)। सभा के अधिवेशन साधारणतया मन्दिर में होते थे। महत्वपूर्ण अवसरों पर व्यापारी, जिले के प्रतिनिधि और स्थानिक राज्याधिकारी गण, सभी उपस्थित रहते थे। सभा को निर्णय करने और उन निर्णयों को अमल में लाने के अधिकार होते थे। मन्दिर की ओर से भूमि को खरीदने और बेचने का भी उसे अधिकार होता था। दान कोष के लिए प्राप्त धन को जमा करने का भी इसे अधिकार था और उसके सदस्य ट्रस्टी के रूप में काम करते थे। सभा की विभिन्न कमेटियाँ उद्यानों, तालों, खेती-बाड़ी और सिंचाई आदि के कामों की देख-भाल करती थीं। कर न वसूल होने पर भूमि को कुड़क करने या जब्त करने का इसे अधिकार होता था। स्थानिक न्याय-कार्य की जिम्मेदारी भी उसके हाथ में होती थी। भारी अपराधों को छोड़ कर शेष सब का निर्णय यही करती थी। न्याय कार्य में सर्वमान्य जूरी लोगों से सहायता ली जाती थी।

इस प्रकार यह ग्राम संगठन जनतंत्रीय और स्वायत्त होता था और प्राचीन काल से—आठवीं शती में नन्दि वर्मन पल्लवमल्ल के काल से—प्रचलित था। नन्दि वर्मन के ताम्रपत्रों में ग्राम समिति के नियमित विधान का विवरण मिलता है। इतनी शतियों तक इस संगठन के क्रमिक अस्तित्व का आभास अन्य अभिलेखों और

एपिग्राफिक रिपोर्ट फार १८९८-९९, पृष्ठ १९; और पृष्ठ ३० पर दिया हुआ नोट भी इस सम्बन्ध में देखिए। इस रिपोर्ट में यद्यपि उत्तरामेरुर की सभा का ही विवरण दिया हुआ, लेकिन इससे कार्य-प्रणाली का साधारण परिचय मिल जाता है।

ताम्रपत्रों से भी मिलता है। सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में ये अभिलेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।*

केन्द्रीय शासन

केन्द्रीय शासन की बागडोर स्वयं राजा के हाथों में रहती थी। इस कार्य में राज्याधिकारियों का एक नियमित मण्डल राजा की सहायता करता था। ओलाई नायगन (प्राइवेट सेक्रेटरी) सदा राजा के साथ रहता था और राजा की मौखिक आज्ञाओं को नोट करता रहता था। बाद में इन आज्ञाओं पर हस्ताक्षर करा के प्राइवेट मंत्री उन्हें उपयुक्त राज्याधिकारियों के पास भेज देता था। पाँच व्यक्तियों और दो पदाधिकारियों को ये आज्ञाएँ पहले सुनाई जाती थीं। राजराजा और उसके पुत्र के काल में सभी राज्याज्ञाओं पर प्रमुख मंत्री और एक अन्य उच्च अधिकारी के हस्ताक्षर कराये जाते थे। चोलों के सैकड़ों अभिलेखों में जो अब तक प्रकाश में आ चुके हैं, अनेक ऐसे पदाधिकारियों के नामों का उल्लेख मिलता है, जिनके कर्त्तव्यों का अब पता लगाना सम्भव नहीं है। जो भी हो, इनसे पता चलता है कि चोलों की शासन-व्यवस्था काफी विकसित और सुव्यवस्थित थी।

सैनिक संगठन

जिन चोलों की शासन-व्यवस्था इतनी विकसित थी, अपने सैनिक संघटन पर भी निश्चय ही उन्होंने विशेष ध्यान दिया होगा। उनकी सेना में अनेक विभाग थे—चुने हुए तीरन्दाज़ों की सेना, अंगरक्षक, चुने हुए घोड़सवार, पैदल सेना, हाथियों की सेना आदि। समुद्री बेड़े का भी उन्होंने ध्यान रखा था। उनका समुद्री बेड़ा विकसित और सम्पन्न न होता, तो राजेन्द्र के लिए समुद्री क्षेत्रों को जीतना सम्भव न था।

---

* चालुक्य भीम के मसुलिपट्टम वाले ताम्रपत्रों से तामिल देश में ग्राम-समितियों के अस्तित्व का पता चलता है। वेवलकातीय वाले अभिलेख (महेन्द्र चतुर्थ) में सिंहल की एक ग्राम-समिति का विवरण मिलता है। यह ग्राम समिति अपराधी का पता लगाने, उसे पकड़ने और उस पर मुकदमा चलाने आदि का सब कार्य करती थी।

कर के स्रोत

चोलों की आय का प्रमुख भाग भूमि-कर से आता था। कुल पैदावार का एक छठा भाग, अन्न या स्वर्ण के रूप में, राज्य वसूल करता था। अकाल आदि पड़ने पर कर की छूट के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अन्य कई प्रकार के कर भी वसूल किये जाते थे—जैसे चुंगी, सिंचाई का कर, कोल्हुओं और स्वर्णकारों का कर आदि। इस प्रकार कर से प्राप्त धन का उपयोग शासन-व्यवस्था को चलाने, नहरें निकालने, सड़कें और मन्दिर आदि बनवाने में किया जाता था। धरती के बन्दोबस्त की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। कर-मुक्त भूमि का भी बराबर हिसाब-किताब रखा जाता था और उनकी भी रजिस्ट्री होती थी। भूमि के हस्तान्तर का लेखा-जोखा और कर की रसीदों को सुरक्षित रखा जाता था। विभिन्न अभिलेखों में मन्दिरों को भूमि दान देने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों और हिन्दू तथा जैन संस्थाओं को इस प्रकार के दान बहुधा दिये जाते थे।

सिंचाई की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कावेरी से जो अनेक नहरें निकली हैं, वे चोलों की ही देन हैं। करिकाल ने कावेरी का बांध बनवाया था, यह हम जानते ही हैं। परान्तक प्रथम ने विरासोलन नामक नहर बनवाई थी। दसवीं और ग्यारहवीं शती में मुन्दीकोंडन आदि अनेक नहरें निकाली गई थीं। इस दिशा में चोलों ने पल्लव राजाओं की परम्परा का अच्छी तरह से निर्वाह किया था।

सांस्कृतिक प्रगति

चोलों के काल को तामिल साहित्य के पुनर्जागरण का काल भी कहा जा सकता है। इस काल की साहित्यिक प्रगति का श्रेय बहुत कुछ संस्कृत साहित्य को प्राप्त है। मन्दिरों के भित्तिचित्रों, प्रतिमाओं, पुराणों और इतिहासों के पाठ ने दक्षिण की जनता को उत्तर की लोक संस्कृति और महाकाव्यों से परिचित करा दिया था। चारण और कवि—जिनमें कई काफी बड़े थे जैसे काम्बर—इस काल में हुए। धार्मिकता का भी इस काल में बहुत उदय हुआ। शैव सन्तों और वैष्णव अलवरों की नियमित रूप से पूजा की जाती थी।

मठों ने भी इस काल में प्रमुख स्थान प्राप्त किया। राजा और सरदार मठों को प्रोत्साहन देते थे और प्रचारकों तथा धर्म-गुरुओं को बाहर भेजते थे।

ये मठ और मन्दिर शिक्षा का केन्द्र बन गए थे। दान आदि अनेक शुभ कार्यों का केन्द्र तो ये थे ही। तंजोर के मन्दिर के अभिलेखों से उस काल की धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ग्राम के जीवन का केन्द्र मन्दिर ही होता था। वेद और पुराणों का मन्दिरों में पाठ होता था। निर्धनों को मन्दिरों से सहायता मिलती थी। शिक्षा दीक्षा के लिए भी मन्दिरों की ही शरण लेनी पड़ती थी। बड़े मन्दिरों के साथ उनके अपने अध्ययन-केन्द्र होते थे जिनमें धर्म शास्त्र, तर्क शास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक तथा और विशेष विषयों की शिक्षा दी जाती थी। मन्दिरों के भवनों में संगीत और नाटकों का आयोजन भी किया जाता था। बड़े मन्दिरों में तुलाभार जैसे आयोजनों को सम्पन्न किया जाता था।

[३]

चेरा और मध्य कालीन पांड्य

प्राचीन चेरा जाति आज के मलाबार ज़िला, कोयम्बटूर के कुछ भाग और कोचीन तथा त्रावनकोर की दो भारतीय रियासतों के प्रदेश में बसी हुई थी। चेरा जाति के लोग मूलतः तामिल भाषा-भाषी थे; लेकिन आगे चल कर उन्होंने एक नयी भाषा, मलयालम, का आविष्कार किया और उसी का प्रयोग करने लगे।

कोंची या करूर चेरा-राज्य की राजधानी थी। पेरियार नदी के मुहाने पर स्थित मुचारी (मुज़ीरी) एक उपयोगी बन्दरगाह था जहाँ से यवनों, ग्रीक और रोमनों से, विस्तृत पैमाने पर व्यापार होता था। चेरा जाति के प्रारम्भिक इतिहास का अभी तक पूरी तरह से पता नहीं चल सका है। इस जाति का सब से पहला राजा, जिसके सम्बन्ध में हम कुछ बता सकते हैं, अथान प्रथम था। करिकाल चोल (प्रथम शती) का वह समकालीन था। उसके पुत्र अथान द्वितीय ने करिकाल की कन्या से विवाह किया था। उसने भी सम्पन्न राज्य का उपभोग किया। कवियों का वह बहुत बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। ब्राह्मण कवि जो कपिल, तामिल संघ का सदस्य

था, उसी के काल में हुआ था और उसका राजकवि था। अथान द्वितीय के बाद उसका बड़ा पुत्र गद्दी पर बैठा—सुविख्यात सेगुत्तुंवान उसके शासन-काल में छत्रधारी स्थान प्राप्त कर लिया।

प्रारम्भिक राज्य विस्तार

सेंगुत्तुंवान की सफलताओं और उपलब्धियों का स्पष्ट वर्णन तामिल काव्य शिल्पथिकरम में मिलता है, जिसे राजा के अपने भाई इलांगावद्गिल ने—जिसने भिक्षु बनकर जैन-मठ में प्रवेश कर लिया था—रचा था। अपने भतीजे किल्लिवलातन चोल के सिंहासन पर उसने दृढ़ता के साथ अपने को स्थापित कर लिया था। किल्लिवलावन करिकाल का पौत्र था और अभी निरा बालक था। सेगुत्तुंवान ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। समुद्री युद्ध में उसने कदम्बों पर भी भारी विजय प्राप्त की थी। ये सम्भवतः समुद्री लुटेरे थे और पश्चिमी तट पर अधिकार कर रखा था। कहा जाता है कि दो बार उसकी विजयी सेना ने उत्तरी भारत में—हिमालय तक—धावा किया था। वहाँ उसने अपना धनुष का राज्य-चिन्ह अंकित किया और वहाँ से लाए हुए पत्थर से कन्नकी की प्रतिमा का निर्माण कराया।* इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसा की दूसरी शती में चेरा जाति का तामिलकम पर अच्छा प्रभुत्व था। लेकिन उसके पुत्र और उत्तराधिकारी के काल में चेरा-जाति के इस प्रभुत्व और नेतृत्व का अन्त हो गया। इसके बाद का उनका इतिहास प्रायः कोरा दिखाई देता है। उनके राज्य का कुछ भाग चोल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और पांड्यों के अभ्युत्थान के काल में वे मदुरा के राजाओं के अधीन रह कर जीवन बिताने लगे।

केरल

केरल और चेरा इन दोनों शब्दों ने काफी उलझन पैदा की है। प्राचीन काल में केरल चेरा-राज्य का एक भाग था, लेकिन आठवीं शती के बाद उसका चेरा से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। बारह वैष्णव संतों में एक कुलशेखर था। वह चेरा राजा

* कन्नकी शिल्पथिकरम के नायक कोवलन की पत्नी का नाम था।

था और अपनी राजधानी कोलीनगर से कोंगूनाडु पर राज्य करता था। वह आठवीं शती के पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में हुआ था। तामिल विद्वानों का मत है कि कुलशेखर अलवार ही वह कुलशेखर था जिसने भक्तिकाव्य मुकुन्दमाला की रचना की थी। केरल प्रदेश को परशुराम ने समुद्र के गर्भ से निकाल था और एक मलायालम ग्रंथ केरलपट्टी के अनुसार ब्राह्मण-वंश का शासन उस पर स्थापित था। पेरुमल नामक राजवंश ने उस पर शासन किया। कई शतियों तक इनका राज्य चला। इस वंश का अन्तिम राजा चेरामन पेरुमल था, जिसके सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा प्रचलित है कि वह मुसलमान हो गया था और मक्का से लौटते समय अरब में उसकी मृत्यु हुई।*

चेरामन पेरुमल वंश का नवीं शती में अन्त हो गया। चेरामन के पश्चात् कुलशेखर पेरुमल, जो केरल के दक्षिणी भाग में शासन कर रहा था, प्रकाश में आया और उसने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। त्रावनकोर के वर्तमान राज्य वंश के वे पूर्वज कहे जाते हैं। मालाबार के तट पर बहुत पहले से ही ईसाई और यहूदी शरणार्थी आकर बस गए थे। ८२४ ईसवी में कोल्लम नामक संवत् प्रचलित हुआ। कहा जाता है कि यह संवत् मालाबार के पेरुमलों के प्रभुत्व से मुक्त होने की स्मृति में शुरू किया गया था—या फिर यह संवत् श्री शंकराचार्य की धार्मिक क्रान्ति की देन था। अरब के मुसलमानों ने नवीं शती से मालाबार में आकर बसना शुरू कर दिया था। मालाबार के मुसलमानों के उद्गम और विकास का सही वर्णन हमें 'तुहफुतुलमुवाहेदीन' में मिलता है। इस ऐतिहासिक ग्रंथ का रचयिता शेख जैनुद्दीन—मालाबार का एक मुसलमान था। वह बीजापुर के सुलतान आदिलशाह के दरबार में रहता था।

---

* श्री के० पी० पद्मनाभि मेनन का मत है कि यह भ्रान्त धारणा पेरुमलों में से एक राजा बाण के बौद्ध धर्म ग्रहण करने तथा काफी बाद में कालीकट के एक ज़मोरिन राजा के मुसलमान बन जाने से वास्तव में सम्बन्ध रखती है। यह ज़मोरिन राजा अपने को अन्तिम पेरुमल का उत्तराधिकारी बताता था।

रविवर्मन कुलशेखर

लगभग १३१० में मदुरा पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के बाद केरल शक्ति ने फिर महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। पांड्यों की संकटासन्न स्थिति से लाभ उठा कर केरल नरेश रविवर्मन कुलशेखर ने, (दक्षिण भोज राजा उसको उपाधि थी) काँची तक समूचे प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। लेकिन कुलशेखर अपने विजयी जीवन को स्थायी न बना सका—जितनी द्रुत गति से वह प्रकाश में आया, उतनी ही तेजी से विलीन भी हो गया।

पांड्यों पर चोलों की विजय

यह हम पहले देख चुके हैं कि विजयालय और आदित्य के नेतृत्व में चोलों ने काफी शक्ति और साहस का परिचय दिया था और एक ऐसे राज्य की नींव डालने में उन्होंने सफलता प्राप्त की थी जिसमें पल्लवों का ही नहीं, पांड्यों का प्रदेश भी सम्मिलित था। ९९५ ईसवी के लगभग राजराजा ने पांड्य प्रदेश को पूरी तरह से जीत लिया था।

पांड्यों का पुनरुत्थान

९९५ से १२१६ ईसवी तक पांड्य राज्य चोल साम्राज्य का ही एक अंग बन कर रह गया था। गंगइकोंड से लेकर कुलोत्तुंग तक प्रायः प्रत्येक चोल राजा ने अपने को पांड्य प्रदेश का विजेता घोषित किया है। किन्तु कुलोत्तुंग के काल मे चोलों का तेज कुछ मन्द पड़ गया और उनके राज्य के भागों पर, अधिकाधिक रूप में, उन प्राचीन राजाओं का अधिकार होता गया जिनसे इन भागों को जीता गया था। इनमें एक परान्तक पांड्य था जो लगभग १०८०—११३२ में हुआ था। कहा जाता है कि उसने चेरा राजा को परास्त कर चोलों को दक्षिणी कलिंग को जीतने में सहायता दी थी। मारवर्मन पांड्य (लगभग ११६०) ने केरल नरेश को अपना करद बना लिया था। उसके शासन के पश्चात् उत्तराधिकार को लेकर गृह-युद्ध उठ खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप पांड्य राज्य पर सेनापति लंकापुर दण्डनाथ के नेतृत्व में सिंहलियों ने आक्रमण कर दिया। कुलोत्तुंग तृतीय के काल में चोलों के बीच में पड़ने से युद्ध फिर से छिड़ गया और स्थिति ने और भी जटिल रूप धारण कर लिया। अपने साथी

विक्रम पांड्य की स्थिति को संभालने में चोलों ने सफलता प्राप्त की, किन्तु मदुरा राज्य के मामलों में सफलता के साथ हस्तक्षेप करने का यह उनका अन्तिम प्रयत्न सिद्ध हुआ (लगभग ११९० ईसवी)।

दूसरा पांड्य साम्राज्य

इसके पश्चात्, जातवर्मन कुलशेखर के नेतृत्व में, पांड्य शक्ति ने तेजी के साथ अपनी प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त किया। जातवर्मन ने १२१६ ईसवी तक शासन किया। तेरहवीं शती के अन्त तक पांड्यों की शक्ति महान् बनी रही। यह काल पांड्यों के दूसरे साम्राज्य का काल कहा जाता है। इस काल के जो अभिलेख मिले हैं, उनमें पांड्यों की विजयों, कला और साहित्य को दिए गए उनके संरक्षण और उनकी शासन-प्रणाली का अच्छा वर्णन मिलता है। लेकिन इस काल के शासकों के वंशानुक्रम और उनके सम्बन्धों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यह सम्भव है कि कई राजा एक साथ एक ही समय में शासन करते रहे हों और उन सबने राजकीय उपाधियाँ धारण कर रखी हों। सम्भवतः प्रमुख राजवंश मदुरा में शासन करता हो और राजघराने के अन्य सदस्य दूसरे भागों पर, प्रमुख वंश की अधीनता में, शासन करते हों।*

मारवर्मन सुन्दर प्रथम

जातवर्मन के पश्चात् मारवर्मन सुन्दर पांड्य प्रथम (१२१६-३९) गद्दी पर बैठा। चोल प्रदेश को उसने धूल में मिला दिया और तंजोर तथा उरैयूर के नगरों को आग की भेंट कर दिया; किन्तु पराजित चोलों को उनका राज्य वापिस कर दिया। इसके पश्चात् उसने एक दूसरा आक्रमण और किया। किन्तु चोल राज्य पर स्थायी रूप से अधिकार वह फिर भी न कर सका—चोलों की ओर से होयसालों ने हस्तक्षेप किया और उसे पीछे हट जाना पड़ा।

---

* प्रमुख वंश वह है जो कीलहोर्न की गणना पर आधारित है और कुछ अंशों में जिसका सेवेल स्वामी कन्नू पिल्लाई और जैकोबी ने संशोधन किया है। उनके संशोधन का आधार प्रमुख रूप से ज्योतिष की गणना है (देखिए नील कान्त शास्त्री कृत ' दि पांड्यन किंगडम, पृष्ठ १३९)

मारवर्मन सुन्दर पांड्य द्वितीय ने १२५१ तक, कुल तेरह वर्ष, शासन किया। उसके बाद सुविख्यात जातवर्मन सुन्दर पांड्य गद्दी पर बैठा। उसके नेतृत्व में पांड्य राज्य ने विस्तृत रूप धारण किया। नेल्लोर से लेकर कुड्डापट्ट तक उसने समूचे दक्षिणी भारत पर विजय प्राप्त की, चोल शक्ति को उसने अंधकार में मुँह छिपाने के लिए बाध्य कर दिया, कोंगू देश को उसने हस्तगत कर लिया और होयसालों को बढ़ती हुई शक्ति की रोकथाम करने में सफलता प्राप्त की।

इस विजयी नरेश के अनेक अभिलेख मिलते हैं; किन्तु अधिकांश में तिथियां अंकित नहीं हैं, न तिथियों का कोई विवरण उनमें दिया हुआ है। होयसालों को उसने कन्नानूर से बहिष्कृत कर दिया था, सेंदमंगलम के कोप्परुनजिंग को उसने अपने वश में कर लिया था, कांची पर उसने अपना अधिकार कर लिया था और काकातिय राजा गणपति को उसने पराजित किया था, नेल्लोर के सरदार को मार कर वीराभिषेक किया था।* श्रीरंगम और चिदाम्बरम् के मन्दिरों के सौन्दर्य में उसने वृद्धि की थी—क्रमशः इन दोनों मन्दिरों में उसने एक की प्रतिमा को वेदी पर स्वर्ण-पत्र चढ़वाया था और दूसरे में एक सुनहरा भवन बनवाया था। उसकी उदार हृदयता ने जनता की स्मृति में घर कर लिया था।

कुलशेखर

मारवर्मन कुलशेखर (१२६८—१३११ ईसवी) का मुसलमान इतिहास लेखकों ने कलेसदेवर नाम से उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो ने भी उसका उल्लेख किया है। उसकी अधीनता

* उसने काकातियों को पेरारू (कृष्णा) तक खदेड़ दिया था। इससे आगे, उत्तर की ओर, वह स्वयं नहीं गया था क्योंकि उसका क्रोध शान्त हो गया था। फिर जब उसने यह सुना कि वहाँ का शासन एक स्त्री कर रही है तो उसने उस पर आक्रमण करना अपने गौरव के प्रतिकूल समझा। एक अभिलेख में कहा गया है कि वह गणपति भेड़िये के लिए शेर के समान था, घातक हाथी के लिए काला ज़ार के समान था, गंगगोपाल को उसने मौत के घाट उतारा था—उसके लिए वह बड़वाग्नि के समान था।

में अनेक 'राजा' थे जो अपने-अपने प्रदेशों पर शासन करते थे। इन 'राजाओं' का विदेशी यात्रियों ने उल्लेख किया है।*

उसके शासन के ४४ वें वर्ष तक के अभिलेख मिले हैं। इन अभिलेखों से पता चलता है कि राज्य-शक्ति के रूप में चोलों का अन्त हो गया था। इनसे यह भी पता चलता है कि उसने जयनगोंद-सोलपुरम में एक राजमहल बनवाया था। त्रावणकोर पर उसने आक्रमण कर कुहलोन पर अधिकार कर लिया था। कहा जाता है कि सिंहल पर भी उसने विजय प्राप्त की थी। महावंश के अनुसार उसने लगभग १२८४ ईसवी में सिंहल को जीता था।

मारवर्मन कुलशेखर के दो पुत्र थे—एक सुन्दर जो उसका सही उत्तराधिकारी था और जिसने अपने पिता के साथ, १२०२-३ से सह-शासक के रूप में काम किया; दूसरा प्राकृत पुत्र वीर पांड्य था जिसने १२९६ से शासन-कार्य में योग दिया। ये दोनों पुत्र आपस में लड़ते थे और अन्त में वृद्ध राजा को सुन्दर ने मार डाला। उसके प्रतिद्वन्द्वी वीर पांड्य को पिता अच्छी दृष्टि से देखते हैं, यह सुन्दर के लिए सह्य नहीं हुआ और उसने पिता का ही अन्त कर दिया। इस झगड़े ने १३१०-११ में मुसलमानों को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया। अलाउद्दीन खिलजी के सुप्रसिद्ध दास-सेनापति मलिक काफूर के नेतृत्व में यह आक्रमण, सम्भवतः सुन्दर का निर्देश पाकर, हुआ और उसने मदुरा पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् अपनी सेना वहाँ छोड़ कर मलिक काफूर लौट गया और प्रतिद्वन्द्वी भाई कुछ साल तक, कुंठित अधिकारों के साथ, शासन करते रहे।

इस प्रकार पांड्यों के दूसरे साम्राज्य का रविवर्मन कुलशेखर की विजय और तत्पश्चात् काकातियों के आक्रमण के फलस्वरूप अन्त हो गया।

---

* मार्कोपोलो ने जिस सुन्दर पांड्य का उल्लेख किया है, वह एक करद राजा था और उन दिनों जब मार्कोपोलो यहाँ आया था वह रामनद के तटवर्ती प्रदेश पर राज्य करता था।

उस काल में कायल प्रमुख मंडी थी। मार्कोपोलो ने वहाँ की शासन-व्यवस्था के सम-भाव और विदेशी व्यापारियों के प्रति उदारता और उन्हें मिलने वाली सुविधाओं का प्रशंसात्मक रूप से उल्लेख किया है।

मदुरा पर मुसलमानों का शासन

इसके बाद मदुरा एक मुसलमान शासक के अधीन हो गया, यद्यपि बीच-बीच में देशी शक्तियाँ विद्रोह के लिए सिर उठाती रहती थीं। १३३५ ईसवी के लगभग इस मुसलमान शासक ने अपने को दिल्ली के सुलतान से अलग, स्वतंत्र, घोषित कर लिया। इस प्रकार मदुरा में एक अल्पकालिक स्वतंत्र मुस्लिम शासन स्थापित हो गया। लेकिन यह अपने शासन का उपभोग निर्बाध रूप से नहीं कर सका। इसके छोटे से इतिहास में (१३३५-७८ ईसवी) निरन्तर संघर्ष हुए। पड़ोसी शक्ति, होयसालों के राज्य, ने इसे शान्ति से नहीं बैठने दिया। १३७८ ईसवी के लगभग इस मुस्लिम शासन का अन्त हो गया। विजय नगर की उठती हुई शक्ति ने इस शासन का अन्त कर दिया और इसके बाद मदुरा पर विजयनगर के नायक दीर्घ काल तक शासन करते रहे।

पांड्यों की शासन-व्यवस्था

पांड्यों की शासन-प्रणाली, बहुत अंशों में, चोलों से मिलती-जुलती थी। अभिलेखों से पता चलता है कि व्यक्तियों और उनके संघों के कर्त्तव्य भली भाँति निर्धारित कर दिये गए थे। फौजदारी के मामलों पर ग्राम समितियाँ ही विचार करती थीं। ग्राम-समितियों के सफल न होने पर राजा या उसके अधिकारी हस्तक्षेप करते थे। सिंचाई की विस्तृत व्यवस्था थी। सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र मन्दिर होते थे। मठों की संख्या भी काफी थी जिन्हें राजाओं का संरक्षण और सहायता प्राप्त थी। प्रजा भी इन मठों की सहायता करती थी। बौद्ध और जैन दोनों ही धर्मों का प्रचार था। जैन धर्म का, बौद्ध धर्म के मुकाबले, अधिक प्रचार और महत्व था। अरब के मुसलमान नवीं शती में मालाबार के तट पर आकर बस गए थे और वहाँ से पूर्वी तट और सिंहल की ओर फैलते जा रहे थे। उनका प्रमुख केन्द्र कायल था। कायल उस काल का एक अच्छा बन्दरगाह था।*

---

* देखिए कर्नल एच० यूल कृत ' मार्कोपोलो ', भाग २, पृष्ठ ३०५। इस सम्बन्ध में काल्डवेल की ' हिस्ट्री आफ तिनेवली,' परिच्छेद दो, भी देखिए।

मुसलमान इतिहास-लेखकों के अनुसार मालाबार (शाब्दिक अर्थ—मार्ग) नाम प्रारम्भिक अरब सौदागरों ने सिंहल के निकट तम कारोमंडल तट के प्रदेश को दिया था। बाद में यह नाम कुदलोन से नेल्लोर तक समूचे तटवर्ती प्रदेश के लिए प्रयुक्त होने लगा।

[४]

होयसाल

पूर्वी चालुक्य और काकातिय

पश्चिमी घाट के कगारों से सटा हुआ एक छोटा-सा गाँव है जो अंगदी कहलाता है। ल्युविस राइस के मतानुसार यह गाँव ही वह शशकपुर (मदगेयर तालुका) है जहाँ होयसालों ने जन्म लिया था—उन होयसालों ने जो, अनिवार्यतः, मैसूरियन वंश से सम्बन्ध रखते हैं। इनका संस्थापक शाल था। उसने किस प्रकार अपने राजवंश की नींव डाली, इसकी कहानी नीचे दी जाती है।*

*कुल देवी वसन्तिका की उपासना करते समय एक दिन उसकी एक शेर से मुठभेड़ हो गई। वसन्तिका देवी का मन्दिर शशकपुर के निकट जंगल में स्थित था। शेर की दहाड़ के कारण उसकी पूजा में उस दिन व्याघात हो गया। मन्दिर के यती या पुरोहित ने जब यह देखा तो उसने एक सलाख निकाल कर सरदार को देते हुए कनाटकी भाषा में कहा—"होय साल"—अर्थात् साल, उसे मारो। सलाख से सरदार ने शेर पर आक्रमण किया और उसे वहीं मार दिया। इस घटना के फलस्वरूप ही उसका नाम होयसाल पड़ा। मैकंज़ी पाण्डुलिपि की एक जनश्रुति के अनुसार स्थानिक लोग इस घटना से इतने उत्साहित हुए कि उन्होंने, यती के आदेशानुसार, एक पण (चार आना आठ पाई) वार्षिक चन्दा प्रत्येक व्यक्ति से वसूल किया और उसे साल को भेंट कर दिया। पाँच वर्ष के बाद जब चन्दे की रकम काफी हो गई तो साल ने एक सेना का संघटन किया और बेलूर तालुका में द्वारसमुद्र के दुर्ग का पुनर्निर्माण किया। यह दुर्ग ही आगे चल कर होयसालों का प्रमुख नगर बन गया। सम्भव है इस जनश्रुति का सम्बन्ध होयसालों के उस संघर्ष से हो जो उन्होंने चोलों से—जिनका राज्यचिन्ह शेर था—किया था। (देखिए राइस कृत मैसूर एन्ड कुर्ग, १९०९, पृष्ठ ९५ और मैसूर गजेटियर, नया संस्करण, भाग २, खण्ड १)

शाल और विनयादित्य

शाल के सम्बन्ध में अन्य कोई विवरण ज्ञात नहीं हो सका है। वह लगभग १००७ ईसवी में हुआ था। उसके उत्तराधिकारी विनयादित्य ने १०४७ से ११०० ईसवी तक शासन किया। उसने मलापों (पहाड़ी सरदारों) पर विजय प्राप्त की थी और वह दक्षिणी कन्नड़ और मैसूर पर शासन करता था। उसने अनेक ग्रामों और नगरों का निर्माण किया था। उसके काल में चोल और परवर्ती चालुक्यों के बीच भीषण संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के लिए यह काल प्रसिद्ध है। होयसालों ने इस संघर्ष में अपने स्वामी चालुक्यों का साथ दिया और फलस्वरूप उनका महत्व बहुत बढ़ गया। विनयादित्य के पुत्र एरयांग को चालुक्य नरेश का दाहिना हाथ कहा जाता है। उसने धार के चारों ओर घेरा डाला था, चोलों को आतंकित कर दिया था और कलिंग के राजा की कमर तोड़ दी थी। चालुक्यों का वह प्रमुख सेनापति रहा होगा। उसका दूसरा पुत्र बिट्टीदेव अपने बड़े भाई बल्लाल की मृत्यु के पश्चात् ११०४ ईसवी में सिंहासन पर बैठा और अपने समय का शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ।

बिट्टीदेव विष्णुवर्धन

होयसालों में बिट्टीदेव विष्णुवर्धन सब से अधिक विख्यात हुआ। वह एक साहसी योद्धा था। शीघ्र ही उसने अपने विस्तृत विजयों से पूर्ण जीवन का श्रीगणेश कर दिया। अपने सेनापति गंगराज की सहायता से गंगप्रदेश से चोलों को बहिष्कृत किया। इसके पश्चात् वह दक्षिण की ओर बढ़ा और आज के सलेम, कोयम्बटूर और नीलगिरि जिलों की भूमि पर अधिकार कर लिया। पश्चिम की ओर मालाबार और दक्षिणी कन्नड़ पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार, मोटे रूप में, उसके राज्य में समूचा मैसूर, सलेम का अधिकांश, कोयम्बटूर, बेलारी और धारवार के जिले सम्मिलित थे। चालुक्यों के प्रभुत्व से उसने अपने को प्रायः मुक्त कर लिया था; किन्तु उत्तरी प्रदेश के होयसाल राजा चालुक्यों के प्रभुत्व को बल्लाल द्वितीय के समय तक फिर भी स्वीकार करते रहे।

वैष्णव धर्म की दीक्षा

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के इतिहास में बिट्टीदेव का प्रतिष्ठित स्थान है। मदुरा के कुन पांड्य के समान वह भी पहले जैन था, बाद में वैष्णव सन्त रामानुजाचार्य के प्रभाव से वैष्णव धर्म अंगीकार किया। वैष्णव हो जाने के पश्चात् उसने विष्णु-वर्धन नाम धारण किया। ११४१ ईसवी में उसकी मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी राजा वैष्णव और शैव दोनों ही मतों के अनुयायी थे। धार्मिक मामलों में वे उदार थे। उनके काल में जैन धर्म का भी स्थान प्रमुख रहा, और इस धर्म के मानने वालों की संख्या भी काफी थी। राज्य की ओर से उन्हें मान-प्रतिष्ठा भी मिली थी।

छत्रधारी शक्ति

विष्णुवर्धन के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह प्रथम (११३६-७१ ईसवी) और पौत्र वीर बल्लाल द्वितीय (११७२—१२१६ ईसवी) ने शासन किया। वीर बल्लाल के काल में राज्य की सीमाओं का विस्तार कृष्णा नदी के उस पार तक हो गया। उसने चालुक्यों के सिंहासन को हड़प लेने वाले चन्देलों और कलचुरियों को पराजित किया और तुंगभद्रा पर स्थित पहाड़ी किलेबन्दियों को नष्ट कर दिया। यादवों पर विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप वह कुन्तल का स्वामी हो गया। उच्छांगी के पांड्यों को भी उसने पराजित किया और इस प्रकार होयसालों ने छत्रधारी राजा का पद प्राप्त कर लिया।

नरसिंह द्वितीय

वीर बल्लाल के पुत्र नरसिंह द्वितीय (१२२०-३५ ईसवी) के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसने पांड्यों और पल्लवों को पराजित किया था और चोलों को फिर से उनका सिंहासन भेंट कर दिया था—अपनी सैन-शक्ति से सिंहासन को धूलिधूसरित करने के पश्चात् उसने चोलों को फिर से उसे सौंपा था।

इन विजयों के बाद से होयसाल अपने को पांड्य-राज्य के विनाशक और चोल राज्य के संस्थापक कहने लगे। सेतुरामेश्वरम् में नरसिंह ने एक विजय स्तम्भ भी बनवाया। उसके उत्तराधिकारी

सोमेश्वर (१२३३-५४ ईसवी) के काल में होयसाल दक्षिण में और आगे तक बढ़ गए। त्रिचनापल्ली जिले में श्रीरंगम के निकट कन्नानूर (या विक्रमपुर) का होयसाल नरेश ने अपना वास-स्थान बनाया और इस प्रकार राज्य दो भागों में बाँट दिया गया। यह भी सम्भव है कि इस समय तक तुंगभद्रा के उत्तर में होयसालों ने जिन प्रदेशों को जीता था, वे उनके हाथ से निकल कर यादवों के हाथ में चले गए; किन्तु दक्षिण में उनका प्रभुत्व असंदिग्ध रूप से स्थापित हो गया था,—ऐसा कोई न था जो उनकी ओर उँगली उठा सके।*

नरसिंह तृतीय और उसके उत्तराधिकारी

नरसिंह तृतीय (१२५४-९१ ईसवी) और बल्लाल तृतीय (१२९१—१३४२) अन्तिम होयसाल नरेश थे जिन्होंने अपने राज्य की प्रतिष्ठा और रूप-रेखा को पूर्ववत बनाए रखा। १३१० ईसवी में मलिक काफूर के नेतृत्व में मुसलमानों ने आक्रमण कर राजधानी द्वारसमुद्र का लूट-पाट कर नष्ट कर डाला और राजा को बन्दी बना लिया। आक्रमण से क्षत-विक्षत राजधानी अभी पूरी तरह से ठीक भी न हो पाई थी कि मुसलमानों ने, मोहम्मद बिन तुगलक के आदेशानुसार, फिर आक्रमण किया और उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया। वीर बल्लाल ने भाग कर पहले सेरिंगपट्टम के निकट तोन्नूर में शरण ली, फिर तिरुवन्नामलाई में जाकर मुसलमानों से लोहा लेने का प्रयत्न किया। अपनी शक्तियों और साधनों को फिर से संगठित किया और तुंगभद्रा के निकट होसपट्टन की नींव डाली जिससे मुसलमानों के खतरे से अपनी उत्तरी सीमा को वह सुरक्षित रख सके। यहीं से विजयनगर के राज्य के अंकुर फूटे। मदुरा में स्थित मुसलमानों से भी उसे बहुधा संघर्ष करना पड़ा और इन युद्धों में से एक में ही—जो कावेरी-कोलरून की सीमा पर हुआ था—वह मारा गया। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारी

---

* सोमेश्वर के दो पुत्र थे—एक नरसिंह तृतीय जो अपने पैतृक राज्य पर, जिसकी द्वारसमुद्र राजधानी थी, शासन करता रहा; दूसरा पुत्र रामनाथ था जो दक्षिणी प्रदेश और मैसूर के पूर्वी भाग पर राज्य करता था। ये दोनों राज्य नरसिंह के पुत्र बल्लाल द्वितीय के काल में फिर एक हो गये।

बल्लाल चालुक्य ने संघर्ष को जारी रखा और १३४६ में मुसलमानों से युद्ध करते-करते उसका भी लोप हो गया। उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद ही हरिहर और बुक्का आदि पाँच भाइयों ने, उत्तरी सीमा पर मुसलमानों की बाढ़ को रोकने में सफलता प्राप्त की। उस काल के अभिलेखों में इन पाँच भाइयों को ही विजयनगर राज्य का संस्थापक कहा गया है।*

पूर्वी चालुक्यों का उत्थान

वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के उत्थान का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्जा विष्णुवर्धन ने पल्लवों के हाथों से छीन कर वेंगी पर अपना अधिकार स्थापित किया था। इस वंश के अनेक दान-पत्र और अभिलेख मिलते हैं जिनमें राजाओं के नाम और काल आदि का उल्लेख है। इनके आधार पर हम इस वंश-परम्परा का बहुत कुछ सही विवरण प्राप्त कर सकते हैं।† इस वंश के संस्थापक ने अठारह वर्ष तक शासन किया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी जयसिंह ने तैंतीस वर्ष तक राज्य किया। उनका राज्य वेंगी से बाहर तक भी फैला हुआ था और उसमें कलिंग का भी कुछ भाग सम्मिलित था। कलिंग के गंगों और मालखेद के राष्ट्रकूटों से उनका बहुधा संघर्ष चलता रहता था। उस काल में आसपास के प्रदेशों से वेंगीमंडल का एक अपना अलग और स्वतंत्र अस्तित्व था।

उनका शासन

प्रारम्भ में शासकों की भाषा प्राकृत थी। वे शिव के उपासक थे। किन्तु बाद के दान-पत्रों में उन्होंने अपने को यदु का वंशज कहा

* डाक्टर एस० के० आयंगर कृत 'साउथ इन्डिया एन्ड हर मोहम्मडन इन्वेडर्स (१६२१), पृष्ठ २७४।

† चेल्लूर और रानास्तीपुन्दी के दान-पत्रों में राजाओं की एक लम्बी सूची दी हुई है। शक संवत् के अनुसार इन राजाओं का काल और तिथियाँ भी दी हुई हैं। कुब्जा विष्णुवर्धन की प्रारम्भिक तिथि के बारे में मतभेद है। जो भी हो, उसे ६१५ ईसवी से पूर्व होना चाहिए।

है। पहले उन्होंने महाराष्ट्र और मध्य भारत के राजघरानों से सम्बन्ध स्थापित किये, बाद में चोल वंश से अपना नाता जोड़ लिया। महाराजाधिराज और परमेश्वर की उपाधियाँ वे साधारणतया धारण करते थे। उनका प्रिय विरुद विषमसिद्धि था जिसे उनके संस्थापक ने धारण किया था। उनकी शासन-व्यवस्था, रूप-रेखा और आकार-प्रकार में द्रविड़ न होकर उत्तर भारतीय थी। अभिलेखों में कर-क्षेत्र के विभाजन को इंगित करने वाले शब्द 'विषाय' का प्रयोग मिलता है और पंच प्रधानों (पाँच मंत्रियों) का भी उल्लेख हुआ है। 'विषाय' के अनुपात में राष्ट्र और भुक्ति नामक विभाजन बड़े होते थे। दान-पत्र बहुधा विषाय के निवासियों को सम्बोधित किए गए हैं। राष्ट्रकूट प्रमुख 'विषाय' के निवासियों में प्रमुख स्थान रखते थे।*

उनके युद्ध

विजयादित्य प्रथम का शासन-काल (७४६-६४ ईसवी) महत्व-पूर्ण रहा। बादामी के पश्चिमी चालुक्यों पर राष्ट्रकूटों के दबाव को कम करने के लिए उसने राष्ट्रकूटों के राज्य के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष में पूर्वी चालुक्यों को मुँह की खानी पड़ी और इसके पश्चात् राष्ट्रकूटों ने अपने पड़ोसी पश्चिमी गंगों को दक्षिण-पश्चिम की ओर से, और हैहेय तथा कलिंगों को उत्तर की ओर से, वेंगी को त्रस्त करने के लिए तैयार कर लिया। परिणामतः राष्ट्रकूटों से प्रायः निरन्तर युद्ध होता रहा। विजयादित्य तृतीय (८४४-८८ ईसवी) ने राष्ट्रकूटों के राजा का मान भंग करने में सफलता प्राप्त की और उसकी राजधानी मालखेद को भस्म कर दिया। चालुक्य भीम (८८८—६१८) ने सभी द्रोहियों का शमन करने के कारण द्रोहार्जुन की उपाधि धारण की। कहा जाता है कि उसने १०८ युद्धों

* राष्ट्रकूट सम्भवत: कर उगाहने वाले प्रमुख अधिकारी होते थे, जैसे आज के देशमुख होते थे। राष्टकूट का अर्थ सम्भवत: प्रान्त का मुखिया होता था। (सी० वी० वैद्य कृत हिस्ट्री आफ मेडीविअल इन्डिया, भाग १, पृष्ठ ३०१—७)

में भाग लिया था और इतने ही शैव मन्दिर बनवाये थे। अम्मा प्रथम, राजमहेन्द्र (९१८-२५) ने नयी राजधानी राजमुन्द्री को संस्थापित किया और अपनी सत्ता को संगठित करने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद जो राजा हुए वे अपने को आंध्र कहते थे, कन्नड़ या विदेशी नहीं। राजमुन्द्री के विकास का इतिहास आंध्रों के विकास का इतिहास है। चालुक्य भीम द्वितीय (९३४-४५) और अम्मा राजा द्वितीय (९४५-७०) ने तेलगु साहित्य और हिन्दू धर्म को बहुत संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया। इसके बाद ९९९ ईसवी में शक्तिवर्मन के सिंहासनारुढ़ होने तक एक चौथाई शती का काल अव्यवस्था और अराजकता से भरा हुआ बीता। इस अराजकता का अन्त उस समय हुआ जब राजराजा चोल ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया और शक्तिवर्मन को सिंहासन पर बैठाने में सफलता प्राप्त की।* उसके भाई विमलादित्य ने चोल राजकुमारी से विवाह किया और १०२२ ईसवी तक शासन करता रहा। उसके बाद उसका पुत्र राजराजा नरेश गद्दी पर बैठा। पूर्वी चालुक्यों में वह बहुत ही प्रतिभाशाली राजा था। उसके शासन काल में देश खूब श्री सम्पन्न रहा और धर्म का अच्छा अभ्युत्थान हुआ। तेलुगु महाभारत के रचयिता नान्नया भट्ट जैसे महान् विद्वानों को उसका संरक्षण प्राप्त था। नान्नया को कविराजशेखर की उपाधि प्राप्त थी। कोरुमिल्ली के दान-पत्र में राजा की प्रशस्ति का रचयिता चित्तन भट्ट भी उसके शासन काल में हुआ था। शक्तिशाली चोलों से उसका मित्रता पूर्ण सम्बन्ध था। चोलों के राजा गंगईकोन्दन ने अपनी कन्या का विवाह राजराजा नरेश से किया था। इस विवाह से राजेन्द्र उत्पन्न हुआ जिसने, एक संघर्ष के बाद, १०७० में, चालुक्य और चोल राज्यों को मिलाने में सफलता प्राप्त की और कुलोत्तुंग उपाधि को धारण कर जिसने बहुत ही गौरवपूर्ण ढंग से शासन किया।

चोलों के प्रभुत्व काल में वेंगी के राज्य का लोप हो गया, किन्तु पूर्वी चालुक्यों के कुछ उत्तराधिकारी पश्चिम में, तुंगभद्रा के दक्षिणी प्रदेश में, १३०२ ईसवी तक, शासन करते रहे।

---

* वी० वी० कृष्णा राव ने अपनी 'हिस्ट्री आफ राजमुन्द्री', जे० ए० एच० आर० एस०, भाग ४, पृष्ठ ९८-१०१, में इसका खंडन किया है।

काकातियों का उद्गम

काकातियों का राज्य सामन्ती था। चोल और परवर्ती चालुक्यों के ध्वंसावशेष से इसका जन्म हुआ था। उनके उत्थान और प्रारम्भिक विकास का विवरण अत्यल्प मिला है। एक अभिलेख में केवल गणपति तक का वंशानुक्रम मिलता है। तेलिंगन में काकातिय राजा कई शतियों तक—जब तक मुसलमानों ने तेलिंगन (तेलुगु प्रदेश) पर अधिकार नहीं कर लिया—शासन करते रहे। १६२१ में मोहम्मद बिन तुगलक ने इस नगर पर कब्जा कर लिया था।* काकातिय नाम उनकी इष्टदेवी काकाति पर पड़ा था। इनके उद्गम से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हैं।

प्रारम्भिक राजा

इनका प्रथम उल्लेखनीय राजा त्रिभुवन मल्ल बेल राजा था। ११०० ईसवी के लगभग वह हनुमकोंड में शासन करता था। उसके बाद उसका पौत्र प्रोलराजा (या प्रोदराजा) ११३० ईसवी के लगभग गद्दी पर बैठा। वह बहुत शक्तिशाली राजा था। निजाम राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग में उसने वारंगल नामक नगर बसाया था। उसने अनेक युद्ध किए थे। जिन सरदारों को उसने पराजित किया और जिन स्थानों को जीता, उनका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं चलता।

प्रताप रुद्रदेव प्रथम

प्रोलराजा के पश्चात् उसका पुत्र, सुप्रसिद्ध प्रताप रुद्रदेव प्रथम, (लगभग ११६३ ईसवी) गद्दी पर बैठा। हनुमकोंड में उसने एक हजार स्तम्भों से युक्त एक मन्दिर बनवाया था।† इस मन्दिर में संस्कृत भाषा और प्राचीन कन्नड़ लिपि में खोदा हुआ एक लंबा अभिलेख मिला है। इस अभिलेख से ही हमें काकातियों के

---

* देखिए हैग कृत 'हिस्टोरिक लैन्डमार्क्स आफ़ दि दक्षिण', परिच्छेद ४।

† हैग का कहना है कि यह मन्दिर चालुक्य स्थापत्य का पहला उदाहरण है और इसमें चालुक्य स्थापत्य की सभी विशेषताएँ उपस्थित हैं।

सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त हुई है। प्रताप की अन्य उपलब्धियों के बारे में पता चला है कि उसने यादवों और उड़ीसा के राजा पर विजय प्राप्त की थी।

प्रताप रुद्र के पश्चात् अगला महत्वपूर्ण राजा गणपति था। ११९९ ईसवी में वह सिंहासन पर बैठा। वह प्रतापरुद्र का भतीजा था और यादवों के राजा का मान भंग कर अपने प्रतिशोध की अग्नि को शान्त किया था। चोलों पर भी उसने विजय प्राप्त की थी। उसके अभिलेख कांचीवरम और कालहस्ति में मिले हैं। नेल्लोर के तेलुगु चोद सरदार पर भी उसने विजय प्राप्त की थी। उसके काल में व्यापारिक उन्नति अच्छी हुई थी।

उसके पश्चात् १२६१ में रुद्रम्मा की कन्या ने शासन की बागडोर संभाली। उसने रुद्र महाराजा की पुरुष उपाधि धारण की थी। मार्कोपोलो के अनुसार, जो उसके शासन-काल में कोरोमण्डल के किनारे पर उतरा था, रानी रुद्रम्मा बुद्धिमानी के साथ शासन-कार्य की देख-भाल करती थी। अन्त में, १२९१-९२ ईसवी में, अपने पौत्र प्रताप रुद्र द्वितीय के पक्ष में उसने सिंहासन का त्याग कर दिया। यह काकातियों का अन्तिम राजा था। उसका राज्य पश्चिम में रायपूर तक और दक्षिण में कान्ची तक फैला हुआ था।*

वारंगल पर मुसलमानों का आक्रमण

प्रताप रुद्र द्वितीय के शासन-काल में ही मलिक काफूर ने तैलिंगन में प्रवेश किया था। वारंगल के शासक ने तुरंत आत्म-समर्पण कर दिया और आक्रमक को बहुत सा स्वर्ण और हीरे-जवाहर भेंट में दिये। तुगलक के नेतृत्व में मुसलमानों ने एक बार फिर वारंगल पर आक्रमण किया। इस बार प्रताप रुद्र ने उससे लोहा लेने का प्रयत्न किया और मुसलमानों को दूर रखने में सफलता प्राप्त की। लेकिन बाद में मुसलमानों ने फिर आक्रमण किया और वारंगल पर अधिकार कर लिया और राजा को बन्दी बना कर

---

* देखिए इम्पीरियल गजेटियर, नवीन संस्करण, भाग २, पृष्ठ ३४३ ; और एपिग्राफिया इन्डिका, भाग ७, पृष्ठ १२८।

दिल्ली भेज दिया। वहाँ से अपनी मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् प्रताप रुद्र फिर वापिस लौट आया और दिल्ली के सुलतान की अधीनता में दो वर्ष तक फिर राज्य किया। १३३० ईसवी के लगभग उसकी मृत्यु हो गई और उसके पुत्र कृष्ण को भाग कर कोन्डेविड में शरण लेनी पड़ी। इसके बाद काकातियों की शक्ति नगण्य रह गई और कभी वे दक्षिण के नवोत्थित बहमनी सुलतान की अधीनता में और कभी उसके विरोधी की स्थिति में राज्य करते रहे। १४२३ ईसवी में वारंगल अन्तिम रूप से मुसलमानों के हाथ में चला गया और काकातियों का इतिहास के पृष्ठों से लोप हो गया। काकातियों के ध्वंसावशेष से कोन्डेविड जैसे अनेक रेड्डी रजुलों का उदय हुआ और कुछ काल तक वे फूलते-फलते रहे।

सोलहवाँ परिच्छेद

दक्षिणी भारत

द्रविडों की संस्कृति और संस्थाएँ

[१]

सामाजिक और आर्थिक स्थिति

प्राचीन तामिलकम की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति का हम यहाँ अवलोकन करेंगे। प्रारम्भिकतम तामिल ग्रंथ टोल्हापियम (ईसा पूर्व तीसरी शती के लगभग) के अनुसार यहाँ के निवासी पाँच कबीलों में विभाजित थे—जैसे कृषिजीवी, चरवाहे, मछिहारे, शिकारी और घुमक्कड़, खानाबदोश आदि। इस प्रकार के सामाजिक विभाजन के साथ-साथ भौगोलिक विभाजन भी था जिसके अनुसार भूमि कई भागों में अलग कर दी गई थी—जैसे मैदानी प्रदेश, पहाड़ी प्रदेश और इन दोनों के बीच का प्रदेश, समुद्रीतट और रेगिस्तानी प्रदेश। तामिल देश का यह जातीय और प्रादेशिक विभाजन अच्छी तरह विख्यात है।*

* नीथाल या तटवर्ती प्रदेश में पारव, नुलैया और वलैया लोग रहते थे; मारुतम या उपजाऊ प्रदेश में मल्लर या पल्लरों का घर था; मुल्लाई या चरागाह वाले प्रदेश में इदैयर (ग्वाले) बसते थे; पलाई या रेगिस्तानी प्रदेश में मारावर और युइनर आदि रहते थे और कुरिञ्जी या पहाड़ी प्रदेश में कुरवा, इरुला, वेदा और विल्लवर आदि बसते थे। तामिल वैयाकरणों और कोषकारों ने भूमि के पाँच प्रकार बताए हैं—नीथाल, मारुतम, मुल्लाई, पलाई, कुरिञ्जी—पलाई प्रदेश, अन्य चारों के साथ, सब में समान रूप से, पाया जाता है। आचार्य पी० टी० श्री निवास आयंगर के कथनानुसार यह पाँच प्रकार का प्राकृतिक विभाजन सभ्यता के क्रमिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करता है और हो सकता है दक्षिण भारत के सीमित क्षेत्र में ही सब से पहले यह क्रमिक विकास हुआ हो और इसके बाद अन्य बाहरी क्षेत्रों में विस्तरित हुआ हो। देखिए हिस्ट्री आफ तामिल्स परिच्छेद १, पृष्ठ १४-१५।

पेशे के अनुसार विभाजन

प्रारम्भ में द्रविड़ आर्यों की वर्ण व्यवस्था से अनभिज्ञ थे। तामिल देश में जाकर जो ब्राह्मण बस गए थे, उन्होंने वर्ण व्यवस्था का वहाँ प्रवेश कराया। बाद में तामिल लोगों की व्यवस्था कुछ तो जन्म पर आधारित मिलती है और कुछ पेशे पर—दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है—जैसे शासकों की श्रेणी, ब्राह्मणों की श्रेणी, व्यापारियों और वेल्लालरों (कृषकों) की श्रेणी।* यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आर्यों में जो शूद्र वर्ण है, वह तोल्कप्पियार प्रदेश में नहीं पाया जाता। न तो बाद की अन्य दलित जातियों का कोई चिन्ह मिलता है।†

यह कहा जा सकता है कि आज जो जातियाँ तामिल देश में मिलती हैं, कुछ अपवादों को छोड़ कर, उनमें से अधिकांश प्राचीन नागों तथा अन्य जंगली और पहाड़ी कबीलों से निकली हैं। उनके सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं और सीढ़ियों का सही परिचय दे सकना कठिन है कि किस प्रकार ये जातियाँ अस्तित्व में आईं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि वर्ण और जाति-व्यवस्था के

---

* विद्वान् एम० राघव आयंगर के कथनानुसार वेल्लाल असल में वेलीद लोग हैं जो बेलगाम तथा बम्बई प्रेज़ीडेन्सी के अन्य स्थानों से आए थे। दिवाकर के अनुसार वेल लोग इतिहास में वर्णित चालुक्य ही थे। अगर यह ठीक है तो इसका पता लगाना काफी दिलचस्प होगा कि दक्षिण भारत के वेल्लाल, जो कभी शासक थे, किस प्रकार खेतिहरों की अवस्था तक पहुँच गए। अध्ययन और निरीक्षण के पश्चात् इस मत में संशोधन-परिवर्द्धन हो सकते हैं।

† वेल्लाल या वेलोर दो श्रेणियों में विभाजित हैं—एक वे जो खेती करते हैं, दूसरे वे जो खेती नहीं करते। उनमें राजनीतिक और सेनापति आदि हुए हैं और उन्हें राजा की ओर से किजन, आर्यन, रामन और उदयन आदि की उपाधियाँ मिलती रही हैं। प्राचीन तामिल राजाओं के वंशों का विवरण आज उपलब्ध नहीं है। सम्भवत: वे सब वेल्लाल जाति में ही लीन हो गए हैं। वेल्लालों में कुछ ऐसे भी थे जो वेदों का अध्ययन करते थे यज्ञादि कराते थे। ये वैश्य कहलाते थे। इनमें से चोल और पांड्य राजाओं के मंत्री भी हुए। संस्कृत के ये अच्छे विद्वान् थे। वैष्णव संत नम्मलावर और शैव संन्यासी थायूमन स्वामी इसी श्रेणी के थे।

निर्माण में ब्राह्मणों ने काफी योग दिया।* यह व्यवस्था बहुत कुछ रक्त, पेशे, धार्मिक विश्वास और वातावरण पर आधारित है।

युद्धों का बाहुल्य

तामिल देश के विभिन्न सरदार बहुधा आपस में संघर्ष करते रहते थे। फलतः सर्वसाधारण का जीवन संघर्षों के बीच ही बीतता था। लेकिन शान्तिप्रिय नागरिकों पर आँच नहीं आती थी। नगर परकोटों से और ग्राम काँटेदार झाड़ियों और बाड़ों से सुरक्षित रहते थे। पशुओं को उठा ले जाने से युद्ध का बहुधा श्रीगणेश होता था, अर्थात् साधारणतया युद्ध का रूप पशुओं के चारों ओर ही केन्द्रित था। सौदागरों के कारवाँ आमतौर से एक नगर से दूसरे नगर को जाते थे। सैनिक इनकी और प्रमुख राजमार्गों की रक्षा करते थे। युद्ध के चारणों का भी एक वर्ग उत्पन्न हो गया था।

प्राचीन द्रविड राजव्यवस्था

प्राचीन तामिल राज्य में जिन शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पालन किया जाता था, वे काफी विकसित और उन्नत थे। राजतंत्र उन दिनों प्रचलित था, परन्तु उसमें निरंकुशता न थी।

---

* एम० श्री निवास आयंगर ने कुछ कबीलों और जातियों की सामाजिक स्थिति में जो क्रमिक परिवर्तन हुए, उनका पता लगाने का प्रयत्न किया है। ईसा की तीसरी या चौथी शती के एक ग्रंथ पेरुम्बानर उप्पडाई में वर्णित काँची नगर का जो विवरण मिलता है, उससे और साथ ही कवि रुद्रन कन्नानर लिखित तोन्दइमान इलान्दिरैयन के इतिवृत से भी उन्होंने मदद ली है। इनसे सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ईसा की ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में अंकित तञ्जोर के मन्दिर के अभिलेखों से पता चलता है कि विभिन्न जातियों के लोग, अपनी-अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार, अलग अलग हल्कों में रहते थे। पुराणानुरू नामक संकलन में मंगुदिकिजर की एक कविता में आदि द्रविडों का सब से प्रथम उल्लेख मिलता है। ये आदि-द्रविड, प्राचीन काल में, कम-से-कम दो श्रेणियों में विभाजित थे—खेतिहर, और बुनकर। पेशे के अनुसार इनमें भी अनेक उपविभाजन थे। धीरे-धीरे इनकी स्थिति गिरती गई। मुइनर शिकारी वर्ग के लोग थे। उनके अपने सरदार भी होते थे।

प्रायः राजा अपने सभासदों और जन-समितियों के परामर्शानुसार शासन करते थे। दक्षिण भारत की शासन-व्यवस्था की पहली ऐतिहासिक झाँकी हमें मेगस्थनीज के वर्णन में मिलती है।* चोल करिकाल ने इस व्यवस्था को अधिक विस्तृत और पूर्ण रूप दिया। उसने जंगलों को साफ किया, नये नगरों को बसाया, अनेक दुर्ग बनाए और प्रत्येक नगर के चारों ओर के प्रदेश का शासन-कार्य चलाने के लिए प्रमुख सरदारों को नियुक्त किया। इस प्रकार तोन्दमंडलम के कोट्टमों का निर्माण हुआ जिनमें महान् चोल-नरेश ने लगभग चौबीस दुर्ग बनवाए। प्रत्येक दुर्ग अपने आस-पास के प्रदेश का स्वामी और रक्षक का केन्द्र होता था।

राजा

राजा की सहायता और परामर्श के लिए पाँच परिषदें होती थीं जो पाँच महासमितियाँ कहलाती थीं और जिनमें, क्रमशः, जनता, पुरोहितों, वैद्यों, ज्योतिषियों और मंत्रियों के प्रतिनिधि होते थे। इनमें से पहली परिषद् या समिति प्रजा के अधिकारों और हितों को रक्षा करती थी। राजधानी में उन सभी समितियों के लिए अलग-अलग स्थान नियुक्त होते थे। महत्वपूर्ण अवसरों पर इनके सदस्य राजदरबार और राजजलूसों में सम्मिलित होते थे। इन समितियों के कार्यों और वैधानिक रूप का विवरण आज उपलब्ध नहीं है।

राजदरबार अपनी शान के लिए प्रसिद्ध था। राजा अनेक परिचारकों से घिरा रहता था। ये परिचारक आठ समूहों में बँटे थे—गंधी, माली, ताम्बूलवाहक, सुपारी देने वाले, कवचधारी, सेवक, मशालची, अंग रक्षक। राजा समाज का प्रमुख होता था। प्रजा से वह मुक्त रूप से मिलता था और प्रत्येक उत्सव पर उनका साथ देता था, उनके दुःख और सुख का भागी होता था। शासन कार्य में स्त्रियों को भी स्थान दिया जाता था और राजा को प्रेमिका

---

* डाक्टर एस० के० आयंगर की पुस्तक 'सम कन्ट्रीब्यूशन्स ऑफ साउथ इन्डिया टू इन्डियन कलचर' के ३१वें परिच्छेद को देखिए जिसमें दक्षिण भारत की शासन-प्रणाली के विकास पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

तथा पत्नी के बीच, उसके अधिकारों की रक्षा करते हुए, अन्तर रखा जाता था। सार्वजनिक समारोहों के अवसर पर रानी राजा के साथ सिंहासन पर आसीन होती थी। राजमहल की वह स्वामिनी होती थी।

न्याय

दीवानी और फौजदारी के सभी मामलों में राजा का निर्णय अन्तिम और सर्वोपरि होता था। न्यायाधीशों के कुछ विशेष गुण और कर्तव्य होते थे। न्याय के लिए वादी-प्रतिवादी को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता था। लेकिन दंड काफी कठोर होते थे—अंग-भंग तक की सजा दी जाती थी। राजाज्ञा की घोषणा ढोलबजा कर की जाती थी। परम्परागत नियमों का पालन किया जाता था। इन नियमों की विद्वान्, सन्त और ब्राह्मण जो व्याख्या करते थे, वही मान्य होती थी। प्रजा की विभिन्न श्रेणियों और वर्गों के हितों और अधिकारों को राजा जानता था और उनका पूरा ध्यान रखता था।

पल्लवों की देन

दक्षिण भारत में शासन-व्यवस्था के विकास में पल्लवों का प्रतिष्ठित योग माना जाता है। उत्तर भारत में प्रचलित शासन-सम्बन्धी धारणाओं को उन्होंने ही दक्षिण भारत में प्रचारित किया। मायिदावोलू के दान-पत्र में,* जिसे स्कन्दवर्मन ने जारी किया था, प्रान्तपतियों, राजकुमारों, एजेन्टों, जिलाधीशों, चुंगी के अधिकारियों, नगर के मुखियों आदि को सम्बोधित किया गया है। इससे कुछ आभास मिलता है कि तत्कालीन शासन-व्यवस्था कितनी विकसित थी। यह नहीं मालूम कि परवर्ती चोलों ने इसे पल्लवों से ग्रहण किया था। मालूम यही होता है कि चोलों की शासन-प्रणाली उनके अपने देश की ही उपज है। इस शासन-प्रणाली की विशेषताओं

*देखिए महामहोपाध्याय वी० स्वामीनाथ अय्यर द्वारा संपादित मणिमेखलाई १, १, १७। श्री कनकसभाई पिल्लाई के कथनानुसार राजशक्ति पूर्णतया राजा और पाँच महा समितियों में निहित होती थी और यह शासन-प्रणाली तीन महान् राज्यों में प्रचलित थी (देखिए दि तामिल्स १८०० ईयर्स एगो, पृष्ठ ११०)

* एपिग्राफिया इन्डिका, भाग ६, पृष्ठ ८४।

का हम पिछले परिच्छेद में उल्लेख कर चुके हैं। वैसे, कहने की आवश्यकता नहीं, इस शासन-प्रणाली पर, मूलतः देशज होते हुए भी, बाहरी प्रभाव भी पड़ा है—बहुत कुछ अंश बाहर से लिया गया है।

कुराल

धर्म ग्रंथ कुराल के रचयिता ने, प्रत्यक्षतः, अर्थ शास्त्र जैसे आर्य ग्रंथ से बहुत से विचार ग्रहण किए हैं।* कुराल में १३३ परिच्छेद हैं और इनमें आधे से अधिक परिच्छेदों में राजनीति और अर्थनीति पर विचार किया गया है। राजतंत्रीय शासन-प्रणाली को इस ग्रंथ में स्वीकार्य माना गया है। यद्यपि राजा के अधिकारों के साथ-साथ मंत्रियों की परिषद् का भी नियंत्रण चलता है। राजतंत्र सिद्धान्ततः पैतृक माना गया है, किन्तु व्यवहारतः उत्तराधिकारी के चुनाव में मंत्री भी भाग लेते थे। तामिल देश की राजनीतिक व्यवस्था के विकास में इस ग्रंथ का एक निश्चित स्थान है और यह विकास की एक अवस्था विशेष को सूचित करता है। इससे पता चलता है कि शासन का क्रम काफी फैला हुआ था। राजा की सहायता के लिए एक अधिकारी-वर्ग होता था और स्थानिक संस्थाएँ भी अपने अधिकारों का पालन करती थीं। इससे पता चलता है कि राजसत्ता एक ऐसे शरीर के समान थी जिसके सात अंग थे—मंत्री, किलेबन्दी, भू-प्रदेश, मित्रराष्ट्र, सेना, कोष और सब से ऊपर स्वयं राजा। मदुराय काँजी के अनुसार मंत्रियों से आशा की जाती थी कि वे सच बोलेंगे और अपने मत को निर्भय होकर प्रकट करेंगे। पुरोहितों और कर जमा करने वाले प्रजा के घनिष्ठ सम्पर्क में आते थे। राज्य का प्रमुख काम आक्रमण से रक्षा

* डाक्टर एस० कृष्ण स्वामी आयंगर के अनुसार एक परिच्छेद जो 'उगादों' (परिच्छेद ५१) से सम्बन्ध रखता है, इस बात की सब से अधिक, पुष्टि करता है। देखिए 'सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इन्डिया टू इन्डियन कलचर, परिच्छेद ६; 'सम पोलिटिकल आइडियाज आफ कुराल, आई० एच० क्वाटर्ली में भाग ६, पृष्ठ २४४ भी देखिए। वी० आर० आर० दीक्षित कृत स्टडीज इन तामिल लिटरेचर एन्ड हिस्ट्री परिच्छेद ४ भी देखिए।

और भीतरी शान्ति को बनाये रखना था। प्रजा की उन्नति और श्री वृद्धि के लिए भी राज्य की ओर से अनेक प्रकार की योजनाएँ चालू की जाती थीं।

तामिलों के गुण

प्राचीन तामिल विदेशियों का बहुत आदर-सत्कार करते थे। उनके अतिथि-सत्कार की यह भावना अति की सीमा तक पहुँची हुई थी। उनकी आचार नीति उच्च श्रेणी की थी। तामिल माताएँ अपने बच्चों के मस्तिष्क और हृदय में वीरत्व का संचार करने का प्रयत्न करती थीं।* तामिल स्त्रियाँ काफी स्वतंत्रता का उपभोग करती थीं। समाज में वे उन्मुक्त रूप से सम्मिलित होती थीं और नित्य मन्दिर जाती थीं। युवक और युवतियों के लिए विवाह से पूर्व प्रेम करने की सम्भावना रहती थी। अधिकांश तामिल काव्य का विषय प्रेम है। प्रेम की कवितायें रचने के लिए सुविस्तृत साहित्यिक नियम निर्धारित कर दिये गए थे। प्रेम-विवाहों का अच्छा प्रचार था। कुछ हद तक बहु विवाह भी प्रचलित था। प्रत्येक नगर में वेश्याओं का एक बाजार होता था। बड़े नगरों में सुशिक्षित राज-नर्तकियाँ होती थीं। यवन देशों से मधुर मदिरा के जहाज आते थे और राजा महाराजा तथा सरदार बड़े प्रेम से उनका पान करते थे।

खान-पान-आदि

प्राचीन तामिल मांस और भात खाते थे। मदिरा पान उनमें खूब प्रचलित था। अनेक प्रकार के मादक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध और जैन धर्म के प्रवेश के बाद मांस का प्रयोग

---

* प्राचीन कविताओं में एक कहानी मिलती है कि एक माता ने जब अपने पुत्र के युद्ध क्षेत्र से भाग आने की झूठी खबर सुनी तो उसने प्रतिज्ञा की कि जिन स्तनों से उसने अपने पुत्र को दुग्ध पिलाया, उन्हें वह फोट डालेगी। इसके पश्चात् हाथ में तलवार लेकर वह युद्ध क्षेत्र की ओर चली और वहाँ पर अपने पुत्र को मृतों में पड़ा देख कर खुशी से नाच उठी। तामिल माता सदा यह कामना करती थी कि उसका पुत्र आहत वक्ष लेकर ही घर लौटे, आहत पीठ नहीं!

बहुत कुछ बंद हो गया। सैनिकों का अपना एक अलग वर्ग बन गया था, इसलिए भी मांस-भक्षण सीमित हो गया।

मदुरा और कावेरी पट्टिनम जैसे बड़े-बड़े नगर उस काल में थे। लेकिन अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती थी। ऊँची श्रेणी के लोग पक्के घरों में रहते थे। इन घरों के प्रवेश द्वार बहुत प्रभाव पूर्ण होते थे। बारजों और गुम्बदों से ये घर सुसज्जित रहते थे। दुर्ग-निर्माण और किलेबंदी की कला भी काफी विकसित थी।

धार्मिक स्थिति

आदिम अवस्था में प्राचीन द्रविड वृक्षों और नागों की पूजा करते थे। उनके कितने ही आदि देवी-देवताओं के नाम आज भी मिलते हैं। उनकी उपासना में नृत्यादि भी किये जाते थे। बाद में, ब्राह्मणों से सम्पर्क होने के कारण, द्रविड़ों ने आर्यों के कितने ही देवताओं को भी अपना लिया—जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि। लेकिन मुरुग (सुब्रह्मण्य) द्रविड देवता ही प्रतीत होता है। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि द्रविड धर्म और दर्शन का ढाँचा मूलतः देशज ही है। हाँ, इस ढाँचे में आर्यों की धार्मिक भावनाओं का भी समावेश कर लिया गया है।

ललित कलायें

स्थापत्य में द्रविडों ने अच्छी उन्नति की थी। काव्य और मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र में उन्होंने मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया था। आठ छेदों वाली बांसुरी का वे प्रयोग करते थे। अनेक प्रकार की नक्काशियों का उन्होंने आविष्कार किया था। प्राचीन द्रविडों ने कला के ६ प्रकार निर्धारित किये थे। इनमें एक चित्र-कला थी। मनोरंजन के लिए पक्षियों के युद्ध, नृत्य, नाटक, संगीत-मंडली आदि के आयोजन किए जाते थे। नृत्य-कला का उन्होंने अच्छा विकास किया था और संगीत उनकी शिक्षा का एक अंग बन गया था। अनेक प्रकार के वाद्ययंत्र पाये जाते थे। देवताओं और राजाओं की प्रशस्ति में, उनकी विजयों और उपलब्धियों पर आधारित, नाटकों की रचना और उनका अभिनय किया जाता था।

सोलहवाँ परिच्छेद

व्यापार और व्यवसाय

तामिल साहित्य में समुद्री-यात्रा और व्यापार आदि का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। अति प्राचीन काल में तामिलवासी चालडियनों से व्यापार करते थे। बाहर जाने वाली सामग्री में टीक-वुड भी होती थी। मिश्र की ममीज भारतीय मलमल में लिपटी हुई पाई गई हैं। बाइबिल में जो तुकिम शब्द आया है वह तामिल शब्द थोकाई (मोर) का ही रूपान्तर है।

प्राचीन मिश्र का दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था। विश्वास किया जाता है कि ईसा पूर्व दूसरे मिलेनियम में मिश्र का राजा दक्षिण भारत से मलमल, आबनूस, दारचीनी तथा अन्य वस्तुएँ मँगाते थे। चीन से दक्षिण भारत में रेशम और चीनी आती थी। फिलस्तीन के राजा सालोमन भारतीय सन्दल, बन-मानुष और मोर, रुई, कपड़ा और अलोए-लकड़ी मँगाते थे। मिश्र से दक्षिण भारत के प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध के एक विचित्र स्मृति-चिन्ह का पता चला है। हाल ही में एक मिश्री अभिलेख (PAPYRUS OF OXYRNCHUS) मिला है जिसमें एक यूनानी महिला का वर्णन है जिसका जहाज़ कन्नड़ के किनारे पर दुर्घटना का शिकार हो गया था। जेम्सकेनेडी* के अनुसार ईसा पूर्व सातवीं और छठी शती के द्रविडों का एक उपनिवेश बेबीलोन में भी था। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि यूनानी चावल और मिर्च द्रविडों से ही लेते थे—जैसा इनके नामों, ओर्यजा और पिप्पलि, से पता चलता है। ईसाई संवत् के उदयकाल में दक्षिण भारत और भू-मध्य सागर के बीच काफी व्यापार होता था। दक्षिण भारत के कितने ही स्थानों में रोम के सिक्के, काफी अच्छी स्थिति में, पाये गए हैं।

---

* देखिए जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८ में प्रकाशित लेख—'अर्ली कामर्स आफ बेबीलोन विद इन्डिया, ७००—८०० बी० सी; इसी जर्नल, के १९०४ के अंक में आर० सीवेल कृत 'रोमन कामर्स इन इन्डिया', रालिन्सन कृत 'इन्टरकोर्स बीटुईन इन्डिया एन्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड (दूसरा संस्करण) और वारिंगटन कृत 'दि कामर्स बीटुईन रोमन एम्पायर एंड इन्डिया' भी देखिए।

तामिलकम के बन्दरगाह

तामिलकम के प्रमुख बन्दरगाह चेरा-राज्य में मुज़ीरी (क्रांगनोर) ट्रावनकोर रियासत में बकाराई (वैकारी), ताम्रपारिंत के किनारे पर कोरकाई और कावेरी के मुहाने पर पूहर (कावेरी पट्टिनम) थे। बाहर जाने वाली प्रमुख सामग्री में मोती, मिर्च, बिना बुना रेशम, पारदर्शी पत्थर, हीरे, लाल और कछुवे की पीठ—आदि होते थे। बाहर से मसाले, मूँगा, चकमक, काँच, पीतल, सीसा और मदिरा आती थी। रोमन भारत के सूती माल को बहुत पसन्द करते थे और बहुत बड़ी मात्रा में मँगाते थे। कावेरी के मुहाने पर स्थित पूहर में सुदूर देशों से घोड़े आकर उतरते थे। तोंडी में जो अब रामनद ज़िला में है, आघिल, महीन् रेशम, कपूर, चीनी रेशम और सन्दल, इत्र और नमक आदि आता था।

दक्षिण भारत और भू-मध्य सागर के बीच व्यापार पर पश्चिम के विद्वानों ने काफी प्रकाश डाला है जैसे (१) स्ट्राबो जो आगस्टस के काल में हुआ था, (२) प्लाइनी जिसने ७७ ईसवी में नेचुरल हिस्ट्री जैसे सन्दर्भ ग्रंथ की रचना की थी, (३) एक अन्य गुमनाम लेखक जिसकी पुस्तक में भारतीय सागर का यात्रा-वर्णन है। इस पुस्तक में गुमनाम लेखक ने भारत के पश्चिमी किनारे का अपने अनुभव पर आधारित वर्णन किया है (४) तालेमी (लगभग १५० ईसवी) जिसकी पुस्तक 'गाइड टू ज्यागरफी' में भारत की बन्दरगाहों और उनकी भौगोलिक स्थिति का अच्छा वर्णन मिलता है।

भारतीय सागर के यात्रा-वर्णन वाली पुस्तक (पेरिप्लस) में रोम के दक्षिण भारत से व्यापार का सविस्तर वर्णन मिलता है। प्लाइनी ने अपनी पुस्तक में इस बात का प्रबल विरोध किया है कि रोम का सारा सोना भारत की जेब में चला जा रहा है और उसके बदले में अनुत्पादक अय्याशी की चीज़ें मँगाई जा रही हैं। तामिल साहित्य में और तत्कालीन साहित्यिक परम्परा में भी इन बन्दरगाहों और उनके द्वारा होने वाले व्यापार का प्रचुर मात्रा में उल्लेख हुआ है।

सोलहवाँ परिच्छेद

कपड़े का व्यवसाय

कपड़े के व्यवसाय में, इसमें सन्देह नहीं, प्राचीन द्रविडों ने काफी उन्नति की थी। तामिल साहित्य में ३६ प्रकार के कपड़ों का उल्लेख मिलता है जो या तो तामिल नाडू में बनते थे या विभिन्न उत्पादन-केन्द्रों से मँगवाये जाते थे।*

विभिन्न नगरों और ग्रामों का प्रमुख उत्पादन केन्द्रों से सड़कों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित था। आयात-कर की व्यवस्था थी और इसके लिए उपयुक्त अधिकारी नियुक्त थे।† यवन सौदागरों ने यहाँ आकर अपनी बस्तियाँ बना ली थीं। मानसून की हवाओं के आविष्कार ने उनकी यात्राओं को सुगम कर दिया था। लाल सागर में अब डाकुओं का भी खतरा नहीं था—ईसा की प्रथम शती में रोमनों ने उनका अन्त कर दिया था। आयात-निर्यात कर के अलावा सड़कों पर और राज्यों की सीमाओं पर भी चुंगी ली जाती थी। भूमि-कर नकद या उपज के रूप में लिया जाता था। उपज के एक छठे भाग पर राजा का अधिकार होता था। सिंचाई की सरकारी व्यवस्था से जो लाभ उठाते थे, उनसे भी कर लिया जाता था।

पूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध

महान् चोलों के काल में तामिल का सुमात्रा, जावा और मलाया आर्कीपैलेगो के अन्य द्वीपों से विस्तृत व्यापार होता था। इतिहास के पूर्व काल में दक्षिण भारत के निवासियों के मलाया प्रायद्वीप में जाकर बस जाने के प्रमाण मिलते हैं। सम्भवतः पल्लव शासन के प्रारम्भ में ये लोग मलाया में जाकर बस गए थे।

---

* शिल्पधिकरम, पृष्ठ ३३६ और एम० राघव कृत 'दि एन्शेन्ट द्राविडियन इन्डस्ट्रीज़ एन्ड कामर्स' शीर्षक तामिल लेख देखिए जो तामिल एन्टीक्वेरी के आठवें अंक में छपा है।

† संगम-काल के एक ग्रंथ पट्टिनपलाई में कहा गया है कि ये अधिकारी पैदा हुए गल्ले को, अगर उसका तुरंत अनुमान नहीं लगा पाते थे तो एक जगह आँगन वगैरह में जमा कराकर उस पर सिंह मूर्ति वाली राज्य की मोहर लगा देते थे और उस वक्त तक माल को मुक्त नहीं करते थे जब तक कर का हिसाब साफ नहीं हो जाता था।

समुद्र पार के प्रदेशों की देख-भाल न कर सकने के कारण कुलोत्तुंग के शासन काल में व्यापार बहुत कम हो गया और अन्ततः यह अरबों के हाथ में चला गया। फ्रैंच और डच विद्वानों ने इन्डोचीन और मलाया में भारतीय संस्कृति के प्रवेश और विस्तार पर अच्छा प्रकाश डाला है। दक्षिण भारत से यह सांस्कृतिक प्रसार शुरू हुआ था।* परवर्ती काल तक में दक्षिण के बन्दरगाहों से काफी व्यापार होता रहा, लेकिन अब इस व्यापार के सूत्रधार अरब थे। मार्कोपोलो ने, जो तेरहवीं शती में भारत आया था, लिखा है कि कयाल का बन्दरगाह बहुत व्यस्त और गर्म रहता था।

[२]

साहित्य

तामिल—एक प्राचीन भाषा

यह सहज मान्य है कि द्रविडों में तामिल ही ऐसे थे जिनके पास, सब से पहले, अपना साहित्य था। अनुश्रुति है कि अगस्त्य ऋषि ने, जिन्होंने ईसा पूर्व सातवीं शती में ब्राह्मणों के एक दल के साथ सुदूर दक्षिण का अभियान किया था, भाषा को पूर्ण रूप दिया था। कहा जाता है कि अगस्त्य ने एक व्याकरण-सम्बन्धी ग्रंथ की रचना की थी जो लुप्त हो चुका है। जो भी हो, यह निश्चित है कि तोल्कप्पियर के काल से पहले तामिलों ने अपने साहित्य का अच्छा विकास कर लिया था। तोल्कप्पियर (वैयाकरण), विद्वानों के मत है, ईसा पूर्व तीसरी शती से पहले भले ही हुआ हो, बाद में नहीं। तोल्कप्पियर के समय से संस्कृत का प्रभाव पड़ना शुरू हुआ और उत्तरी संस्कृति में रंगे हुए कितने ही लेखक तामिल में उत्पन्न हुए। ईसा की पहली और दूसरी शती में लिखी हुई प्राचीन तामिलों की कुछ कविताएँ आज भी उपलब्ध हैं।† इन से

---

* पूरे विवरण के लिए ग्रेटर इन्डिया सोसायटीज़, नम्बर एक और तीन देखिए। पी० एन० बोस कृत 'दि इन्डियन कालोनी आफ चम्पा और दि हिन्दू कालोनी आफ कम्बोदिया भी देखिए। ए० के० कुमारस्वामी कृत इन्डियन एन्ड इन्डोनेशियन आर्ट' भी देखने योग्य है।

† प्राचीन तामिल कविताओं में दस दशक, कालिथोकाई, पत्थूप्पात्तू और आहनुरू तथा पुराणानुरू नामक प्रसिद्ध संकलनों का उल्लेख किया जा सकता

हमें प्राचीन रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहार की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

अगस्त्य काल

ईसा संवत् की प्रारम्भिक शतियों में मदुरा में एक सुप्रसिद्ध विद्यापीठ थी। तामिल संघम इस का नाम था। इसमें बहुत बड़े-बड़े विद्वान् थे। सत्रहवीं शती की फ्रैंच एकेडमी की भाँति इस संघम का प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक कृतियों का एक मान निर्धारित करना था—'संघम साहित्य' श्रेष्ठता का सूचक बन गया और सब यही चाहते थे कि श्रेष्ठता के इस स्तर तक पहुँचें। जिस कृति पर संघम की छाप नहीं होती थी, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता था। इसी प्रतिष्ठित संघम में कुराल का सुप्रसिद्ध लेखक तिरुवल्लुवर हुआ था। इस ग्रंथ (कुराल) में जीवन के चार विषयों का विवेचन किया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तामिल साहित्य में इस ग्रंथ का बहुत ऊँचा, सर्वश्रेष्ठ, स्थान है। उच्चकोटि के विशुद्धतम विचार इसमें संग्रहीत हैं।*

संघम काल के कवि

संघम काल का एक और प्रसिद्ध कवि चेरा राजकुमार इलांगो आदिगल था। वह लाल चेरा सेंगुत्तुवान का भाई था। वह जैन था। उसने शिल्पत्थिकरम नामक महाकाव्य की रचना की थी।

है। इनमें ऐसे गीत संकलित हैं जिन्हें दरबारी कवि और पर्यटनशील भचाट गाते थे।

* "इस ग्रंथ की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसका लेखक जाति-धर्म सम्प्रदाय से ऊपर उठकर मानव मात्र को सम्बोधित करता है। उसने मानव की निहित नैतिकता और उसकी बुद्धि को सम्बोधित किया है और सत्य को तथा जीवन के श्रेष्ठ गुणों को उसने अपने सामने रखा है। एक भाग में उसने मानव के पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला है। विचार, भाव, भाषा और काव्य—सभी दृष्टियों से यह काव्य श्रेष्ठ है। आध्यात्मिकता भी इस ग्रंथ में उच्चकोटि की है। हृदय के कोमलतम भावों का उसने बहुत ही सफल ढंग से विश्लेषण किया है।—जी॰ यू॰ पोप की पुस्तक 'दि कुराल' के पृष्ठ १ पर दिये गए एम॰ एरियल के उद्धरण से।

तामिल काव्य में उसका बहुत ऊँचा स्थान है। कोवलन और कन्नकी की कथा इसमें वर्णित है।

जिन पाँच महाकाव्यों का अब तक विद्वानों को पता चला है उनमें मणिमेखलाई (हीरे की पेटी) को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखता है। इसके रचयिता का नाम सत्तावनर था। वह इलांगो आदिगल का समकालीन था। मणिमेखलाई कोवलन की कन्या का नाम था। कोवलन, जैसा हम बता चुके है, शिल्पत्थिकरम का चरित नायक है।

अन्य काव्य

महाकाव्यों में तामिल सर्वोपरि हैं। पाँच महाकाव्य और पाँच लघुकाव्य उनके आज दिन भी उपलब्ध हैं।* इनमें से कई जैन और बौद्ध विद्वानों के रचे हुए हैं।

---

* शेष तीन महाकाव्य वलमपथी, चिन्तामणि और कुण्डलकेशी हैं। वलमपथी एक जैन ग्रंथ है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसमें जैन मुनियों का वर्णन है कुण्डलकेशी बौद्धों का दूसरा श्रेष्ठ ग्रंथ है। यह ग्रंथ सम्भवतः लुप्त हो चुका है। इसका कुछ परिचय हमें दो जैन ग्रंथों से मिला है। इसमें एक वैश्य युवतीकुण्डलकेशी की कथा वर्णित है जो कट्टर बौद्ध थी।

चिन्तामणि एक महान् जैन ग्रंथ है। इसकी रचना जैन मुनि तीरुथक्क देवर ने की थी। वह चोल राजघराने का रत्न था और वानजी या करूद में रहता था। इस ग्रंथ में जैन राजा जीवकन की कथा वर्णित है। उसके जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ इसमें दी गई हैं। प्रत्येक घटना नीति का उपदेश देती है। इस ग्रंथ की जैन और हिन्दू सभी ने प्रशंसा की है और तामिल साहित्य की चुनी हुई रचनाओं में इसका स्थान है। यह ग्रंथ इतना जनप्रिय था कि इसके व्यापक प्रचार को रोकने के लिए सेक्किज़र ने पेरियापुराणम की रचना की थी जिसमें शैव सन्तों की गाथा वर्णित है। (सेक्किज़र ग्यारहवीं शती में हुआ था)

पाँच लघुकाव्य निम्न थे—नीलकेशी, वृहत् कथा या पेरुन्रकथाई, यशोदार काव्य, नाग कुमार काव्यम, और चूलमणि। इनमें से प्रथम जैन ग्रंथ था जिसके रचयिता और उसके काल का पता नहीं चलता। दूसरे ग्रंथ का रचयिता भी जैन था जो ईसा की पाँचवीं या छठीं शती में हुआ था। उसका नाम सम्भवतः कोंगुवल था। वत्सदेश के राजा उदयनकुमार की कथा इसमें वर्णित है। शैली आदि की दृष्टि से यह चिन्तामणि से भी आगे बढ़ा हुआ है। यशोदराकाव्यम

सोलहवाँ परिच्छेद

जैन और तामिल साहित्य

अब तक तामिल साहित्य का जो संक्षिप्त परिचय हम ने दिया है, उससे यह प्रत्यक्ष है कि तामिल साहित्य बौद्ध और जैन विद्वानों का कितना ऋणी है।* ब्राह्मणों के विरोध में उन्होंने देशज भाषा को आगे बढ़ाया और दक्षिण भारत के लोगों में आर्यों के चिन्तन और ज्ञान का प्रसार किया। परिणाम स्वरूप द्रविडों के साहित्य में जाग्रति और चेतना की एक लहर-सी दौड़ गई और उत्तर भारत से प्राप्त नयी भावनाओं को इन्होंने अपने साहित्य में प्रकट किया।†

पल्लव-काल में साहित्य

पल्लवों के काल में जो साहित्य रचा गया वह अधिकांशतः श्रुतिभाष्य था। यह वैष्णव अलवर और शैव नयनमारों का

का रचयिता, असंदिग्ध रूप से, जैन था। युवकों के सुधार और जीवन में जो आगे बढ़े हुए हैं उनके आचार-विचार और सिद्धान्तों की पाठ्य पुस्तक इस ग्रंथ को हम कह सकते हैं। पथ प्रदर्शन के उद्देश्यसे इस ग्रंथ की रचना की गई थी अन्तिम लघुकाव्य चिन्तामणि का रचयिता जैन था। यह जैनों के महापुराण पर आधारित है। संसारिक सुखों का त्याग और मोक्ष का प्राप्ति इसका प्रमुख विषय है। पांड्य राजा सेन्न के पिता अवन्ती चूनमणि को यह ग्रंथ समर्पित है (लगभग ६५० ईसवी)। उसी के काल में यह रचा गया था।)

* बुद्धिमित्र रचित वीरसोळियम तामिल व्याकरण पर एक पद्यबद्ध निबन्ध है। यह ग्रंथ वीर राजेन्द्र चोल (१०६२ ईसवी) को समर्पित है। जैसा इसके नाम से भी प्रकट होता है, इसका रचयिता बौद्ध था। तामिल जैनों की साहित्यिक कृतियों का क्षेत्र और अधिक विस्तृत है। जिनका उल्लेख किया जा चुका है उनके सिवा चूड़ामणि निघण्टु नामक एक शब्द कोष भी मिलता है। इसका निर्माण मण्डल पुरूदर ने ईसा की दसवीं शती के मध्य में किया था। यप्पारूगल-वृत्ति और करिकाई जैसी कई व्याकरण सम्बन्धी रचनाएँ भी मिलती हैं। ये दोनों उच्च कोटि की कृतियाँ मानी जाती हैं। बारहवीं शती के गुण वीर पण्डित लिखित नेमिनदम और यावनादि (तेरहवीं शती) कृत नान्नूल भी उल्लेखनीय हैं। नीति ग्रंथों में जैन विद्वानों द्वारा लिखे ग्रंथों—नलादियार और पलामोली, आरनेरिचरम और सिरापंचमलाई का उल्लेख किया जा सकता है।

† दि जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग २२, पृष्ठ २४६।

काल था। इन सन्तों ने जो मंत्र और गीत अपने-अपने देवताओं की स्तुति में रचे, पवित्र निधि की तरह तामिलों ने उन्हें सुरक्षित रखा। आगे चल कर वैष्णव मंत्र और स्तुतियों नलयीर प्रबंधम में सम्मिलित कर लिए गए और शैव अदियारों की रचनाएँ जो इधर-उधर बिखरी हुई थीं ग्यारह तिरुमुरारियों में, नम्बियान्दर नाम्बी ने (लगभग ९७५—१०३५ ईसवीं) संग्रहीत किया।

परवर्ती चोलों के काल का साहित्य

तामिल साहित्य के इतिहास में ईसा की बारहवीं शती बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस काल में तामिल के सब से बड़े मध्य कालीन कवि हुए हैं। कुलोत्तुंग प्रथम का राज कवि जमकोन्दन, जो कविचक्रवर्ती कहलाता था और जिसने कलिंगत्तुप्परणि जैसे क्लासिक ग्रंथ की रचना की थी, इसी काल में हुआ था। सुप्रसिद्ध भाष्यकार अरियारकुनल्लर भी लगभग इसी काल में हुआ था। कुलोत्तुंग द्वितीय के शासन काल में शैव सन्त सेक्किलर ने पेरियपुराणम की रचना की थी। रामायण का अनुवाद कर्त्ता अमर काम्बर और ओत्ताकुत्तार जिसने तीन सुप्रसिद्ध उलास रचे थे और नलावेन्ब का ख्याति प्राप्त रचयिता पुगालेन्दी—ये सब चोल दरबार को, १११८ से ११७८ ईसवी तक, सुशोभित करते रहे। चौदहवीं शती में मुसलमानों के आगमन से तामिल साहित्य के इतिहास के क्लासिकल काल का अन्त हो जाता है।

कन्नड़ साहित्य

तामिल के पश्चात् कन्नड़ साहित्य का, सम्पन्नता की दृष्टि से, उल्लेख किया जा सकता है। कन्नड़ की प्रारम्भिक साहित्यिक कृतियों में मौलिकता का अभाव दिखाई देता है। अधिकांश कृतियाँ या तो संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद हैं या रूपान्तर मात्र हैं। कन्नड़ साहित्य को मौलिकता प्रदान करने में जैनियों का काफी हाथ रहा है। बारहवीं शती के मध्य तक कन्नड़ साहित्य पर प्रमुखतः जैनियों का ही एकाधिकार रहा, किन्तु उन्होंने केवल साम्प्रदायिक दृष्टि से ही साहित्य की रचना नहीं की वरन् विशुद्ध ज्ञान को भी अपनी दृष्टि के सम्मुख रखा। दसवी शती कन्नड़ साहित्य के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

होयसालों का शासन मैसूर में जम गया था। कवियों और विद्वानों को उन्होंने काफी संरक्षण दिया था। उनके शासन-काल में बहुत से जैन, शैव और लिंगायत ग्रंथकार हुए।* तेरहवीं शती में उल्लेखनीय और उत्कृष्ट जैन कवियों का एक दल तैयार हो जाता है।

तेलुगु साहित्य

आंध्रों को इस बात का गर्व है कि उनकी भाषा तेलुगु संसार की मधुरतम और उत्कृष्ट भाषाओं में से है। इसका साहित्य सुन्दर है, पर विस्तृत नहीं है। अधिकांश तेलुगु साहित्य, वरन् समूचा तेलुगु साहित्य, आधुनिक काल की ही देन है। भाषा के संस्कार के प्रथम प्रयत्न, एक तेलुगु विद्वान् के अनुवाद, नान्याभाट ने ग्यारहवीं शती में किये थे। महाभारत के प्रथम तीन पर्वों का भी उसने अनुवाद किया था।†

तेलुगु साहित्य का काफी बड़ा भाग संस्कृत साहित्य के अनुवाद या रूपान्तर से भरा हुआ है। कृष्णदेव राय का काल तेलुगु साहित्य का उज्ज्वल काल माना जाता है। कृष्णदेव राय विद्या और साहित्य का बहुत प्रेमी था और उसके चारों ओर जो विद्वान जमा हो गए थे उनमें तेलुगु काव्य का पितामह अल्लसानी-पेड्डन भी था।‡ तेलुगु में मौलिक काव्य का उसे जनक माना जाता है।

पेड्डन के सिवा कृष्णदेव राय के दरबार में अन्य कवि भी रहते थे—जैसे नन्दितिम्मण, पारिजात पहरण का रचयिता आदि।

---

* ई० पी० राइस—दि हिस्ट्री ऑफ कन्नरीज लिटरेचर पृष्ठ १४, दि इण्डियन एन्टो क्वेरी भाग ४, पृष्ठ १५

† जी० आर० सब्रुम्याह पुन्तलू कृत सम माइल स्टोन्स इन तेलुगु लिटरेचर।

‡ उसकी सब से अधिक प्रसिद्ध कृति स्वरोचिश मनुचरित है। इसकी सामग्री उसने मार्कण्डेय पुराण से ली है। इसमें एक ब्राह्मण प्रवराख्य की रोचक कथा वर्णित है जिसके हृदय में मन के जन्म स्थान, हिमालय की चोटी, पर पहुँचने की आकांक्षा निहित थी।

[३]

धार्मिक विकास

अब हम द्रविड देश में धार्मिक आन्दोलनों की प्रगति पर प्रकाश डालेंगे। कतिपय विद्वानों के अनुसार प्राचीन द्रविड अपने धर्म का पालन भूत-नृत्य और पेड़ों में बसने वाले भूत-प्रेतों की उपासना तक सीमित था। आगे चल कर लिंग और नाग की उपासना उनके धार्मिक जीवन का अंग बन गई। उत्तर से आकर जो ब्राह्मण यहाँ बस गए थे (लगभग सातवीं शती) वे अपने साथ आर्य धर्म भी लाए थे जिसे द्रविडों ने धीरे-धीरे अपने में समा लिया। फिर भी उनके धर्म की मूल भूमि द्रविड ही थी जिसकी ऊपरी इमारत आर्य थी। ब्राह्मणों ने द्रविडों के बीच अपनी प्रमुख सामाजिक भावनाओं का—व्यवस्था का—भी प्रवेश किया, जैसे वर्ण व्यवस्था। अपने आचार-विचार और नैतिकता के कारण ब्राह्मणों ने द्रवि देश में भी अच्छा सामाजिक स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।* कोई आश्चर्य नहीं जो ईसाई संवत् की प्रारम्भिक शतियों में ब्राह्मणों का प्रभाव इस सीमा तक बढ़ गया कि तामिल लोग उनके देवता कृष्ण, बलदेव, वासुदेव, और इन्द्र आदि की उपासना करने लगे। पूहर (कावेरी पट्टिनम) में विशेष रूप से इन्द्रोत्सव मनाया जाता था। अति प्राचीन चोल और पांड्य राजाओं में से कुछ ने ब्राह्मणों के निर्देशन में अनेक यज्ञ भी किए थे।

जैन धर्म का प्रवेश

ब्राह्मणों को जैन और बौद्ध दोनों का काफी विरोध सहना पड़ा। दक्षिण में जैनियों का प्रवेश चन्द्रगुप्त मौर्य से भी पहले हो गया था; मैसूर में जैन संन्यासी भद्रबाहु (ईसा पूर्व २९७) के आगमन का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। उसके बाद से तामिल देश में जैन धर्म का प्रवेश और प्रसार बढ़ता ही गया और ईसा की दूसरी

* प्राचीन तामिल साहित्य में ब्राह्मणों को 'महान पुरुष' कहा गया है। उन्हें श्रेष्ठ और सत्यवादी की उपाधियों से विभूषित किया गया है और उन्हें 'धरती के देवता' तक कहा है।

शती तक जैन धर्म की जड़ें मज़बूती के साथ जम गईं।* पाँचवीं शती में कालाभ्रों के संरक्षण में जैन धर्म ने और अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। कालाभ्र वाडुगु-करनाटक लोग थे जिन्होंने मदुरा पर विजय प्राप्त कर कुछ समय तक वहाँ शासन किया था। मदुरा के जैनों के निर्देश से कालाभ्रों ने शैवों का दमन किया। इसी काल में जैनों ने नलदियार की रचना की थी।

कालाभ्रों के देश से बहिष्कृत हो जाने के बाद पांड्य राजाओं में भी कुछ जैन हुए। लेकिन लगभग सातवीं शती के मध्य में शैव सन्त साम्बन्दर ने मदुरा के कुन पांड्य को जैन धर्म से हटा कर शैव मत में दीक्षित कर लिया था। इस घटना से जैन धर्म को काफी आघात लगा।

मदुरा के जैनों के विरुद्ध जब साम्बन्दर इस प्रकार सफलता-पूर्वक प्रयत्न कर रहा था, तब ठीक उसके समान ही उसका समकालीन अप्पर जो तिरुनावुक्करसार नाम से प्रसिद्ध है, पल्लव देश में जैनों के विरुद्ध मोर्चा ले रहा था। उसने महेन्द्रवर्मन को शैव बना लिया था। शैव नयनमारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप जैन-धर्म का तामिल-देश से लोप हो गया। इस विदेशी धर्म (जैन) को नष्ट करने में वैष्णव अलवारों का भी योग था। कितने ही जैनियों ने तो शैव मत को ग्रहण कर लिया, जो न कर सके वह भाग कर मैसूर चले गए जहाँ उन्हें सुरक्षित शरण मिल गई। कन्नड़ देश में जैन धर्म के साथ अपेक्षाकृत अच्छी नीति बरती गई। मैसूर के गंग राजाओं ने

---

* अशोक-काल के ब्राह्मी अभिलेख जो मदुरा, रामनद और तिनेवली के जिलों में पाए गए हैं, जैनियों के ही माने जाते हैं जो उन गुफाओं में रहते थे जिनमें ये अभिलेख खोदे हुए मिले हैं। शिलप्पधिकरम में चोल और पांड्य राज्य के कई जैन मन्दिरों का वर्णन मिलता है। इलांगो आदिगल का रचयिता जैन था। मदुरा जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। संगम काल के जैन अर्हत की प्रतिमा का पूजा करते थे—अशोक वृक्ष के नीचे, बैठी हुए मुद्रा में, यह प्रतिमा स्थित थी और इसके सिर पर तीन छत्र थे। तामिल नरेशों की नीति सभी विदेशी धर्मों के प्रति उदारता की थी। मणिमेखलाई में तामिल जैन-उपदेशों का काफी अच्छा और सही वर्णन दिया हुआ है।

(लगभग २००—१००० ईसवी) जैन धर्म को बहुत कुछ संरक्षण दिया।*

बौद्ध धर्म

द्रविड देश में बौद्ध धर्म का इतिहास काफी रोचक है। अशोक के काल से बहुत पहले ही इस धर्म के सिद्धान्तों से यहाँ के लोग परिचित हो गए थे। कहा जाता है कि स्वयं भगवान बुद्ध भी दक्षिण भारत में नागदेश और सिंहल तक गए थे। यद्यपि अशोक तामिल देश में अपने धर्म का प्रचार करने में अधिक क्रियाशील नहीं रहे, फिर भी निजी रूप में बौद्ध भिक्षुओं ने घूम-घूम कर तामिल देश में बौद्ध धर्म का अच्छा प्रचार कर दिया था। ईसा संवत् की प्रारम्भिक शतियों में चोल देश में नागपट्टिनम, काँजी वरम और तोन्डमाण्डलम बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। यह भी कहा जाता है कि नागपट्टिनम में अशोक के छोटे भाई महेन्द्र ने एक बौद्ध प्रचार-संस्था का जन्म दिया था। मणिमेखलाई से भी इस बात की पुष्टि होती है कि पूहर में बौद्ध धर्म का प्रचार निर्बाध गति से होता था। खुद मणिमेखलाई का रचयिता बौद्ध था। इसी ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि काँजी वरम में भी कई बौद्ध मठ स्थापित थे।

---

* मुशकर और मुखर (ईसा की छठी शती) के काल में बौद्ध धर्म राजधर्म बन गया था। गंगनरेश अविनीत (४३०-८२ ईसवी), माधव के बाद छठा राजा, खुद जैन था। अविनीत का उत्तराधिकारी दुर्विनीत सुप्रसिद्ध जैन वैयाकरण और गुरु पूज्यपाद का शिष्य था। अन्य गंग राजाओं में विशेष रूप से रच्छमल्ल सत्यवाक्य (८०७-६०७) का उल्लेख किया जा सकता है जिसने जैनों के बुझते हुए प्रभाव में फिर से जान डाली थी। उसके शासन काल में ही प्रसिद्ध चामुण्डराय ने, जो उसका मंत्री था, गोमतेश्वर की भीमकाय प्रतिमा स्थापित की थी। मैसूर पर जब होयसालों का प्रभुत्व स्थापित हो गया तब जैन धर्म का भी वहाँ भाग्योदय हुआ। जैन धर्म के ह्रास का काल उस समय से शुरू होता है जब विष्णुवर्धन ने जैन धर्म को छोड़ कर शैव मत को अपना लिया था। यह धर्म परिवर्तन सुप्रसिद्ध वैष्णव सुधारक रामानुज के प्रभाव से हुआ था।

बौद्ध बनाम अन्य सम्प्रदाय

बौद्ध धर्म को प्रतिद्वन्द्वी मतों, ब्राह्मण और जैन मतों, से गहरा संघर्ष करना पड़ा। उसके विरोध में अनेक मत और सम्प्रदाय संगठित हो गए थे। फिर भी, ६४० ईसवी में जब हुएन्त्सांग काँजीवरम गया तो उसने देखा कि वहाँ एक सौ बौद्ध मठ हैं जिनमें दस हजार भिक्षु रहते हैं। पल्लवों की इस राजधानी में ही सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मपाल, चीनी यात्री का गुरु, सातवीं शती में उत्पन्न हुआ था। बौद्ध और ब्राह्मणों के बीच बहुधा शास्त्रार्थ—प्रतियोगिता—चलती रहती थी।*

बौद्ध धर्म का लोप

बौद्धों का दक्षिण भारत से अन्त में लोप हो गया। इसका प्रमुख कारण काँजीवरम के शास्त्रार्थ और प्रतियोगिता में उनकी पराजय था (७८८ ईसवी)। लेकिन, बौद्धों के बहिष्कृत हो जाने पर भी, बौद्ध धर्म का प्रभाव बना रहा। लीडन के दानपत्र से पता चलता है कि चोल देश में ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में दो बौद्ध मन्दिर थे। आगे चल कर, तेरहवीं शती में भी, दक्षिणी अर्काट के जिला में बौद्धों के एक उपनिवेश का पता चलता है।

भक्ति-सम्प्रदाय

जैन और बौद्ध जैसे शिव-द्रोही धर्मों का नाश करने में शैव नयनमारों और वैष्णव अलवारों ने काफी भाग लिया था। इन्होंने एक नये पंथ को जन्म दिया। यह भक्ति पंथ था—अपने इष्टदेवता के प्रति अटूट और गहरी भक्ति इस पंथ का आधार थी। इस पंथ

* शैव सन्त तिरु-ज्ञान साम्बन्दर का बौद्धों से तंजोर जिला के तेलीचरी नामक स्थान में शास्त्रार्थ हुआ था। उसने बौद्धों के नेता नन्दि को इस शास्त्रार्थ में पराजित किया था (सातवीं शती)। आठवीं शती में वैष्णव सन्त तिरुमंगाई अलवार का भी बौद्धों से शास्त्रार्थ हुआ था। कहा जाता है कि उसने नेगापट्टम की बौद्ध की स्वर्ण प्रतिमा को जीत लिया था और उसका उपयोग श्रीरंगम के मन्दिर की दीवारों के निर्माण में किया था। चिदाम्बरम में मणिक्कावसागर और सिंहल के बौद्धों के बीच शास्त्रार्थ होने का भी उल्लेख मिलता है।

के दो सम्प्रदाय थे—शैव भक्तों का सम्प्रदाय और वैष्णव भक्तों का सम्प्रदाय।

नयनमार

शैव शिव को सर्वोपरि मानते हैं। शिव मंगलकारी भी हैं और प्रलयंकर भी। शैव सम्प्रदाय के संस्थापक नयनमार थे। नयनमारों का चरित्र सन्तों के समान था और शिव में उनकी भक्ति सीमाहीन थी। शैव साहित्य के अनुसार ६३ नयनमार हुए हैं। इनमें सब से अधिक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय अप्पर, साम्बन्दर, सुन्दरार, माणिक्कावसागर थे। इस सन्तों के रचे हुए भक्ति के भजन अत्यन्त भावपूर्ण हैं। अपने साहित्य से इन सन्तों ने देश में जान-सी डाल दी थी और अपने अनुयायियों में असीम उत्साह भर दिया था। अन्य ईश्वरद्रोही मतों का ये तीव्र विरोध करते थे। अप्पर, साम्बन्दर और सुन्दरार के भक्ति सम्बन्धी भजन एक साथ संकलित हैं और थेवरम कहलाते हैं। माणिक्कावसागर के गीत तिरुवाचकम कहलाते हैं। नयनमार, मोटे रूप में, पल्लवों के काल में हुए थे। दक्षिण में मन्दिर-निर्माण-काल को विकसित करने में इन्होंने काफी योग दिया था।

अलवारों का काल

वैष्णव अलवारों का काल २०० से ८०० ईसवी तक माना जाता है। ये बारह सन्त थे।* विष्णु की उपासना में इन्होंने गीत और स्तुतियाँ रची थीं। ये स्तुतियाँ विष्णु के विभिन्न अवतारों से

---

* अलवारों की तीन श्रेणियाँ थीं—एक प्रारम्भिक, दूसरी मध्यवर्ती और तीसरी परवर्ती—(डाक्टर एस० के आयंगर, 'सम कन्ट्रीब्यूशन्स ऑफ साउथ इन्डिया टू इन्डियन कलचर, पृष्ठ २६२)। इनके नाम हैं—पोयागई अलवार, पेयालवार और तिरुमली शैलवार ; नम्मालवार, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरियालवार और उसकी कन्या अन्दाल ; तोन्दरादिप्पोदि तिरुप्पान अलवार और तिरूमंगाई अलवार;—इनके तिथि-काल के लिए देखिए टी० ए० गोपीनाथ राव कृत श्री वैष्णवाज़ एस० के० आयंगर कृत अर्ली डेवलपमैंट आफ दी वैष्णविज्म इन साउथ इन्डिया और एम० राघव आयंगर कृत अलवार काल कलानिलई।

सम्बन्ध रखती हैं। इन अलवारों द्वारा रचा हुआ भक्ति-काव्य अधिकांशतः वैदिक साहित्य पर आधारित है। इन्होंने वेदों और वैदिक साहित्य से जितनी अधिक प्रेरणा प्राप्त की है, उतनी शैव अदियारों ने भी नहीं प्राप्त की है। उपासना के समय वैष्णव मन्दिरों में इनके भजनों को हमेशा गाया जाता है। भक्ति के ये दोनों—शैव और वैष्णव सम्प्रदाय—अवैदिक मतों, जैन और बौद्ध धर्मों, का विरोध करने में एक हो गये थे। इस संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के बाद उन्होंने आपस में एक-दूसरे का विरोध करना शुरू कर दिया—जैसा उनके विरोधी भजनों से स्पष्ट है।

महान् आचार्य शङ्कर

इनके पश्चात् आचार्यों का उदय हुआ जिन्होंने अपने प्रगाढ़ पांडित्य और धार्मिक ज्ञान से हिन्दू धर्म को नया जीवन प्रदान किया। इन आचार्यों में सब से अग्रणी शंकराचार्य थे। वह मालाबार के नम्बूदरी ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। उन्होंने भारत-भर में विस्तृत भ्रमण किया था। बनारस में उनका अनेक पण्डितों और ज्ञानियों से साक्षात्कार हुआ। उनके ग्रंथों में सब से अधिक महत्वपूर्ण उनके उपनिषदों, वेदान्त सूत्रों और भगवत् गीता के भाष्य थे। उन्होंने अद्वैत दर्शन का आविष्कार और संस्थापन किया था। शंकर के प्रचार और शिक्षा के फलस्वरूप ब्राह्मणों में एक नये सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय के ब्राह्मण अपने को समर्थ कहते थे।

शंकराचार्य जगत् गुरु के रूप में प्रख्यात हुए। आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा कोई न था जो उनके सम्मुख ठहर सके। उन्होंने अनेक मठों की स्थापना की थी। इनमें शृंगेरी का मठ सब से अधिक महत्वपूर्ण था। उत्तर भारत में बौद्ध धर्मका ह्रास करने में उनका बहुत बड़ा हाथ था। बत्तीस वर्ष की अल्प अवस्था में ही उनका शरीरान्त हो गया था। उनका काल अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है, लेकिन सम्भवतः वह ईसा की आठवीं शती में हुए थे।*

---

* देखिए इसी पुस्तक के बारहवें परिच्छेद में शङ्कराचार्य का विवरण।

रामानुज

ग्यारहवीं शती में द्रविड़ भारत में एक और बहुत बड़े विद्वान, विशिष्टाद्वैत के संस्थापक, वैष्णवों द्वारा पूजित और सम्मानित आचार्य रामानुज ने जन्म लिया। रामानुज का शिक्षा-काल कांजीवरम में बीता और शीघ्र ही विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो गया और, समय बीतते-न-बीतते महान् वैष्णव आचार्य अलवान्दर की गद्दी का उत्तराधिकार उन्हें प्राप्त हो गया।* त्रिचनापल्ली के निकट श्रीरंगम उनका प्रधान केन्द्र था। उनका उद्देश्य वैष्णवों का संस्थाबद्ध रूप में संघटन था। वैष्णव मत के अनुसार उन्होंने ब्रह्मसूत्रों की एक टीका लिखी थी।

उनका कृतित्व

रामानुज का जीवन बहुमुखी था और उनका कार्य क्षेत्र व्यापक था। फिर भी अपने मत और ग्रंथों का प्रचार करने का उन्होंने स्थायी प्रबंध करने में सफलता प्राप्त की। अद्वैतवादियों से, जो सर्वसाधारण में मायावादी कहलाते थे, उनका निरन्तर वादविवाद और शास्त्रार्थ चलता रहता था। जैनों और शैवों तक से उनका मतविरोध था। उनके सतत् प्रयत्नों के फलस्वरूप वैष्णव धर्म की नींव मजबूत हो गई और उसने स्थायी रूप धारण कर लिया।

रामानुज, एक अर्थ में, सुधारक थे। उनकी धारणा थी कि "समाज में पुरुष अथवा स्त्री की चाहे जो भी स्थिति हो, परमात्मा के निकट सब समान हैं, शर्त यह है कि वे सत्-जीवन का पालन करते हों।"

चोलों से त्रस्त होकर रामानुज को मैसूर में भाग कर शरण

* जो आचार्य होते थे वे अलवारों के सन्देश के अनुसार कार्य करते थे—वस्तुतः उन्हीं के कार्य को आगे बढ़ाते थे। अलवार देवता तो नहीं, लेकिन साधारण मानवों से बहुत ऊँचे प्रतिष्ठित थे। प्रथम वैष्णव आचार्य नाथमुनि हुए। रामानुज सातवें आचार्य थे। उनके जीवन के विस्तृत विवरण के लिए डा० एस० के० आयंगर कृत एन्शेन्ट इन्डिया के बारहवें परिच्छेद को देखिए। एस० के० आयंगर और टी० राजगोपालाचार्य लिखित श्री रामानुजाचार्य भी देखिए।

लेनी पड़ी। वहाँ के होयसाल राजा को उन्होंने वैष्णव धर्म में दीक्षित किया और इस प्रकार मैसूर में वैष्णव धर्म के विकास की भूमि तैयार कर दी।

माधव

तीसरे महान् आचार्य जिन्होंने एक नये सम्प्रदाय को जन्म दिया माधवाचार्य थे। उन्होंने द्वैत दर्शन को पुष्ट किया। दक्षिण कन्नड़ के उदिपी नामक स्थान के वे निवासी थे। ११९९ में उनका जन्म हुआ था। वे केवल ब्राह्मणों को सम्बोधित करते थे और उनके अनुयायी माधव कहलाते हैं। रामानुज की भाँति उन्होंने भी ब्रह्म-सूत्रों और गीता की टीकाएँ लिखी थीं, लेकिन उनमें और रामानुज के भाष्यों में अन्तर है। वे विष्णु के उपासक थे और शिव को कोई महत्व नहीं देते थे।

परिशिष्ट

अनुक्रमणिका

लगभग ३०००—२००० ईसा पूर्व	सप्तसिन्धु सभ्यता का काल जिस का सम्भावित प्रारंभ आर्यों के आक्रमण से माना जाता है।
,, १४०० ईसा पूर्व	बोथाज़कोई अभिलेख।
,, १२०० ईसा पूर्व	ऋग्वेद का काल (निम्नतर सीमा)।
,, ८००—५०० ईसा पूर्व	उपनिषद् काल।
,, ६०० ईसा पूर्व	धार्मिक उत्थान।
५९९—५२७ ईसा पूर्व	महावीर का जीवन-काल।
४८७ (या ४८३) ईसा पूर्व	भगवान् बुद्ध का निर्वाण—प्रथम बौद्ध परिषद्।
लगभग ६००—३२१ ईसा पूर्व	शिशुनाग और नन्दों की छत्रछाया में मगध का उत्थान।
,, ६००—२०० ईसा पूर्व	सूत्रों का रचना-काल।
{ ५१९ ईसा पूर्व	बिम्बसार का राज्यारोहण।
{ ४९१ ईसा पूर्व	अजातशत्रु का राज्यारोहण (पाटलिपुत्र का निर्माण)।
५५८—५३९ ईसा पूर्व	फ़ारस का साइरस महान्।
५२२—४८६ ईसा पूर्व	फ़ारस पर दारा का शासन, उसकी पंजाब-विजय और ईसा पूर्व ५१८ के लगभग सिंध की घाटी पर प्रभुत्व।
लगभग ३५० ईसा पूर्व	पाणिनी का सम्भावित काल।
३२८—३२७ ईसा पूर्व	हिन्दू कुश और परोपनीसदाई पर सिकन्दर के आक्रमण।

३२६ ईसा पूर्व	जुलाई (?)—हाइदसपेस का युद्ध। सितम्बर—व्यास से सिकन्दर का पीछे हटना।
३२५ ईसा पूर्व	सिकन्दर की भारत से वापसी
३२३ ईसा पूर्व	सिकन्दर की मृत्यु।
३२२—३२१ ईसा पूर्व	नन्दों का अन्त और चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण—मौर्यवंश का प्रारम्भ।
३१७ ईसा पूर्व	मैसीडोनियन शासन का भारत में पूर्णान्त।
लगभग ३०५ ईसा पूर्व	सेल्युकस निकेटर पर चन्द्रगुप्त की विजय—भारत-पार के प्रान्तों का मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित होना।
,, ३०२ ईसा पूर्व	मैगस्थनीज पाटलिपुत्र में।
,, ३०० ईसा पूर्व	अर्थशास्त्र की रचना का संभावित काल।
,, २९८ ईसा पूर्व	चन्द्रगुप्त के शासन का अन्त। भद्रबाहु के साथ उसका मैसूर की ओर अभियान।
२९८—२७३ ईसा पूर्व	बिन्दुसार का शासन-काल।
२७४—२७३ ईसा पूर्व	अशोक का राज्यारोहण।
२७०—२६९ ईसा पूर्व	अशोक का राज्याभिषेक।
२६२ ईसा पूर्व	कलिंग-विजय।
२६० ईसा पूर्व	प्रथम शिलालेख प्रज्ञापित।
२५८—२५७ ईसा पूर्व	(?) चौदहवाँ शिलालेख प्रज्ञापित।
२५३ ईसा पूर्व	(?) बौद्ध संघों की पहली महासमिति का आयोजन—पाली के धर्म-ग्रंथों का रचना-कार्य सम्पूर्ण।
लगभग २५० ईसा पूर्व	बौद्ध स्थापत्य का प्रारम्भिक काल।
२३७—२३६ ईसा पूर्व	अशोक की मृत्यु।
लगभग २५०—२४८ ईसा पूर्व	सेल्यकिड के विरुद्ध बैक्ट्रिया और पार्थिया का विद्रोह।

लगभग २१०—२०० ईसा पूर्व	आंध्र-सातवाहन राज्य की स्थापना। —अमरावती के स्तूपों आदि का निर्माण-काल।
२०८ ईसा पूर्व	सीरिया के अन्तियोक महान् का भारत पर आक्रमण।
लगभग १९० ईसा पूर्व	देमित्रियस(बैक्ट्रियावासी) की पंजाब और सिंध के भागों पर विजय।
,, १८४ ईसा पूर्व	मौर्यों का अन्त और पुष्यमित्र शुङ्ग का उत्थान।
१८४-७२ ईसा पूर्व	शुंगों का शासन-काल।
लगभग १७५—१६१ ईसा पूर्व	युक्रेतिदे की काबुल की घाटी पर विजय।
	मिनान्द्र का भारत पर आक्रमण (?) काबुल की घाटी और पंजाब में प्रतिद्वन्द्वी राज्यों की स्थापना।
,, १६९ ईसा पूर्व	कलिंग के खारवेल का शासनारम्भ।
,, १६५ ईसा पूर्व	बैक्ट्रिया पर शकों का आधिपत्य।
,, १५६ ईसा पूर्व	खारवेल का हाथी गुम्फ अभिलेख।
,, १५० ईसा पूर्व	व्याकरणाचार्य पतंजलि का काल।
,, १४०-१२० ईसा पूर्व	हेरात और सीस्तान पर शकों का आधिपत्य।
,, १०० ईसा पूर्व	शकों द्वारा पार्थियनों का प्रभुत्व स्वीकार करना।
,, ९० ईसा पूर्व	सम्राट् भागभद्र के दरबार में हेलियोदोरस के राजदूत का आगमन।
,, ७५ ईसा पूर्व	सिंध की घाटी के निचले भाग (शक द्वीप) पर साइथियनों का आधिपत्य।
	महाराजाधिराज योगा की तक्षशिला और पंजाब पर, यूनानियों के विरुद्ध, विजय।

	शक क्षत्रपों और पह्लव पर शासन का पंजाब में प्रारम्भ।
७२ ईसा पूर्व	शुंगों का अन्त।
७२-२७ ईसा पूर्व	कण्वों का शासन।
५८ ईसा पूर्व	विक्रम संवत् की स्थापना—साइ-थियनों का बहिष्कार।
लगभग ५० ईसा पूर्व	शागल और यूनानी शासन का पूर्णान्त।
,, ५०-४० ईसा पूर्व	आज़ेज प्रथम का शासन
,, ४० ईसा पूर्व	यूनानी शासन के अन्तिम अवशेषों का अन्त।
,, १५ ईसवी	हा एचि जाति का कुषाण साम्राज्य में पाँव जमाना।
,, १९-४५ ईसवी	गोन्दोफनीस का शासन—सन्त थामस के मिशन का भारत आना।
,, ५०-४०० ईसवी	भारतीय प्लास्टिक कला का अभ्युदय
,, ५२-७९ ईसवी	कुजुलकद्फिस का शासन
,, ७८ ईसवी	शक संवत् की स्थापना-कद्फिस द्वितीय का राज्यारोहण।
७८-१२४ ईसवी	नहपाण (शक) का शासन।
लगभग ९० ईसवी	'पेरीपस आफ दि इन्डियन ओशन' लिखी गई।
,, ९१-११० ईसवी	चीनियों से कुषाणों का युद्ध।
,, १०० ईसवी	प्रारम्भिक चोलों का उदय (करि-काल का युग)।
,, १-३०० ईसवी	तृतीय तामिल संघम-काल।
,, १०६-५८ ईसवी	गौतमी पुत्र और वशिष्टि पुत्र का शासन—आंध्र सातवाहन सत्ता का पुनःअभ्युत्थान।
,, १२५ ईसवी	कनिष्क का राज्यारोहण।
,, १२८ ईसवी	वशिष्टि पुत्र श्री पुलुमयी का राज्यारोहण।

१२८-२६ ईसवी	कनिष्क संवत् की स्थापना।
१३० ईसवी	रुद्रदमन का राज्यारोहण।
लगभग १४० ईसवी	चष्टन का उत्थान।
,, १५० ईसवी	महान् क्षत्रप रुद्रदमन का सुप्रसिद्ध गिरनार अभिलेख—गांधार कला का अभ्युदय।
१५१-५२ ईसवी	कनिष्क की मृत्यु।
१५६-५७ ईसवी	वशिष्क की मृत्यु।
१६८ ईसवी	हुविष्क के छत्रधारी शासन का प्रारम्भ।
लगभग १७३-२०२ ईसवी	यज्ञश्री सातवाहन का शासन।
१६६-७ ईसवी	वासुदेव का शासनारम्भ।
लगभग २०० ईसवी	सातवाहनों के हाथ से महाराष्ट्र का निकल जाना।
	अजन्ता के प्रारम्भिक भित्ति-चित्रों का काल।
	नागार्जुन का अभ्युदय-काल।
,, २००-३०० ईसवी	आभीरों, प्रारम्भिक पल्लवों आदि का अभ्युत्थान।
,, २२७ ईसवी	वासुदेव कुषाण का शासनान्त।
,, २३० ईसवी	सातवाहनों का अवसान—कुषाणों और पार्थियनों का भी, साथ ही साथ, अवसान।
,, २४८-८४ ईसवी	वाकाटक वंश के संस्थापक विंध्य शक्ति का शासन।
,, २५० ईसवी	कांची में पल्लव शक्ति का अभ्युत्थान।
,, २८४-३४४ ईसवी	प्रवरसेन प्रथम, वाकाटक, का शासन।
,, ३०० ईसवी	भारशिव वंश भावनाग का शासन।
,, ३००-४५० ईसवी	ब्राह्मणत्व का पुनर्जागरण।
३१९-२० ईसवी	गुप्त संवत् की स्थापना।

		चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा गुप्त साम्राज्य की स्थापना।
लगभग ३३०	ईसवी	समुद्र गुप्त का राज्यारोहण। वसुबन्धु का अभ्युदय-काल।
,, ३५०	ईसवी	समुद्रगुप्त की पूर्ण समाप्ति।
,, ३५२-७६	ईसवी	सिंहल के राजा मेघवर्ण का काल जिन्होंने लगभग ३६० ईसवी में समुद्र गुप्त के दरबार में अपना राजदूत भेजा था।
,, ३७५-४१३	ईसवी	चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन।
,, ३७५-६५	ईसवी	रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक का शासन।
,, ३८८-८६	ईसवी	पश्चिमी क्षत्रपों पर चन्द्रगुप्त की अन्तिम रूप से विजय।
४०५-११	ईसवी	चीनी यात्री फाह्यान भारत में।
४१५-५५	ईसवी	कुमार गुप्त का शासन—कालिदास का काल।
लगभग ४२०	ईसवी	हूण आक्सस नदी को पार करते हैं।
,, ४५०	ईसवी	गुप्तों का पुष्यमित्र से युद्ध।
४५४	ईसवी	वलभी में जैन महासमिति।
४५५-४६७	ईसवी	स्कन्दगुप्त का शासन।
लगभग ४५८	ईसवी	प्रथम हूण आक्रमण।
४६७-६३	ईसवी	पुर गुप्त और नरसिंह गुप्त का शासन।
४७६	ईसवी	सुप्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट का जन्म।
४७६-७	ईसवी	कुमार गुप्त की मृत्यु।
लगभग ४८०-६०	ईसवी	गुप्त साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना प्रारम्भ।
४८४	ईसवी	फारस के राजा फीरोज़ की हूणों द्वारा पराजय।
लगभग ४६०	ईसवी	तोरमाण के नेतृत्व में हूणों का फिर से आक्रमण आरम्भ।

		बलभी में मैतृकों के राजवंश का प्रारम्भ।
लगभग ५००	ईसवी	अमरसिंह (कोषकार)।
,, ५१०	ईसवी	तोरमाण का उत्तराधिकारी मिहिर गुल।
		परवर्ती गुप्तों का शासनारम्भ।
,, ५२०	ईसवी	चीनी यात्री शुङ्गयुन का भारत आगमन।
,, ५३३	ईसवी	यशोधर्मन द्वारा मिहिर गुल की पराजय।
,, ५३३-४०	ईसवी	मिहिर गुल काश्मीर में।
,, ५३५-७२०	ईसवी	मालवा के परवर्ती गुप्त राजा।
,, ५५०	ईसवी	बादामी के प्रारम्भिक चालुक्यों (पुलकेशी प्रथम) का उत्थान।
,, ५५४	ईसवी	ईषान वर्मन मौखरी का अभ्युदय-काल।
,, ५६३-७	ईसवी	आक्सस की घाटी में हूण शक्ति का सर्वांशतः नाश।
,, ५६६	ईसवी	बनवासो के कदम्ब राज्य का अवसान।
५६७	ईसवी	कीर्तिवर्मन चालुक्य का राज्यरोहण।
लगभग ५७५	ईसवी	कन्नौज के मौखरियों का अभ्युदय-काल—वाराहमिहिर का काल।
५९०	ईसवी	सिंहविष्णु के नेतृत्व में महान् पल्लव वंश का उत्थान।
,, ६००	ईसवी	ह्वुएन्त्सांग का जन्म।
,, ६००-३०	ईसवी	महेन्द्रवर्मन (दक्षिण भारत में गुफा-मन्दिरों का काल)।
६०४	ईसवी	थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन की मृत्यु।
६०६	ईसवी	थानेश्वर के राज्यवर्धन; हर्षवर्धन का राज्यारोहण (हर्ष-संवत्)—कन्नौज और थानेश्वरका सम्मिलन।
६०६-१२	ईसवी	हर्ष की दिग्विजय।

६०८	ईसवी	पुलकेशी द्वितीय चालुक्य का राज्यारोहण।
६१०	ईसवी	पुलकेशी द्वितीय द्वारा वेंगी पर विजय।
लगभग ६१५	ईसवी	वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना जो १०७० ईसवी तक चला।
,, ६२०	ईसवी	पुलकेशी द्वितीय द्वारा हर्ष का पीछे हटने के लिए बाध्य होना।
६२०-४०	ईसवी	बलभी के ध्रुवसेन का शासन।
६२५	ईसवी	फारस के राजदूत की पुलकेशी के दरबार में आने की तिथि।
६२९-४५	ईसवी	हुएन्त्सांग का भारत में भ्रमण-काल।
लगभग ६३०	ईसवी	नरसिंहवर्मन पल्लव का राज्यारोहण।
,, ६३५	ईसवी	बलभी पर हर्ष की विजय—अप्पर आदि के नेतृत्व में शैव मत का पुनरुत्थान।
,, ६४१	ईसवी	हर्ष के राजदूत का चीन गमन।
६४२	ईसवी	पुलकेशी द्वितीय की मृत्यु—उसके राज्य में तेरह वर्षों का रिक्त,—शून्य काल, नेपाल के अंशुवर्मन की मृत्यु।
लगभग ६४७	ईसवी	हर्ष की मृत्यु।
,, ६४७-८	ईसवी	कन्नौज के अर्जुन के राज्य का उसके हाथ से छिन जाना, चीनी आदि द्वारा उसकी पराजय, हुएन्त्सांग के यात्रा-वर्णनों का प्रकाशन।
लगभग ६५५	ईसवी	विक्रमादित्य प्रथम के नेतृत्व में चालुक्य सत्ता की पुनर्स्थापना।
,, ६५०-७५०	ईसवी	राजपूतों का उत्थान।
,, ६६८	ईसवी	नरसिंह वर्मन पल्लव की मृत्यु।

	मामल्लपुरम के शिला-मन्दिरों (रथों) का काल ।
लगभग ६७४ ईसवी	पल्लवों पर विक्रमादित्य की विजय-कांची पर उसका आधिपत्य ।
,, ६९०-७१५ ईसवी	नरसिंह वर्मन द्वितीय पल्लव का शासन ।
,, ७०० ईसवी	कुमारिल भट्ट ।
७१२ ईसवी	अरबों की सिंध विजय ।
लगभग ७१५-८० ईसवी	नन्दी वर्मन पल्लवमल्ल का शासन ।
,, ७३० ईसवी	कन्नौज के राजा यशोवर्मन, भवभूति का काल, बप्पा रावल का उत्थान ।
,, ७३०-४० ईसवी	बंगाल के पाल—गोपाल—का अभ्युत्थान ।
७४१ ईसवी	विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य के हाथों नन्दीवर्मन पल्लव की पराजय ।
लगभग ७४६ ईसवी	धनराज द्वारा अन्हिलवाड़ शक्ति की स्थापना ।
७५३ ईसवी	प्रारम्भिक चालुक्यों का अवसान, मालखेद के राष्ट्रकूटोंका अभ्युत्थान ।
लगभग ७५३-७५ ईसवी	दन्तिदुर्ग और कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूट का शासन, एलोरा के कैलाश-मन्दिर का निर्माण ।
,, ७५६ ईसवी	गुजरात के छबदास द्वारा अन्हिलवाड़ की स्थापना ।
७७६ ईसवी	गंग राजा श्री पुरुष का शासनान्त ।
७७६-८१५ ईसवी	गंग राजा शिवमार का शासन ।
लगभग ७७६-८१५ ईसवी	राष्ट्रकूट वंश के ध्रुव और गोविन्द तृतीय का शासन ।
,, ७८८ ईसवी	शंकराचार्य की परम्परा-सम्मत जन्म तिथि ।
लगभग ८०० ईसवी	बंगाल के धर्म पाल ।

८१५ ईसवी	राष्ट्रकूट अमोघवर्ष का राज्यारोहण।
८१५-८५४ ईसवी	बंगाल के देवपाल का शासन-काल।
लगभग ८१६ ईसवी	कन्नौज में गुर्जर प्रतिहारों की सत्ता स्थापित।
लगभग ८२५ ईसवी	वारागुण पांड्य द्वारा पल्लव प्रदेश पर आक्रमण।
,, ८३०-५४ ईसवी	पल्लव राजा तेलारु के नन्दी का शासन।
,, ८४०-९० ईसवी	कन्नौज के मिहिर भोज।
,, ८५० ईसवी	आसाम और कलिंग पर देवपाल की विजय।
८८०-९११ ईसवी	राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय का शासन।
लगभग ८९०-९०८ ईसवी	कन्नौज के महेन्द्रपाल का शासन।
,, ९०० ईसवी	आदित्य चोल द्वारा अपराजित का पराजित होना—पल्लवों का पतन तथा विजयालय (तंजोर के चोल वंश) का उत्थान।
९१०-४० ईसवी	कन्नौज के महीपाल का शासन।
९१७ ईसवी	कन्नौज पर राष्ट्रकूटों का आधिपत्य।
९०६-७-९५२-५३ ईसवी	परान्तक चोल का शासन।
९२५-५० ईसवी	यशोवर्मन चन्देल।
९४९ ईसवी	तक्कोलम का युद्ध—कांची पर राष्ट्रकूटों का अभियान।
९५०-९९ ईसवी	चन्देल नरेश धांगा का शासन।
९६१ ईसवी	गुजरात के सोलंकी वंश की मूलराज द्वारा स्थापना।
९७३ ईसवी	राष्ट्रकूटों का अन्त; कल्याणी के परवर्ती चालुक्यों का अभ्युत्थान।
९७४-९७ ईसवी	मुंज राजा, धार के परमार।
लगभग ९७८-१०३० ईसवी	बंगाल के महीपाल का शासन काल।

९८३ ईसवी — श्रावण बेलगोला में गौतम की प्रस्तर मूर्ति की स्थापना।

९८५ ईसवी — चोल राजराजा महान् का राज्यारोहण।

९९१ ईसवी — मुसलमानों के विरुद्ध राजपूतों का प्रथम राज्य-संघ।

९९७-१००८ ईसवी — कल्याणी के चालुक्य राजा सत्याश्रय का शासन।

९९९-१०२५ ईसवी — चन्देल राजा गण्ड का शासन।

लगभग १००० ईसवी — तंजोर में वृहदेश्वर के मन्दिर का निर्माण—मैसूर के गंग राज्य पर चोलों की विजय।

१००२ ईसवी — सुलतान गज़नी के विरुद्ध राजपूतों का दूसरा संघ-राज्य।

१००४ ईसवी — गंग-शक्ति का अवसान।

लगभग १००७-८ ईसवी — राजराजा चोल द्वारा चालुक्य प्रदेश का रौंदा जाना।

१०१३ ईसवी — राजेन्द्र चोल का शासनारम्भ।

१०१५-४० ईसवी — गांगेयदेव कलचुरी का शासन।

१०१८-६० ईसवी — मालवा के भोज का शासन।

१०१९ ईसवी — महमूद ग़ज़नी द्वारा कन्नौज पर आक्रमण।

लगभग १०२१-२५ ईसवी — गंगा के तट तक चोलों का उत्तरी अभियान।

,, १०२२-६४ ईसवी — गुजरात का भीमदेव सोलंकी।

,, १०४०-७० ईसवी — कर्णदेव कलचुरी का शासन।

,, १०४९-११०० ईसवी — कीर्तिवर्मन चन्देल। प्रबोध चन्द्रोदय का रचना काल (लगभग १०६५ ईसवी)।

लगभग १०५० ईसवी — पश्चिमी बंगाल में सामन्तसेन द्वारा सेन शक्ति की स्थापना।

१०५२	ईसवी	कोप्पम का युद्ध—चोलों पर चालुक्यों की विजय।
१०६८	ईसवी	सोमेश्वर आहमल्ल चालुक्य की मृत्यु।
१०७०-१११८	ईसवी	कुलोत्तुंग चोल का शासन।
१०७६-११२६	ईसवी	विक्रमादित्य देव चालुक्य का शासन—विल्हण और विज्ञानेश्वर का अभ्युदय-काल।
लगभग १०६०	ईसवी	कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार राज वंश का अवसान—गहड़वालों का अभ्युत्थान।
१०६३-११४३	ईसवी	गुजरात के सिद्धराज का काल। हेमचन्द्र का अभ्युदय।
१०६५-६६	ईसवी	कलिंग पर प्रथम चोल आक्रमण।
१०६७-११५६	ईसवी	बंगाल के विजयसेन का शासन-काल।
लगभग ११००	ईसवी	बल्लोलसेन—जयदेव का अभ्युदय।
,, ११००-४१	ईसवी	बिट्टीदेव होयसाल, विष्णुवर्धन;—रामानुज का अभ्युदय;—बेलूर हलेबिद् के मन्दिरों का निर्माण।
,, १११२	ईसवी	कलिंग पर दूसरा चोल आक्रमण।
लगभग १११४-५५	ईसवी	कन्नौज के गोविन्द चन्द्र का शासन-काल।
११४३-७३	ईसवी	गुजरात के कुमारपाल का शासन।
११५१-८२	ईसवी	चालुक्य राज्य पर कलचुरियों का आधिपत्य—बिज्जल और वासव का शासन—लिंगायतों का अभ्युत्थान।
लगभग ११६२	ईसवी	वारंगल के प्रतापरुद्र काकातीय का काल।
११७३	ईसवी	गुजरात के कुमारपाल की मृत्यु।
लगभग ११८०	ईसवी	पाल सत्ता का लोप।
११८५	ईसवी	बल्लाल सेन की मृत्यु।

११८७-६१ ईसवी	भिल्लम द्वारा यादवों के प्रभुत्व की स्थापना।
११८७-६१ ईसवी	देवगिरि के भिल्लम यादव का शासन-काल।
११६१-१२१० ईसवी	जैतुगी यादव का शासन।
११६२-३ ईसवी	पृथ्वीराज का पतन—दिल्ली पर मुसलमानों का आधिपत्य।
११६४ ईसवी	जयचन्द्र का पतन।
११६७-६६ ईसवी	मुसलमानों द्वारा पाल और सेन सत्ता का विनाश।
लगभग १२०० ईसवी	चालुक्य सत्ता का अवसान।
,, १२०५ ईसवी	मुसलमानों द्वारा लक्ष्मण सेन की पराजय।
१२१६-४८ ईसवी	राजराजा तृतीय का काल—चोलों का ह्रास।
१२१०-४७ ईसवी	सिंघन यादव का शासन।
१२२०-५४ ईसवी	नरसिंह द्वितीय और सोमेश्वर के नेतृत्व में होयसालों की महानता-प्राप्ति।
१२१६-३८ ईसवी	सुंदर पांड्य प्रथम के द्वारा पांड्यों का पुनरुत्थान।
१२२०-३५ ईसवी	नरसिंह द्वितीय होयसाल।
१२३३-५४ ईसवी	सोमेश्वर होयसाल का शासन काल।
१२३८-५५ ईसवी	मारवर्मन सुन्दर पांड्य द्वितीय का शासन-काल।
१२५१-६८ ईसवी	जातवर्मन सुन्दर पांड्य का शासन।
१२६८-१३११ ईसवी	मारवर्मन कुलशेखर पांड्य का शासन।
लगभग १२७५ ईसवी	वारंगल की रानी रुद्रम्बा—मार्को पोलो का तट पर आकर लगना।

१२६४ ईसवी	देवगिरि पर अलाउद्दीन का अभियान।
१२७१-१३०९ ईसवी	रामचन्द्र यादव—हेमाद्रि-काल।
१३०८-११ ईसवी	मलिक काफूर का दक्षिणी अभियान—द्वारसमुद्र और मदुरा की लूटपाट।
१३१८ ईसवी	यादव वंश का अवसान।
लगभग १३३५-७८ ईसवी	मदुरा में स्वतंत्र सुलतानों की स्थापना।
लगभग १३४६ ईसवी	होयसालों का अवसान।
१३३६ ईसवी	विजय नगर की स्थापना।
लगभग १३५० ईसवी	माधव और सायन का अभ्युदय-काल।